प्रकाशक—

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर,

जबलपुर








मुद्रक—

पं० रामभरोस मालवीय

अभ्युदय प्रेस, प्रयाग।

प्रकाशक का निवेदन ।



"मराठे और अङ्गरेज़" शारदा-पुस्तक-माला का छठवाँ ग्रन्थ है और मराठी पत्र "केसरी" तथा "मराठा" के सम्पादक श्रीयुत नरसिंह चिंतामण केलकर, बी० ए०, एल-एल० बी० लिखित "मराठे व इंग्रज" नामक मराठी पुस्तक का अनुवाद है। हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का अधिकार देने की उदारता के लिए हम लेखक महोदय के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक की छपाई आदि का ख़र्च इस प्रकार है—

१. लेखक का पुरस्कार तथा सम्मति-पुरस्कार	३५४)
२. प्रेस का बिल, छपाई, बँधाई, रेल-किराया आदि	७३२)
३. १००० प्रतियों के लिए ३७ रीम काग़ज़ के दाम	४२७॥)
४. कर्मचारियों का वेतन	१०१५≋)॥।
५. विज्ञापन का ख़र्च	७३॥।)
	२,६३२॥≋)॥।

यह हुई इस पुस्तक पर ख़र्च की गई पूरी रक़म। मूल्य निश्चय करने में, अभी इसमें, पुस्तक के मूल्य की ¼ छूट और जोड़ी जानी चाहिए। "मराठे और अङ्गरेज़" की कुल १००० प्रतियाँ छपाई गई हैं जिसमें से ७५ प्रतियाँ अनुवादक

महाशय को उपहार में दी जावेंगी। शेष ६२५ प्रतियों से ऊपर की रक़म वसूल करना है। इस प्रकार एक प्रति का असली मूल्य २॥।~)॥ होता है। इस मूल्य में, इसी मूल्य का ¼ जोड़ देने से लागत का मूल्य ३॥।)॥ होता है। किन्तु पुस्तक के आकार को देखते हुए यह मूल्य ग्राहकों को कदाचित् अधिक मालूम होगा। इसलिए यह निश्चय किया गया है कि लेखक का पुरस्कार आगामी संस्करण में वसूल किया जाय और ग्रन्थ का मूल्य, कुछ घाटा सहकर, ३) रु० से अधिक न रखा जाय। इसी निश्चय के अनुसार एक प्रति का मूल्य ३) रखा गया है और पुरस्कार छोड़कर लागत का हिसाब इस प्रकार है:—

१. पुरस्कार की रक़म छोड़कर ऊपर
लिखी शेष चार मदों का ख़र्च २२७८≋)॥।
२. स्थायी ग्राहकों को दी जाने वाली छूट ६६३॥।)

२,९७२≋)॥।

लेखक को उपहार में दी जानेवाली ७५ प्रतियों को छोड़कर शेष ६२५ प्रतियों से २७७५) रु० की आय होगी। इस प्रकार आप देख सकते हैं कि संस्था को फिर भी कुछ घाटा सहना पड़ेगा। इसके सिवा समालोचनार्थ भेजी जाने वाली प्रतियों का मूल्य, प्रचार का ख़र्च आदि अलग है। आशा है, पाठकों को यह मूल्य किसी प्रकार अधिक न जँचेगा।



उपोद्घात ।

महाराष्ट्र का केवल इतिहास समझानेवाली बहुतसी पुस्तकें लिखी गई हैं; परन्तु इतिहास विषय पर टीकात्मक ग्रंथ निर्माण करना बहुत अधिक महत्त्व का कार्य है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने पूर्ण किया है। अतः पाठकगण आपके कृतज्ञ हैं। ऐसे ग्रंथों में यदि स्थल, काल और व्यक्ति-निर्देश में कुछ भूल हो जाय, तो भी उससे वैगुण्य नहीं आता, क्योंकि वे बातें ऐसे ग्रंथों में अधिक महत्त्व की नहीं मानी जातीं। इनमें तो केवल यही देखना चाहिए कि लेखक ने साधक-बाधक प्रमाणों द्वारा अपना कथन कहाँ तक सिद्ध किया है। और इस दृष्टि से देखनेवालों को श्रीयुत केलकर महोदय की चर्चा सहेतुक और समर्पक है यह मानना पड़ेगी। ग्रंथकार की इस चर्चा का तात्पर्य यही है कि मराठों का राज्य अंगरेज़ों ने क्यों और कैसे लिया। वर्तमान काल में इस विषय का महत्त्व शुद्ध ऐतिहासिक है; परन्तु इसका विचार करने से यह हमें बहुत कुछ बोध देनेवाला भी है। ऐसे विषय पर, मुझसे चार शब्द लिखाने की ग्रंथकार की इच्छा होने पर, मैं उनके इच्छानुसार यह उपोद्घात लिख रहा हूँ।

इस पुस्तक के देखने पर जो पहली बात मन में आती है, वह यह है कि यह जो वाङ्मय रूप से शतवर्षीय श्राद्ध किया गया है वह अंतरित श्राद्ध है। क्योंकि शतवर्षीयश्राद्ध

की तिथि (अर्थात् तारीख़) ३१ दिसम्बर सन् १६०२ है। इसी तारीख़ को मराठा साम्राज्य के स्वातन्त्र्य का लोप हुए सा वर्ष हुए हैं। सन् १८०२ के अन्तिम दिनों ने स्वराज्य के स्वातन्त्र्य का अंत देखा। सर्व-स्वतन्त्र मराठाशाही का नाम पहले से "शिवशाही" चला आता था। यह शब्द कैसा ही साधारण क्यों न हो; पर अर्थ-पूर्ण और व्यापक अवश्य है। इस "शिवशाही" के आज्ञानुसार चलकर उसकी सार-संभाल करने का जिसका अधिकार परंपरागत था उस बाजीराव पेशवा ने सन् १८०२ के दिसम्बर मास की ३१ वीं तारीख को अंगरेज़ों से वसई की सन्धि कर उनका आश्रय और अधीनता स्वीकार की और इस प्रकार शिवशाही के स्वातन्त्र्य-सौभाग्य का कुंकुम-तिलक उसी के नादान पुत्र ने सन्धि की चिन्दी से पोंछ डाला।

सन् १८१८ में मराठी राज्य नष्ट हुआ, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यों तो अभी तक दो ढाई करोड़ की आमदनी का मराठी राज्य मौजूद है; परन्तु इस राज्य को अब कोई भी शिवशाही का भाग नहीं मानता बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य का ही अङ्ग मानता है। पेशवाई नष्ट होने के कारण बहुत से श्रीमन्त घराने भी उसके साथ साथ नष्ट हुए और हज़ारों लोगों की जीविका मारी गई। यद्यपि यह बात ठीक नहीं हुई तथापि नागपुर का राज्य नष्ट होने की अपेक्षा पेशवाई नष्ट होने की बात का अधिक मूल्य नहीं है। बाजीराव ने अङ्गरेज़ों से यदि सरलता पूर्वक व्यवहार किया होता तो इतर मराठी राज्यों के समान उसका राज्य शायद आज तक बना रहता; परन्तु शिवशाही

की दृष्टि से तो उसका मूल्य कुछ भी न होता।

शिवशाही का स्मरण १९०२ में हो या १९१८ में हो और वह शत सांवत्सरिक हो या वार्षिक अथवा दैनिक हो; पर जब जब यह स्मरण, महाराष्ट्र में उत्पन्न किसी भी मनुष्य को होता है तब तब वह खेद और आश्चर्य से अपने मन में यह प्रश्न करता है कि यह गतकालीन राज्य-वैभव इतने थोड़े समय में कैसे नष्ट हो गया? विशाल-बुद्धि-संपन्न और महा-पराक्रमी बड़े बड़े सरदार शिवशाही में थे, क्या वे सब अदूर-दर्शी ही थे? अङ्गरेज़ों के आक्रमण से स्वराज्य बचाने का उपाय किसीने पहले से क्यों न योजित कर रखा? परद्वीप से मुठीभर अङ्गरेज़ों ने आकर शिवशाही किस तरह पादा-क्रान्त कर डाली?

इन प्रश्नों के उत्तर आज तक अनेक लोगों ने दिये हैं। उनमें सब ही ठीक नहीं कहे जा सकते। कुछ तो बिल्कुल ही अप्रयोजनीय हैं। हाँ, बहुत उत्तरों में सत्य का थोड़ा बहुत अंश अवश्य निर्विवाद रूप से है। ऐसे उत्तरों की इस ग्रंथ में सविस्तर टीका की गई है; परन्तु विषय का स्वरूप पाठकों के ध्यान में और भी अच्छी तरह से लाने के लिए उनका वर्णन यदि भिन्न रीति से यहाँ किया जाय तो उससे श्री-युक्त केलकर महोदय की टीका की पुष्टि और भी अधिक होगी।

जिन मराठों की कर्तव्यशीलता से एक दिन महाराष्ट्र महत्तर राष्ट्र बन गया था, और मराठे लोग सम्पूर्ण भारत के लिए अजेय थे उन्हीं मराठों को, जब कि अङ्गरेज़ों ने जीत लिया, तो यह स्पष्ट है कि अङ्गरेज़ों में जो राजकीय दुर्गुण

नहीं थे वे मराठों में जन्म-सिद्ध थे और वे असुविधा की परिस्थिति से भी जकड़े हुए थे। अब देखना है कि मराठों के दुर्गुण और वह परिस्थिति कौन सी थी।

मराठों में यदि कोई प्रमुख दुर्गुण कहा जा सकता है तो वह यह है कि उनमें प्रायः देशाभिमान का अभाव था। भारत में ही इस सद्गुण की उत्पत्ति बहुत कम होती है, तो वह महाराष्ट्रों के हिस्से में कहाँ से अधिक आ सकती है। सम्पूर्ण जगत् को प्राचीन काल से मालूम है कि हम भारतवासी ग़रीब और भोले होते हैं। चाहे कोई भी विदेशी हम पर चढ़ाई करे या हमारा राज्य छीने, पर जब तक वह हमारी ग्राम्य संस्था, धार्मिक विश्वास, रीतिरिवाज़ और वतन के अधिकारों में हाथ नहीं डालता तब तक वह कौन है और क्या करता है इस झगड़े में हम नहीं पड़ते। हमें यह तो मालूम है कि धार्मिक जगत् में पर-मत-असहिष्णुता एक दुर्गुण है; पर हम यह नहीं जानते कि राजनीतिक संसार में पर-चक्र-असहिष्णुता एक अमूल्य सद्गुण है। बहुत लोग समझते हैं कि शिवाजी से लेकर शाहू के शासन के प्रारंभ तक मराठों में देशाभिमान की वायु संचार करती थी; परन्तु हम इसे ठीक नहीं मानते। हमारी समझ में तो मराठों की उस वृत्ति को देशाभिमान के बदले राज्याभिमान कहना उचित होगा। क्योंकि महाराजा की सेना के जो मराठे मुसलमानों से लड़ते, उन्हींके भाई-बन्धु मुसलमानों की ओर से, एक निष्ठा से, महाराज की सेना से लड़ते थे। शाहू के समय में राज्य के दो विभाग हो जाने पर इस राज्याभिमान के भी दो भाग हो गये। शाहू महा-

राज के मरण के पश्चात् मराठी राज्य के और भी टुकड़े हुए और पेशवे, भोंसले, गायकवाड़, आंग्रे,प्रतिनिधि,सचिव, कोल्हापुर आदि राज्य उत्पन्न हुए और इन संस्थानों से सिंधिया, होलकर, पटवर्धन, रास्ते आदि अनेक सरंजाम निर्माण हुए जिससे उक्त राज्याभिमान के और भी छोटे छोटे टुकड़े होते होते अन्त में वह भी अदृश्य हो गया। यदि कहा जाय कि पेशवा के समय में मराठों में राज्याभिमान था तो उस समय पेशवाई के शत्रु निज़ामअली और हैदरअली के आश्रम में हज़ारों मराठे सरदार और ज़िलेदार थे जो पेशवा से लड़ने और उनकी हानि करने में ज़रा भी कसर नहीं करते थे। यदि यह कहा जाय कि पेशवाई के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को अभिमान था तो हम देखते हैं कि वे भी पेशवा से द्वेष करनेवाले जाट, रुहेले, राजपूत, अङ्गरेज़, फ्रेंच, आदि लोगों के आश्रय में रहकर पेशवा का अकल्याण करने में प्रवृत्त थे। ईस्ट इंडिया-कंपनी की वंबई की पैदल सेनाओं में पेशवाई की प्रजा कहलानेवाले मराठे ही थे और उनमें से हज़ारों ने पेशवा से युद्ध करते हुए प्राण दिये थे। इसके विरुद्ध अङ्गरेज़ों का देशाभिमान कितना प्रखर एवं जागृत था यह किसीसे छिपा नहीं है। एक अङ्गरेज़ डाक्टर ने बादशाह की लड़की को ओषधि देकर आराम किया। वह यदि चाहता तो बादशाह से लाख दो लाख रुपये पारितोषिक में ले लेता; परन्तु डाक्टर ने अपने निज के लिए कुछ न माँगकर यही माँगा कि मेरे देश के लोगों को व्यापारिक सुभीते दिये जायँ। इसी प्रकार मीरजाफर के मृत्यु-पत्र के कारण क्लाइव को जो धन मिला था उसका

उपयोग उसने अपने देश के सैनिक अफ़सरों के लाभ के ही अर्थ किया; परन्तु हमारे देश में इसके विरुद्ध होता है। खर्डा की लड़ाई के बाद सन्धि ठहराने के समय निज़ामअली ने नाना फड़नवीस को जो तीस हज़ार की आमदनी के गाँव दिये वे उन्होंने अपनी निज सम्पत्ति में शामिल कर लिये।

चार जनों का मिलकर एकाध संस्था चलाना या किसी काम को पूरा करना हमारे स्वभाव के बाहिर है। इसलिए काम यदि कोई ऐसा हमारे ऊपर आ पड़ता है तो उसे एक चित्त से हम नहीं चला सकते। मतभेद और दलबंदी होकर अन्त में झगड़े खड़े हो जाते हैं। और कभी कभी ये झगड़े बढ़कर कुछ का कुछ अनर्थ कर डालते हैं। यह बात जिस तरह आज के व्यवहार में दिखलाई पड़ती है, पहले के राज्य-कारभार में भी उसी प्रकार दिखलाई पड़ती है। जिस समय शिवाजी महाराज दिल्ली गये थे उस समय मोरोपंत पेशवा और अण्णाजीदत्तो सचिव को राज्य का कुल अधिकार सौंप गये थे। परन्तु उन दोनों में परस्पर मत्सर और द्वेष हो गया था जिसके कारण राज्य का सुव्यवस्थित चलना कठिन हो गया था। शिवाजी महाराज के दिल्ली से शीघ्र आजाने के कारण उस समय इन दोनों के झगड़े का कुछ अधिक बुरा परिणाम नहीं हुआ; परन्तु आगे जाकर संभाजी के समय में उसका बुरा फल प्रकट हुए बिना न रहा। राजाराम महाराज ने संताजी को मुख्य और धनाजी को द्वितीय सेनापति नियत कर सेना का सब कारभार उनके सुपुर्द किया था; परन्तु उनमें परस्पर अनबन हो गई और सन्ताजी मारा गया। इसी प्रकार शाहू के समय में एक चढ़ाई पर

सैन्यकर्ता और सेनापति भेजे गये थे। बस दोनों में झगड़ा हुआ और सैन्यकर्ता पर भयानक संकट आ पड़ा। प्रत्येक चढ़ाई के समय का पत्र-व्यवहार देखने से पता लगता है कि शायद ही कोई ऐसा विरला प्रसंग मिले जिसमें नीचे के अधिकारी या सरदार अपने मुख्य अधिकारी या सरदार से न झगड़े हों, उनसे छेड़-छाड न की हो और दंद-फंद न रचे हों। बारह भाई के कारस्थान का किस प्रकार शोर हुआ? नाना, बापू, मोरोबा और चिन्तों विठ्ठल आपस में किस प्रकार लड़े? और अन्त में दोनों ने अपना बदला चुकाने की हठ पकड़कर पेशवा का राज्य अङ्गरेज़ों के हाथ में देने के दंद-फंद किस तरह रचे यह किसी से छिपा नहीं है। यह बात नहीं है कि अङ्गरेज़ों में ऐसे झगड़े नहीं होते हैं; परन्तु उन्हें समूह-रूप से काम करने का अभ्यास होने के कारण उनके झगड़ों से यह भय नहीं होता कि वे बढ़कर उद्दिष्ट कार्य का नाश कर देंगे।

हमारे द्वारा समूह-रूप से किये हुए कार्य सफल न होने के कारण हमारा राज्य-तंत्र पाश्चात्यों के समान संस्था-प्रधान नहीं हो सकता और इसलिए वह व्यक्ति-प्रधान ही होता है, अर्थात् हमारी प्रकृति को यही सुहाता है कि कोई बुद्धिमान्, उत्साही, निग्रही और प्रबल व्यक्ति आगे बढ़कर मुख्याधिकारी बने और शेष सब उसकी प्रेरणा से काम करें। परन्तु जब कोई ऐसा प्रबल व्यक्ति अधिकारारूढ़ होता है तब वह इस बात का प्रबन्ध करता है कि यह अधिकार उसके घराने में सदा बना रहे। यदि इस प्रकार एक कुल के अधिकारी एकके बाद एक उत्तम उत्पन्न हों तो

राज्य-तंत्र अच्छी तरह चलता है; परन्तु यदि ऐसा नहीं होता और एकाध व्यक्ति ख़राब निकल जाता है तो सब बना बनाया काम बिगड़ जाता है। शिवाजी ने मनुष्य तैयार किये, क़िले बाँधे, सेना और जहाज़ी बेड़ा निर्माण किया तथा प्रत्येक विभाग की व्यवस्था करदी; परन्तु उनके बाद संभाजी महाराज के गादी पर बैठते ही तीस-पैंतीस वर्षों की मिहनत धूल में मिल गई। बालाजीपंत नाना से लेकर माधवराव तक चारों पेशवे उत्तम उत्पन्न हुए जिनके कारण पेशवाई का राज्य-तंत्र अच्छी तरह से चला; परन्तु उनके बाद रघुनाथराव की मूर्ति आगे आते ही झगड़े खड़े हुए और राज्य की गिरती कला का प्रारंभ हो गया। यह ठीक है कि नाना फड़नवीस एक कुशल राजनीतिज्ञ थे और महादजी सिंधिया अद्वितीय सेना-नायक थे; परन्तु इनके बाद हुआ क्या? पूर्ण अन्धकार! उनकी बुद्धि और करामात उन्हींके साथ चली गई!

ईस्ट इंडिया-कंपनी के समान संस्थाओं में इस प्रकार की घटना कभी नहीं हो सकती। पहले तो उनका प्रमुख अधिकार अयोग्य व्यक्तियों के हाँथ में नहीं जा पाता, अगर जाता भी है तो वह संस्थाओं के कायदे-क़ानूनों से इतना बंध जाता है कि वह संभाजी या बाजीराव के समान स्वच्छंद व्यवहार नहीं कर सकता। संस्थाओं के कारोबार में सदा समयानुसार परिवर्तन होता रहता है। उनमें नवीन उत्साह, नवीन कल्पनाएँ और नवीन माँगों की वृद्धि होती रहती है। इस कारण उनका जोश और व्यापकता स्थायी रहकर क्रिया-सातत्य अविच्छिन्न रहता है। यहाँ पर इस प्रकार के वाद की

आवश्यकता नहीं है कि एक सत्तात्मक राज्य अच्छा होता है या अनेक-सत्तात्मक। हमें यह दिखलाना है कि ईस्ट इंडिया-कंपनी का राज्य-तंत्र संस्था-प्रधान था और पेशवाई का व्यक्ति-प्रधान। व्यक्ति-प्रधान राज्य उत्साह-हीन होता जा रहा था और कंपनी का राज्य-तंत्र सुव्यवस्थित और बढ़ती पर था।

हम लोगों में ज्ञानार्जन की हवस भी नहीं है। हमें नवीन कल्पनाओं और आविष्कारों की चाह नहीं है। यदि कोई कल्पक अथवा शोधक उत्पन्न होजाता है तो पास का पैसा खर्चकर उसकी कल्पना या खोज को व्यवहार में लाने की हमें आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती। हाँ, हममें केवल दूसरों का अनुकरण करने की बुद्धि है। तोपख़ाने ही की बात लीजिए। जब पहलेपहल यूरोपियनों का जहाज़ी बेड़ा हमारे यहाँ आया, तब हमने जाना कि यूरोपियन लोग तोप मारने में बहुत चतुर हैं और तोपों के बल पर ये लोग आश्चर्यजनक काम कर सकते हैं। हमने इस बात में उनका अनुकरण किया और गोरे लोगों से तोपें ख़रीदीं और कुछ तोपें अपने यहाँ भी ढालीं तथा गोला-बारूद भी गोरे लोगों के कहे अनुसार तैयार की; परन्तु हम आगे चल कर इस कार्य में उत्तरोत्तर सुधार न कर सके। इसलिए इस कार्य में हम अंगरेज़ों और फ्रेंचों की बराबरी न कर पाये। वे लोग बराबर सुधार करते गये और हमने सोलहवीं शताब्दि के फिरंगी लोगों के उदाहरण को जो पकड़ा सो फिर न छोड़ा। अंगरेज़ों ने आज विजय दुर्ग और दस वर्ष बाद मालवाण ले लिया; पर हमने क्या किया? हमने

"सिर्फ़ मनही मन जले हुए दिल से, आज अंगरेज़ों ने अमुक लेलिया, कल अमुक छीन लिया, आदि उद्गार प्रगट करने और उनसे वापिस लेने के कार्य को असाध्य समझने" के सिवा और कुछ नहीं किया। अंगरेज़ों ने दस वर्ष बाद फिर साष्टी लेली, पर हम तब भी सावधान नहीं हुए और तोपों के बल पर अपने क़िलों की रक्षा किस प्रकार की जाय, यह हमने नहीं सीखा। ऐसी दशा में सिंहगढ़, पुरंदर, रायगढ़, वासोटा आदि क़िले अंगरेज़ों ने हमसे छीन लिये तो इसमें दोष किसका ? ख़ैर। यह बात भी नहीं है कि उस समय हमारे यहाँ तोपें ढालनेवाले; गोला-बारूद तैयार करनेवाले अथवा चाँप की बंदूक बनानेवाले कल्पक लोग नहीं थे। पूने के तोपख़ाने में चाहे जैसी तोप अथवा बंदूक—देशी अथवा विदेशी—कारीगर ढाल देते थे। इसके सिवा मिरज के समान छोटे क़िले में भी इच्छानुसार तोपें ढाल दी जाती थीं। कुलपी आदि गोले, एक घंटे पौन घंटे तक लगातार जलनेवाली चंद्रज्योति, बाण और बारूद भी हमारे यहाँ तैयार होती थी। उस समय पंचधातु की तोप ढालने की मज़दूरी प्रति सेर सौ रुपये निश्चित थी। यह विवरण पुराने काग़ज़ पत्र ढूँढने पर हमने कहीं देखा था ऐसा हमें स्मरण है। परन्तु, अंगरेज़ी तोपें हमारी तोपों से सस्ती होती थीं। अतः हमारी गरजू सरकार वक्त पड़ने पर अंगरेज़ों से तोपें ख़रीद लेती थी। हानि सहकर भी स्वदेशी वस्तु ख़रीदने और देशी कारीगरी को उत्तेजन देने का तत्व उस समय भी हमें मंजूर नहीं था।

उस समय के लेखों पर से यह सिद्ध नहीं होता कि

पेशवाई के समय में तोपख़ाने की व्यवस्था प्रशंसा-योग्य थी। पानशा ने कहीं कभी तलवार (अथवा उस समय की भाषा में कहें तो तोप) चलाई थी, बस इसी कीर्ति पर वे पेशवाई के अन्त समय तक तोपख़ाने के दारोगा के पद पर बने रहे। तोपों की कीर्ति, पहले किसी समय की हुई, उन तोपों की मार पर अवलंबित रहती थी। वर्तमान में भले ही उन तोपों से कुछ काम न निकल सकता हो। किसी भी चढ़ाई में मराठी तोपों की मार का अधिक भय नहीं था। क्योंकि एक तो गोला बारूद के ख़र्च पर दारोगा की सदा काक-दृष्टि लगी रहती थी, दूसरे अधिक फ़ायर करने से तोपों के फूटने अथवा बिगड़ने का भय रहता था। इस प्रकार की पुरानी तोपें और कृष्णमृत्तिका (बारूद) की कमी होने पर फिर पूछना ही क्या है! हमारी सेना का घेरा यदि किसी क़िले पर होता तो सेना के गोलंदाज़ तोप का एक फ़ायर करके चिलम पीने को बैठ जाते, फिर घड़ी दो घड़ी गप्पें मारते, फिर उठते और फ़ायर करते और फिर भरकर वही चिलम पीते और गप्पें मारने का धंधा शुरू कर देते थे। इस तरह दिन में दस पाँच फ़ायर करके तोप को मोर्चे पर से उतार देते और समझते कि ख़ूब काम किया। हमारे इस लिखने में अतिशयोक्ति बिलकुल नहीं है। अंगरेज़ प्रेक्षकों ने जो कुछ लिख रखा है उसीको हमने यहाँ उद्धृत किया है और उस समय का जो पत्र-व्यवहार हमने देखा है उसपर से इसी प्रकार की कार्य-पद्धति का अनुमान होता है। सन् १७७४से १७८१ तक पेशवाई सेना और अंगरेज़ों का जो छः वर्ष तक रह रहकर युद्ध होता रहा उसमें पानशा

ने कहने लायक़ शायद ही दस पाँच बार तोपों के फ़ायर किये होंगे ! इस युद्ध में हरिपंत तात्या की तोप मारने की एक भिन्न ही पद्धति थी। वे लंबे पल्ले की बहुत बड़ी तोपों की मार डेढ़ दो कोस दूरी से अंगरेज़ी फ़ौज पर करते थे। उनके इस तरह करने का हेतु केवल इतना ही था कि यदि सुदैव से टोपी वालों को एक दो गोले लग गये तो उनके सौ पचास आदमी मर जावेंगे। यदि ऐसा नहीं हुआ और उन्होंने आक्रमण कर दिया तो आक्रमण होने के पहले ही तोपें लेकर भाग सकेंगे !

कोई कहेगा कि तोपख़ाने के सम्बन्ध में जो इस प्रकार की लापरवाही का वर्णन करते हो वह दौलतराव सिन्धिया के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता, क्योंकि अङ्गरेज़ों ने भी यह बात मानी है कि उसका तोपख़ाना अङ्गरेज़ों की बराबरी का था। हम भी यह स्वीकार करते हैं; पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे भारतवासी तोप चलाने के काम में अंगरेज़ों के बराबरी के थे। क्योंकि सिंधिया का तोपख़ाना फ्रेंच और अङ्गरेज़ लोगों ने तैयार किया था और वे ही उसके व्यवस्थापक थे। और, इस प्रकार की पराधीनता से अंत में सिंधिया का लाभ न होकर प्रत्युत घात ही हुआ, क्योंकि इन विदेशी लोगों में से बहुत से आदमी ठीक मौके पर सिंधिया को धोखा देकर अंगरेज़ों से जा मिले। स्वयम् सिंधिया की सेना का मुखिया मुसाफिरू सबसे पहले जा मिला और विलायत चला गया। अतः उसने जो तोप और बन्दूक बनाने का कारख़ाना खोल रक्खा था वह गोला-बारूद सहित बिना परिश्रम के अंगरेज़ों के हाथ लग गया।

युद्ध में सवारों की अपेक्षा तोपों का सम्बन्ध पैदल सेना से अधिक रहता है। शत्रु का आक्रमण होने पर तोपों की रक्षा पैदल सेना ही कर सकती है। अतः, यदि आक्रमण करने-वाली पैदल सेना कवायदी हो तो बचाव करनेवाली सेना का भी क़वायदी होना आवश्यक है। हैदरअली की सेना कवायदी थी, फिर भी, माधवराव पेशवा के अन्त तक, अपनी सेना को कवायदी रखने की आवश्यकता पूना-दरबार को मालूम नहीं हुई; क्योंकि एक तो हैदरअली की सेना नाम मात्र को ही क़वायदी थी, दूसरे इस प्रकार बहुत सेना रखने का सुभीता पेशवा को भी नहीं था। उनका सम्पूर्ण राज्य प्रायः सरञ्जाम में बटा हुआ था और यह सरंजाम सिर्फ़ घुड़सवारों का था। जो कुछ राज्य का हिस्सा सरकार के अधीन था उसकी आय से ख़र्च निकालकर अङ्गरेज़ों से लड़ने के लिए सेना तैयार रखना आवश्यक था। यदि सरं-जाम कम करने और सवार सेना घटाकर पैदल सेना बढ़ाने का विचार किया जाता तो महाराजा के दिये हुए सरञ्जाम-में बिना कारण हस्तक्षेप करने का अधिकार पेशवा को भी नहीं था। फिर नाना फडनवीस को तो ऐसा अधिकार होता ही कहाँ से? बसई, कल्याण प्रभृति कोकन प्रान्त की रक्षा अंगरेज़ों से करने के लिए नाना ने जो दो चार वर्षों तक दस पंद्रह हज़ार सामयिक सेना रक्खी थी वह सब अशिक्षित थी। उस पैदल सेना में सिंधी, रुहेले, अरबी, पुरबिया आदि सब परदेशी लोग थे।

अश्वारोही सैनिक, पैदल सेना को सदा से तुच्छ सम-झते आते हैं। अङ्गरेज़ों से सालबाई की सन्धि तक मराठों

ने जो लड़ाइयाँ लड़ीं उनमें परोक्ष रीति से लड़ने में मराठों का बहुत कुछ बचाव हुआ। प्रत्येक अवसर पर, एक अङ्गरेज़ का सामना करने को दस दस बीस बीस मराठों के होने से, रघुनाथ-राव को पेशवा बनाने का अङ्गरेज़ों का षड्यन्त्र सफल न हो सका। अतः नवीन पैदल सेना रखकर अंगरेज़ों की विद्या प्राप्त करने की अपेक्षा अपनी पुरानी पद्धति को ही बनाये रखना नाना, सिन्धिया, पटवर्धन, फड़के आदि ने उचित समझा। परन्तु, कुछ दिनों बाद, टीपू से युद्ध करने का अवसर आया और उसकी कवायदी सेना की तैयारी के समाचार मराठे मुत्सद्दी और सरदारों को सुनाई पड़े। अतः उनका विश्वास फिर डगमगाने लगा। सन् १७८६ में टीपू पर मुग़ल और मराठी सेना चढ़कर गई। हरिपन्त तात्या मराठी सेना के सञ्चालक थे। उस समय टीपू ने तोपों की मार से मराठी और मुग़ल सेना को हैरान कर दिया और छापे मार मारकर उसकी बहुत दुर्दशा की। उस समय सिन्धिया ने उत्तर भारत में डिवाइन नामक फ्रेंच सरदार के द्वारा दो पलटनें तैयार करवाईं जो केवल आसपास के ज़मींदारों को डराने के ही लायक़ थीं। सिन्धिया के कानों पर ज्यों ज्यों टीपू-मराठा युद्ध की असफलता के समाचार बार बार आने लगे त्यों त्यों उसे निश्चय होता गया कि इस अपयश का परिमार्जन करने के लिए टीपू पर चढ़ाई करने की बारी कभी न कभी अपने पर भी आवेगी। उस समय दिल्ली के बादशाह के राज्य की व्यवस्था सिन्धिया करते थे। अतः बादशाह के नाम से वे कवायदी सेना बहुत कुछ रख सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी, अर्थात् दो तीन वर्षों में बहुत सी पलटनें और

उसके लायक़ तोपों का सारा सामान उन्होंने तैयार करवा लिया। सन् १७६१ में जब महादजी सिन्धिया देश में आये तब श्रीरंगपट्टन की चढ़ाई में शामिल होने की उनकी इच्छा थी; परन्तु उनके पूना आने के पहले ही टीपू से सुलह हो गई थी और सेना लौटने के समाचार आ चुके थे। अतः उनका वह निश्चय जहाँ का तहाँ ही रह गया। यह नहीं कहा जा सकता कि कवायदी सेना के द्वारा अङ्गरेज़ों पर प्रभाव जमाने की इच्छा सिंधिया की नहीं हुई होगी; परन्तु इन पलटनों को रखने का मूल उद्देश कुछ भिन्न ही था, यही यहाँ दिखलाने का अभिप्राय है।

सिंधिया की इस नवीन कवायदी फौज के प्रबन्धक अङ्गरेज़ और फ्रेंच थे। उन्होंने यह नवीन फ़ौज बहुत अच्छी तरह तैयार की थी; परन्तु अङ्गरेज़ों के साथ युद्ध करते समय इस सेना से सिंधिया को कुछ लाभ नहीं हुआ। युद्ध के समय दौलतराव सिंधिया कहते थे कि हम अपनी सेना द्वारा युद्ध करेंगे और रघूजी भोंसले का कहना था कि मेरे पास सेना नहीं है मैं तो छिपकर लड़ने की पद्धति से युद्ध करूँगा। दौलतराव सिन्धिया की सवारसेना भी यही कहने लगी। इस तरह सारा समय परस्पर की कहा सुनी में ही चला गया और किसीने भी युद्ध की व्यवस्था नहीं की। फल यह हुआ कि भोंसले का छिपकर लड़ना रह गया, दौलतराव सिंधिया की सवार सेना ठंडी पड़ गई और अङ्गरेज़ों की सब मार नई पैदल सेना पर ही आपड़ी। इसके सिवा कुछ सरदार भी ठीक मौक़े पर सिन्धिया को छोड़कर अङ्गरेज़ों से जा मिले और इस प्रकार युद्ध की

सलाह पार न पड़ सकी। इस समय जो कुछ रही सही पलटनें थीं वे भी एकत्रित न हो पाईं। जो कुछ थोड़ी सेना थी उसके साथ असाई, अलीगढ़, लासवारी प्रभृति स्थानों पर अङ्गरेज़ों से युद्ध हुए जिनमें बची हुई पलटनों का भी पूरा पराभव हो गया।

जब अंगरेज़ों से लड़ने सिंधिया और भोंसले का समय आया, तब उन्होंने होलकर को भी अपने में शामिल करने के बहुत प्रयत्न किये; परन्तु उस समय होलकर उनसे नहीं मिले और दूर से युद्ध का तमाशा देखते रहे। इस युद्ध के एक वर्ष बाद जब होलकर और अंगरेज़ों में युद्ध होने का प्रसंग आया तब सब भार अकेले होलकर पर आकर पड़ गया। अतः वे संकट में फँस गये। उस समय होलकर ने मराठा राज्य के सम्पूर्ण सरदारों को सहायता के लिए पत्र भेजे। परशुराम पंत प्रतिनिधि को जो पत्र भेजा था उसमें लिखा है कि:—

"आजतक सब लोगों ने मिलकर एक दिल से हिन्दू राज्य चलाया; परन्तु कुछ दिनों से सबके राज्यों में गृह-कलह होने से राज्य का विपर्यय हो रहा है। हिन्दू धर्म के नष्ट होने का यह कारण है। इसे नष्ट करने के लिए सबको एक दिल होकर मिलना उचित है। तभी यह कारण नष्ट होगा और पहले के समान स्वधर्माचार और हिन्दूपन स्थिर रह सकेगा। हमने जो मार्ग ग्रहण किया है उसे आजन्म चलाने का निश्चय है। अब परमेश्वर इसके अनुकूल होकर जो करे सो ठीक है। परन्तु, यह काम एक हो करे और बाकी के सब दूर बैठे बैठे तमाशा देखें और अपना राज्य संभालें, तो इसका क्या परिणाम होगा? इस पर आप मन में विचार

करें और जिससे हिन्दू-धर्म की स्थिरता तथा परिणाम में लाभ हो वह करें। इसका विचार यदि आप सरीखे नहीं करेंगे तो कौन करेगा?" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पत्र में प्रकट किये हुए विचार बहुत ही उचित हैं; पर यदि ये ही विचार होलकर के मन में एक वर्ष पहले हुए होते और उन्होंने सिंधिया और भोंसले को यथाशक्ति सहायता दी होती तो कितना अच्छा हुआ होता!

यहाँ तक हम यह दिखला चुके कि मराठों ने विदेशी लोगों के तोपख़ाने से और विदेशी कवायदी पलटन अथवा अरबों की अशिक्षित सवारसेना से तथा विदेशी अधिकारियों को नौकर रखकर उनसे जो राज्य-रक्षा की आशा की थी वह किस प्रकार निष्फल हुई? यही ख़र्च जो "मावले" कहलाते हैं उनकी पैदल सेना बनाकर और उस पर देशी अधिकारी नियुक्त कर किया गया होता और उस सेना को ऊँचा उठाया होता, तो क्या उसका कुछ उपयोग न हुआ होता? परन्तु वे ठहरे देशी। वे किसकी नज़र में आ सकते हैं? पठान, अरब, रुहेले आदि का वेतन सात रुपये से दस रुपये तक था; परन्तु मावलों को तीन और चार रुपये ही दिये जाते थे। परदेशी लोग मराठों की ओर से चढ़ाइयों पर जाते थे और मावले बेचारे घर-द्वार, देव-मंदिर, स्त्री-पुत्र आदि संभालने का काम करते थे। महाराज शिवाजी के समय में जो "मावले" ईरान, काबुल, कंदहार आदि के ऊँचे पूरे और कठोर-हृदय पुरुषों को काल के समान दीखते थे, पेशवा के समय में वे ही 'मावले' अयोग्य बना दिये गये। वर्तमान समय में भी ये मावले प्रसिद्ध प्रसिद्ध अंगरेज़ और फ्रेंच सैनिकों के

कंधे से कंधा भिड़ाकर इस महायुद्ध में बराबरी से लड़ते हैं और जर्मनों के होश उड़ाते हैं । योग्य उत्तेजन और शिक्षण मिलने से कहाँ तक इनकी पात्रता है यह बात किसी के भी ध्यान में पेशवाई ज़माने में नहीं आई थी । इसपर यदि अंगरेज़ अधिकारी यह कहें कि यह महिमा मावलों की मर्दानगी की नहीं है और न उनके शिक्षण ही की है; किन्तु हमारी है, क्य कि हम उन्हें शिक्षा देते हैं और हमारे हुक्म के अनुसार युद्ध-क्षेत्र में वे सब काम-काज करते हैं । परन्तु पलटन के मुख्य अधिकारी बनने का मौका ही जब हमें (भारतवासियों को) नहीं मिलता तब हम अंगरेज़ अधिकारियों का यह कहना भी कैसे ठीक मान सकते हैं ?

First Maratha war का अर्थ होता है "मराठों से अंगरेज़ों का पहला युद्ध"; परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि ईस्ट इंडिया-कंपनी का युद्ध सभी मराठों से अर्थात् सम्पूर्ण मराठी साम्राज्य से हुआ हो । हम यह भूल जाते हैं कि पेशवाई सम्पूर्ण मराठी राज्य अथवा शिवशाही नहीं थी । वह शिवशाही का एक बड़ा भाग थी । यद्यपि यह ठीक है कि शाहू महाराज ने सम्पूर्ण मराठी साम्राज्य पर पेशवा की आज्ञा चलना स्वीकार कर लिया था; परन्तु उस आज्ञा की भी कुछ मर्यादा उन्होंने बाँध दी थी, जिस मर्यादा का उल्लंघन करने में पेशवा भी समर्थ नहीं थे । शाहू की मृत्यु के समय राज्य में पेशवा, भोंसले, गायकवाड़, आंग्रे, सावंत, प्रतिनिधि, सचिव, अक्कलकोटवाले आदि कितने ही सरदार थे और इन सब के छोटे बड़े सरंजाम थे । मृत्यु के समय शाहू का विचार हुआ कि मेरी मृत्यु के बाद ये सरदार लोग कोई बन्धन

रहने के कारण स्वतंत्र होजावेंगे और सरकारी नौकरी नहीं करेंगे, अतः राज्य की वृद्धि और राज्य का उत्कर्ष होना बंद होजावेगा, और यह भी संभव है कि ये लोग आपस में लड़कर राज्य नष्ट करदें। इसलिए शाहू ने निश्चय किया कि मृत्यु के बाद इनपर देख-रेख रखनेवाला कोई अधिकारी नियत हो जाय। भोंसले और गायकवाड़ शाहू की जाति के थे। अतः इन दो में से किसी एक के सिर पर यह काम डालने का शाहू का विचार था; परन्तु दोनों ने यह विचार करके कि हम पेशवा की स्पर्धा में टिक न सकेंगे वह अधिकार लेना स्वीकार नहीं किया, जिससे लाचार होकर शाहू ने यह अधिकार पेशवा को दिया और सनद दी कि "तुम सरकारी फ़ौज और उसके सब सरदारों पर शासन करके राज्य संभालो और दूसरे देशों पर भी चढ़ाई करो। सरंज़ामदारों की अन्तर्व्यवस्था में तुम हाथ न डालना और जब तक ईमानदारी से सरकारी नौकरी करें तब तक उन्हें सरंजामी के लिए जो प्रान्त दिया गया है वह उन्हींके अधिकार में रहने देना। मैंने अपने चचेरे भाई संभाजी को कोल्हापुर का राज्य देकर स्वतंत्र कर दिया है। वह उन्हींके पास रहने दिया जाय और इनाम, वार्षिक वृत्तियाँ, जागीरें आदि जो जो मैंने और मेरे पूर्वजों ने दे रखी हैं वे नियमानुसार चलाई जावें।"

इस सनद से यह बात ध्यान में आवेगी कि परिचक्र के निवारण करने और राज्य-वृद्धि के लिए दूसरे राज्यों पर चढ़ाई करने के लिए गायकवाड़, भोंसिले आदि सरदारों की सेना को, नौकरी के लिए बुलाने का, पेशवा को अधिकार था और जो सरदार उनके इस अधिकार को नहीं

मानते या परचक्र से मिलकर विद्रोह करते, तो उनका शासन कर सरंजाम छीन लेने का भी अधिकार पेशवा को था। शाहू की सनद के अनुसार यह अधिकार नाना साहब और माधवराव पेशवा ने यथाशक्ति चलाया; परन्तु जब यही अधिकार कारभारी के नाते से नाना फड़नवीस के चलाने का प्रसङ्ग आया तब कोई भी उनके इस अधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे राज्य का कारोबार व्यक्ति-प्रधान रहा है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का कर्तृत्व उसीके साथ रहता था। अतः शाहू का सा प्रभाव नाना साहब में और नाना साहब का माधवराव में नहीं था। फिर माधवराव का सा प्रभाव नाना फड़नवीस में कहाँ से हो सकता है ?

ऐसी दशा में जब अङ्गरेज़ों से लड़ाई छिड़ी तब गायकवाड़ ने अङ्गरेज़ों से अलग सन्धिकर अपना बचाव कर लिया। आंग्रे और सांवत उदासीन ही थे। भोंसले ऊपर से तो मीठी मीठी बातें किया करते थे, पर भीतर से अङ्गरेज़ों के पक्ष में थे, अतः उन्होंने भी पेशवा को रत्ती भर सहायता नहीं दी। कोल्हापुरवाले तो जानबूझकर विरुद्ध ही थे। सचिव सरकारी नौकरी से मुक्त थे; हाँ, अक्कलकोट वाले और प्रतिनिधि ये दो सरदार डांट-डपट के कारण नौकरी पर हाज़िर रहते थे; परन्तु उनकी सेना आदि थोड़ी थी। अतः उसका उपयोग भी थोड़ा ही था। यह तो पहले के सरदारों की दशा थी। अब पेशवा ने जो विञ्चुर, राजबहादुर, रास्ते, पटवर्धन, घायगुड़े, वितोवाले आदि सरदार बनाये और सरञ्जामदार नियत किये थे उन सबकी

सेना मिलकर पंद्रह बीस हज़ार थी। इनके सिवा हुज-रातों के जो पुराने मानकरी, सरदार, थोरात, घोरपड़े, पाटणकर आदि थे उनकी कुल पाँच छह हज़ार फुटकर सेना नौकरी पर थी। यह पेशवा की दक्षिण की फ़ौज हुई। उत्तर भारत में सिन्धिया और होलकर मुख्य थे। इनमें होलकर का सरंजाम साढ़े चौहत्तर लाख का और सिन्धिया का साढ़े पैंसठ लाख का था। इन दोनों के पास चालीस पैंतालीस हज़ार सेना थी जिसमें से आधी उनके प्रदेश के रक्षार्थ छोड़कर शेष आधी सेना दक्षिण में लाई जाने योग्य थी। इसके सिवा पेशवा सरकार की पायगाएँ पूना के आसपास थीं। उनमें तीन चार हज़ार सवार थे। बस, यही सब पेशवा की तैयार सेना थी। इतनी सेना के बल पर भी पेशवा अङ्गरेज़ी सेना को क्षत-विक्षत कर सकते थे; परन्तु नाना फड़नवीस के समय में इतनी बड़ी फ़ौज भी अङ्गरेज़ों का सामना करते करते घबड़ा गई। इसका कारण यह था कि नाना साहब पेशवा के समय में जो हिम्मत बीस हज़ार सेना में थी वह इस समय पचास हज़ार में भी नहीं थी।

पहलेपहल पुरन्दर की सुलह होने तक वर्ष, डेढ़ वर्ष तक सिन्धिया और होलकर ने तटस्थ रहकर मजा देखने के सिवा कुछ नहीं किया। वे पूना दरबार से न केवल विरुद्ध ही थे बल्कि रघुनाथराव की हर तरह सहायता करने को तैयार थे। पुरन्दर की सन्धि होने के बाद महादजी सिन्धिया ने पेशवाई की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और वह उसने मरते समय तक नहीं छोड़ा। वड़गांव की लड़ाई में, गुजरात की चढ़ाई में और मालवा के युद्धों में

सिन्धिया ने बहुत ही अच्छी तरह पौरुष दिखलाया और अंगरेज़ों पर अपना दबदबा जमाया । यह ठीक है कि नाना फड़नवीस को उस समय सिन्धिया की रुख रखनी पड़ती थी और वह जो माँगता देना पड़ता था; परन्तु उन्होंने मन लगाकर सरकार का काम किया इसमें संदेह नहीं। देखा जाय तो होलकर ने वोरघाट की लड़ाई के सिवा और कोई काम नाम लेने योग्य नहीं किया। इतना ही नहीं,उन्होंने तो मोरोवा दादा से मिलकर पेशवाई पर बड़ा भारी संकट लाने का षड्यन्त्र रचा था। दक्षिण की सेना में पटवर्धन की सेना और हुजरातवालों की फ़ौज उत्तम थी और उन्होंने काम भी अच्छा किया । विशेष सेना सरञ्जामदारों की थी और वह अड़ियल टट्टू के समान जैसे तैसे काम की वेगार समझती हुई करती थी। उस समय इस बात का बहुत शोर था कि दक्षिण की बहुतसी सेना में और होल-कर की सेना में निकृष्ट श्रेणी के सवारों की ही भरती अधिक है । रिश्वतखानेवाले सरकारी क्लर्क सवार सैनिकों की हाज़िरी लिया करते थे। उस हाज़िरी का वर्णन एक दिल्लगी-बाज़ ने इस तरह से किया है कि घोड़े के चार और आदमी के दो पांव दिख जाने पर सवार समझ लिया जाता और उसकी हाज़िरी मान ली जाती थी । गिनती करनेवाले क्लर्क की मुट्ठी गर्म की कि बस, फिर घोड़ा दस रुपये का हो या बीस का, और सवार भड़भूंजा हो या भिश्ती, उसे इन बातों को जानने की फिर ज़रूरत नहीं। यह वर्णन अवश्य हास्यजनक है; परन्तु है वस्तु-स्थिति का निदर्शक । भला सिवा संख्या बढ़ाने के ऐसी सेना का और क्या उपयोग हो

सकता था ? छाती बढ़ाकर तलवार मारने, अङ्गरेज़ों की पलटनें काटने, उनकी तोपें छीनने वा उनकी रसद बन्दकर देने की हिम्मत इतनी बड़ी सेना में से बहुत थोड़े सरदारों में थी। जिसे देखो उसे अपने घोड़े और आदमी बचाने की फ़िक्र रहती थी।

मराठी सेना की यह स्थिति ध्यान में आजाने पर इस बात का आश्चर्य्य नहीं होता कि अङ्गरेज़ों की प्रगति क्यों हुई ? वे मराठी फ़ौज की परवा किये बिना पूने पर कैसे चढ़ आये ? मराठों पर अनेक बार आक्रमण कर कैसे उन्हें भगा दिया ? और उनका कुछ भी भय न कर अङ्गरेज़ों ने किस प्रकार डभई, अहमदाबाद, बसई आदि के क़िले ले लिए ? बड़गांव की लड़ाई में अंगरेज़ों का जो पराभव हुआ, जनरल गोडर्ड की सेना लूटकर और सिपाहियों को मारकर मराठों ने जो उसे हैरान किया और नापार की लड़ाई में मराठों ने अंगरेज़ों की सेना में घुसकर उसकी जो मारकाट की यह सब उनकी संख्या और पूर्वकाल की कीर्त्ति के परिमाण में कुछ नहीं था।

प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रंट डफ साहब ने जो यह लिखा है कि माधवराव पेशवा की अकाल मृत्यु मराठों के लिए पानीपत के युद्ध के समान ही घातक हुई, सो बहुत ठीक है। क्योंकि माधवराव पेशवा की मृत्यु के बाद जो राज्य में अव्यवस्था, सैनिक कारोबार में ढिलाई और दुर्व्यवस्था शुरू हुई वह मराठी साम्राज्य के अन्त तक, नष्ट नहीं हुआ। सवाई माधवराव यदि प्रौढ़ अवस्था के होते और माधवराव के समान ही तीक्ष्ण बुद्धि और साहसी होते तो इस

प्रकार की व्यवस्था कभी उत्पन्न न हुई होती; परन्तु उन्हें (सवाई माधवराव को) बालक समझकर, उनके घर में गृह-कलह का सूत्रपात होता हुआ देखकर और अंगरेज़ों के द्वारा राज्य हड़पने की कृतियाँ होती हुई देखकर चारों ओर से विद्रोही उठ खड़े हुए। ये विद्रोही कोई भुखमरे चोर नहीं थे। इनमें से कुछ तो राजा थे और उनके पास हज़ार हज़ार पांच पांच सौ सवार तथा क़िले थे। बारह भाइयों के द्वारा रघुनाथराव का उच्चाटन होने के समय से सालबाई की सुलह होने तक सात आठ वर्षों के बीच के समय में इन विद्रोहियों ने प्रजा में त्राहिं त्राहि कर दी थी। कृष्णा नदी के उस ओर कोल्हापुर राज-मंडल के दंगे, कित्तूर, शिरहट्टी, डंबल में देसाइयों के दंगे, पूर्व की ओर सुरापुर के बेरणों का दंगा, सतारा प्रांत में रामोशियों का दंगा, पूना, जुन्नर की ओर कोलियों के दंगे, नासिक और खानदेश में भीलों के दंगे आदि एक नहीं अनेक स्थानों में दंगे होते थे। इन झगड़ों के वातावरण में पटवर्धन, रास्ते, विंचुरकर, राजेबहादुर, होलकर आदि सबों का सरञ्जाम फँसा हुआ था, और इस कारण इन सरदारों की बहुत दुर्दशा हो गई थी। राज्य के कर की वसूली नहीं होती थी। सेना के लिए ख़र्च की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी दशा में सरञ्जामी सरदार कर्तव्यविमूढ़ बन गये। अंगरेज़ों से युद्ध करने के समय प्रत्येक सरञ्जामदार यही विचार करता था कि यदि मैं अङ्गरेज़ी सेना पर आक्रमण करूँगा तो या तो वे हमारी सेना काट डालेंगे या वह पीछे भाग आवेगी। यदि इस घड़ी भर के खेल में मेरे पांच सौ

घोड़े मारे गये तो मैं क्या करूँगा ? पांच सौ घोड़ों का मूल्य तीन लाख होता है। इस एक घड़ी के जुए के खेल में यदि अपने तीन लाख रुपये इस तरह लगा दूँ तो फिर मैं क्या करूंगा ? सरकार तो मुझे देने से रही, क्योंकि उसकी दशा आपही शोचनीय हो रही है, और सरञ्जाम से दंगे के कारण कर वसूल होता नहीं, फिर यह मूल्य हम कहा से चुका सकेंगे ? कल सिलेदार आकर दरवाजा खट खटायगा कि या तो घोड़ी लाओ या उसके रुपये दो, तो फिर हम कहाँ से देवेंगे ? उस समय प्राण देने की बारी आवेगी। अतः यही अच्छा है कि साहस बतलाने के झगड़े में न पड़ें और पीछे ही पीछे रहें। जिन लड़ाई झगड़ों के कारण, क्षात्र-वृत्ति को कालिमा लगानेवाला यह अवसर सरञ्जामदारों पर आया उन लड़ाई झगड़ों की उत्पत्ति भी सरञ्जामी पद्धति से हुई थी।

शाहू महाराज और पेशवा ने सरदारों को बड़े बड़े प्रांत और ताल्लुके जागीर में देने की जो प्रथा शुरू की उससे उनका ध्यान सरकारी नौकरी पर से उठकर अपनी अपनी जागीर की ओर खिंच गया और वे अभिमानी होकर अपने मालिकों को ही सिखाने तथा स्वतन्त्र होने का अवसर देखने लगे और इसीलिए राज्य का ऐक्य तथा राज्य भी नष्ट हो गया। यह बहुत से लोगों का कहना है; परन्तु यह कथन सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। सरंजामी पद्धति शुरू करने का दोष केवल शाहू महाराज या पेशवा पर लादना ठीक नहीं है। स्वयम् शिवाजी महाराज ने ही सरंजामी पद्धति के समान देशमुखी की जागीरें दी थीं और उनके बदले

में जागीरदारों को सैनिक नौकरी करनी पड़ती थी। क्या इन्हें सैनिक सरंजाम नहीं कह सकते हैं? दूसरे उस सम सम्पूर्ण भारत में थोड़ी बहुत सरंजामी पद्धति प्रचलित थी। गुजरात, मालवा, बुन्देलखन्ड के राजा लोग अ को दिल्ली के बादशाह के सरंजामदार स्वीकार करते थे रुहेले, पठान और सिक्खों के सरदार भी सरंजामदार थे। ऐसी दशा में शाहू या पेशवा ने नगदी पैसा देने के सुभीता न होने के कारण, अपने सरदारों को यदि जागी दे दी, तो इसमें बिगाड़ा क्या? बात यह है कि यदि मध्यवर्ती सत्ता शक्तिमान् हुई, तो क्या सरंजामदार और क्या दूस सब नौकर नम्र और कर्तव्य-तत्पर होते हैं; पर यदि कमज़ोर हुई तो नौकर अस्तीन के साँप का काम करने लगते हैं।

मेरा भी यही कहना है कि सरंजामी पद्धति के जो पकड़ने पर भी राज्य में जो शक्ति आनी चाहिए थी वह नहीं आई, प्रत्युत दुर्बलता ही बढ़ी; परंतु मेरे इस कथन का तात्पर्य दूसरा है। सन् १७२० । २५ से १७६० तक मराठों ने दूसरे प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ कीं। जिस प्रदेश को जो सरदार अधिकृत करता था वह प्रदेश महाराज उसे ही सरंजाम के लिए देदेते थे। इसलिए प्रत्येक शूर और उत्साही सरदार में भिन्न भिन्न प्रदेशों पर चढ़ाई करने, युद्ध जीतने, लूटकर पेट भरने, प्रदेश जीतकर उसे महाराज से सरंजाम के लिए ले लेने, अपनी सरदारी क़ायम करने तथा अपने घराने को प्रतिष्ठित और वैभव-संपन्न बनाने की महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न होने लगी और वे भिन्न भिन्न प्रदेशों पर चढ़ाई करने लगे शाहू महाराज ने अपने समय में जिन चढ़ाइयों का कार

ाति के लोगों का संबंध सदा लगा रहता था और इस
ष्टि से यदि देखा जाय तो जात्याभिमान का परिणाम
ाज्य-कार्यों पर सदा होना चाहिए था;परंतु इतिहास में ऐसा
ोई उदाहरण नहीं मिलता । इसपर से यह सिद्ध होता
कि राज्य-नाश से जाति-भेद का कुछ सम्बन्ध नहीं है और
वह राज्य-कार्यों में आड़े आता है । बहुत हुआ तो मराठा
ितिहास की एक दो बातों का सम्बन्ध जाति-भेद से जोड़ा
ा सकेगा । इनमें से पहली बात तो सुनी सुनाई और
ंशय-ग्रस्त है । वह नारायणराव पेशवा के ख़ून से सम्बन्ध
खती है । बात यह है कि नारायणराव पेशवा प्रभू लोगों
ो बहुत कष्ट देते थे । अतः प्रभू लोगों ने उन्हें गारदी से
मरवा डाला । यह बात हमारे कुछ पुराने प्रभू मित्रों के मुंह से
हमने सुनी है । इसकी सत्यता में कोई दूसरा मनुष्य हमारे
पास नहीं है । हां, दूसरी बात अनुमान से सच्ची मानी जा
सकती है । वह यह कि शाहू महाराज ने मरते समय पेशवा
को जो सनद दी उससे तुलाजी आंग्रे अप्रसन्न होगया और
उसने पेशवा से बिगाड़ कर लिया । वह जहाज़ी सैनिक
बेड़ा और क़िलों के बल पर पेशवा को तुच्छ समझता था ।
इसीलिए पेशवा ने चार पांच वर्ष तक उद्योग कर अंत में
बंबईवाले अंगरेज़ों की सहायता से उसका राज्य छीन लिया
और उसे सकुटुम्ब क़ैद कर लिया । परंतु, इस बात में एक
भीतरी रहस्य और है जो बहुतों को मालूम नहीं है । वह
यह कि तुलाजी आंग्रे चितपावन ब्राह्मणों का कट्टर द्वेषी था
और उन्हें बहुत कष्ट पहुंचाने लगा था । तुलाजी की हद्द
बाणकोट से विजयदुर्ग तक थी और यहीं टापू चितपावन

ब्राह्मणों की ठहरी जन्मभूमि। पेठे, फड़के, परचुरे, रास्ते भावे, देशमुख, घोरपड़े, जोशी बारामतीवाले, जोशी शोलापुरवाले, जोशी वर्वे, पटवर्धन, मेहेंदले, भानु, लागू आदि पेशवाई के दरबारी और कई सरदार लोगों का मूल निवासस्थान यहीं था। जब कि अपने अधिकारों को न मानने वाले प्रतिनिधि और दामाजी गायकवाड़ को तो पेशवा ने उनका सरंजाम खालसा न करते हुए यों ही छोड़ दिया और तुलाजी आंग्रे का समूल उच्छेद किया तो हमारा यह अनुमान करना अन्याय न होगा कि इसके भीतर पेशवा के जात्यभिमान की प्रेरणा अवश्य रही होगी। चितपावनों का यह द्वेष तुलाजी की मृत्यु के साथ ही नष्ट होगया। फिर उसके संप्रदाय चलानेवाला कोई सत्पुरुष नहीं हुआ। हां, वर्तमान काल में अवश्य किसी देशी-विदेशी मनुष्य के शरीर में तुलाजी कानून सञ्चार करता हुआ दिखलाई दे जाता है।

अब तक हमने इस बात की मीमांसा की कि किस गुण के अभाव से हम यूरोपियन राष्ट्रों को कुंठित न कर सके और उनकी टक्कर झेलने का सामर्थ्य हमारे राज्यों में क्यों नहीं रहा। इसीके साथ साथ षड्यंत्रों के सम्बन्ध में अंगरेज़ों को हमपर क्यों सफलता मिली, इसपर विचार करना भी उचित प्रतीत होता है। पहले पहल बम्बई और सूरत बंदर के बाहर अंगरेज़ों का प्रवेश नहीं था। अतः कई लोग यह प्रश्न करते हैं कि उसी समय शिवाजी महाराज ने इन्हें क्यों न निकाल दिया और भविष्य में हमारा राज्य लेंगे यह जानकर राजाओं ने इन्हें अपने दबाव में क्यों न रखा? परंतु, इन प्रश्नों के करनेवाले उस समय की वस्तु-स्थिति

को भूल जाते हैं। उस समय ज्ञान की मर्यादा हमारे देश में बहुत संकुचित थी। अतः व्यापार के लिए आये हुए गोरे लोगों का वास्तविक स्वरूप ध्यान में न आने के कारण किसी पर भी दोष नहीं रखा जा सकता। उस समय शासकों से अंगरेज़ों का बखार के लिए जगह मांगना, रूमाल से हाथ बाँधकर दरबार में आना और चरणों में मस्तक झुकाना देखा और उसे ठीक समझा। वे इनके व्यवहार से यह कैसे जान सकते थे कि इन्हें बखार के लिए जगह देने पर यह हमारे सारे देश को ही बखार बना डालेंगे? जिस रूमाल से ये अपने हाँथ बांधते हैं उससे एक दिन हमारी मुश्कें बांधेंगे और आज तो हमारे पैरों पर सिर रखते हैं, पर कल हमारे सिरों पर पैर रखेंगे! उस समय हमारे अधिकारियों के मन में इस प्रकार की विचित्र कल्पना उठ ही नहीं सकती थी।

यदि इन अंगरेज़ों ने यूरोप के किसी भी कोने में व्यापार के बहाने से पैर रखा होता तो तत्काल इस बात की जाँच होकर कि ये कौन हैं, यहाँ क्यों आये हैं, इनका वहां से उच्चाटन होगया होता; परन्तु हिन्दुस्तान में समुद्र किनारे पर क़िले बाँधकर रहने पर भी सौ पचास वर्षों तक इनकी ओर किसी ने झांका तक नहीं कि ये कौन हैं और क्यों आये हैं? इसका कारण यह कि यह एक विशाल देश ठहरा। यहाँ पचासो जातियाँ और उसमें भी मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि विधर्मियों की खिचड़ी तथा देश में सैकड़ों राज्य और हजारों संस्थान। ऐसी दशा में यदि अंगरेज़ और फ्रेंच यहाँ आकर रहे तो वे वास्तव में व्यापार के लिए आये हैं या

गया। फिर सन् १७६६ में मद्रास के अंगरेज़ों ने निज़ाम-अली को मिलाकर पहले हैदरअली पर और फिर पेशवा पर चढ़ाई करने का विचार किया; परन्तु माधवराव की चतुराई के कारण उनका वह विचार भी सिद्ध न हो सका। इसके बाद फिर सन् १७७२ में दोआब प्रान्त में मराठों और अंगरेज़ों में खटक गई; परन्तु उसी समय माधवराव की मृत्यु हो जाने के कारण वह युद्ध आगे न चल सका। इस तरह टलते टलते ठीक अड़चनों के समय में, जब कि पेशवा की सेना रघुनाथराव का पीछा कर रही थी, अंगरेज़ों से युद्ध करने का अवसर मराठों को प्राप्त हुआ। सारांश यह कि इस पहले युद्ध का प्रारम्भ अंगरेज़ों के सुभीते और इच्छा के अनुसार हुआ। इसमें न तो मराठों की इच्छा ही थी और न किसी प्रकार का उन्हें सुभीता ही था।

मराठों से पहला युद्ध शुरू होने के बाद के वर्ष छह महीने में जो लेख लिखे गये हैं उनमें बतलाया गया है कि मराठों का राज्य कितना है, उनकी सेना कितनी है, छत्रपति, पेशवा, भोंसले, गायकवाड़, सिन्धिया, होलकर आदि किसका कितना महत्त्व है और इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है? इनका आपसी झगड़ा किन किन बातों का और किसे क्या देने पर उसके अपने अनुकूल हो जाने की सम्भावना है? इन बातों का वर्णन, उन लेखों में विस्तृत रीति से और प्रायः ठीक ठीक लिखा गया है और इसमें आश्चर्य की कोई बात भी नहीं है, क्योंकि इसके बहुत दिन पहले से अंगरेज़ लोग यह सुख-स्वप्न देखने लगे थे कि भारत का राज्य क्रमशः थोड़ा थोड़ा करके हमें

अवश्य प्राप्त होगा। कर्त्तव्यशील अंगरेज़ों के चिन्तन का प्रायः एक यही विषय हो गया था। एक अङ्गरेज़ द्वारा अठारहवीं शताब्दि की लिखी हुई एक पुस्तक हमने देखी है। उस पुस्तक का विषय केवल यही है कि "भारत का राज्य किस प्रकार लिया जाय"। इससे स्पष्ट होता है कि इस विषय पर उस समय की और भी बहुत सी पुस्तकें तथा लेख होंगे। उस समय इस देश में पादिरयों का दौरदौरा नहीं था; परन्तु दूत और व्यापारी अङ्गरेज़ सैकड़ों थे जो कि प्रत्येक प्रांत में घूमते थे। वे अपने प्रवास-वर्णन में शहर, किला, मार्ग, रीति-रिवाज़ स्थानीय राज आदि छोटी बड़ी सब बातें लिखते थे जो कम्पनी-सरकार के लिए बहुत उपयोगी होती थीं। किसी न किसी बहाने से सैनिक अधिकारी प्रवास करते थे और सैनिक विभाग के उपयोग में आनेवाली बातों का संग्रह किया करते थे। इसके सिवा बड़े बड़े राजाओं के दरबार में जो अङ्गरेज़ वकील होते थे वे राज-कार्य सम्बन्धी सब बातें मुख्य अधिकारियों को लिख भेजते थे। अङ्गरेज़ लोग शोधक बुद्धि के होते हैं। उन्हें विद्यार्जन करने की इच्छा बहुत प्रबल रहती है। उन्होंने राज्य लेने के पहले ही वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण आदि ग्रंथों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पेशवाई के अन्त तक चारों ओर का ज्ञान सम्पादन करने का वे एकसा उद्योग करते रहे। सन् १८०२ में नाक्स नामक अङ्गरेज़ मैसूर से पूना जा रहा था। रास्ते में वह कुछ दिन मिरज में ठहरा। बस, इतने ही समय में उसने मिरज के जागीरदार को पत्र लिखा जिसमें उसने उससे प्रश्न किया कि "आपको जागीर किसने

और कब दी; उसकी आमदनी कितनी है; आपके घराने के लोगों ने पेशवा सरकार के क्या क्या काम किये आदि सब बातों का विवरण यदि आप कृपया मुझे देंगे तो मैं आपका बड़ा आभारी होऊँगा"।

ऐसे चपल और सावधान स्वभाव के अङ्गरेज़ लोगों से लड़ने की बारी आई। मराठों को अङ्गरेज़ों का कुछ भी परिचय नहीं था। उनका मूल देश कौनसा है; यहाँ क्यों आये; इनका पहला उपनिवेश कौनसा है; बाद में इन्होंने कौन कौन से बन्दरों में उपनिवेश बसाये हैं; इनके स्वाभाविक गुण-दोष कौन कौन से हैं; इनकी राज्य-व्यवस्था और सैन्य-व्यवस्था किस प्रकार की है; इनका सैन्य-बल और द्रव्य-बल कितना है आदि मुख्य मुख्य बातों का ज्ञान मराठे नीतिज्ञ अधिकारियों और सरदारों को अवश्य प्राप्त करना चाहिए था। परन्तु हमारे अलसता और उदासीनता के कारण राजनीति का यह अङ्ग सदा अपूर्ण ही रहा। केवल नाना फडनवीस ने अवश्य कुछ टूटा-फूटा परिचय प्राप्त किया था और सिलसिलेवार सब समाचार अच्छी तरह से रखे थे यह उनके लेखों से विदित होता है। नहीं तो साधारणतया चारों ओर गाढ़ निद्रा का साम्राज्य था। अङ्गरेज़ों की संख्या कितनी है और ये लोग कहाँ से आते हैं इसका ज्ञान मराठों को न होने के कारण उनपर अङ्गरेज़ों के भय का भूत योंही सवार हो गया था। अङ्गरेज़ों से युद्ध होते समय समाचार आने लगे कि अङ्गरेज़ बम्बई से आ रहे हैं, गुजरात में उन्होंने धूम शुरू कर दी है, कुछ मद्रास से जलमार्ग के द्वारा आ रहे हैं और कुछ अङ्गरेज़ हैदरअली से लड़ रहे हैं

तथा उधर उत्तर भारत में अङ्गरेज़ों ने यमुना नदी पारकर कालपी पर चढ़ाई कर दी है। इस प्रकार के समाचारों से घबड़ाकर एक मराठा सरदार लिखता है कि "ये हरामी अङ्गरेज़ ऐसे हैं कितने ? जहाँ देखो वहाँ ये ही दिखलाई पड़ते हैं। यह बात है क्या ?" ऐसी स्थिति में भी नाना फड़नवीस ने अङ्गरेज़ों की कूटनीति का नाशकर उन्हें हांथ टेकने को लाचार कर दिया और सन्धि करने के लिए मराठों से प्रार्थना करने को विवश किया तभी नाना की प्रशंसा होती है और वह उचित ही है। सालवाई की सुलह में अङ्गरेज़ों को जो साष्टी बंदर मिला वह उनकी उस हानि का उचित बदला नहीं था जो उन्होंने पांच सात वर्षों तक युद्ध करके उठाई थी।

सालवाई की संधि के बाद, पेशवाई के अंत तक, अंगरेज़ मराठों के बहुत से राजनीतिक झगड़े हुए और युद्ध भी बहुत हुए। इनमें जो बात मराठों को बहुत खटकती थी वह यह थी कि मराठों को अंगरेज़ों के कोई भी समाचार नहीं मिलते थे। घर-भेदू लोग प्रायः सब स्थानों में होते ही हैं; परंतु पेशवाई में इनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी। मराठी सेना के विचार और कार्य अंगरेज़ों को सदा मालूम होजाते थे; परंतु अंगरेज़ों का एक भी समाचार मराठों को नहीं मिलता था। यह कितने भारी आश्चर्य की बात है कि अंगरेज़ों का घर-भेदू मराठों को एक भी नहीं मिला।

अंगरेज़ों के समाचार मराठों को ना मिलने का मुख्य कारण यह है कि उनकी रहन-सहन, भाषा और रीति रिवाज हम लोगों से भिन्न हैं। जब कि बिना प्रयोजन के वे

हमसे बोलते तक नहीं हैं तो हमसे मिलकर रहने की तो बात ही क्या है? उनमें जात्यभिमान की मात्रा बहुत अधिक है और इसलिए वे भारतवासियों से दूर रहते हैं। यही कारण है कि उनके विचार और समाचार बाहर नहीं फूटने पाते। और इसी कारण से उनके सम्बन्ध में झूठी अफवाहें नहीं उड़ पातीं। अंगरेज़ों से युद्ध करने में, सिंधिया और भोंसले का पराजय हो जाने पर भी, मराठों को यशवंतराव होलकर पर विश्वास था कि यह कभी न हारेगा; अतः जब होलकर और अंगरेज़ों का युद्ध छिड़ा तब पूने के बाज़ार में होलकर की विजय के समाचार बार बार फैलने लगे। इन समाचारों में अतिशयोक्ति और असंगतता बहुत अधिक रहती थी। ये समाचार उत्तर भारत से जो पत्र आते थे उनमें लिखे रहते थे। और खुद पूने में जो समाचार उड़ते थे उनमें कोई कोई तो बहुत ही विचित्र होते थे। जैसे, एक समाचार फैला था कि "होलकर ने अंगरेज़ों को पकड़ा है; उनमें से तीनसौ अंगरेज़ों की नाक काटकर उन्हें छोड़ दिया है, जिनमें से दो सौ यहाँ आये हैं। उन्हें यहाँ के अंगरेज़ों ने विलायत भेजने के लिए बंबई भेजा; परंतु बंबईवाले अङ्गरेज़ों ने इस भय से कि यदि ये नकटे विलायत जावेंगे तो वहाँ अपनी बदनामी होगी और दंड मिलेगा, उन्हें जहाज़ में बैठाकर समुद्र में डुबो दिया।"

यद्यपि इन समाचारों पर समझदार लोगों को विश्वास नहीं होता था तथापि सामान्य लोगों को तो ये सत्य मालूम होते होंगे, इसमें संदेह नहीं। पटवर्धन का पूना दरबार में रहनेवाला वकील अपने मालिकों को होलकर की विजय

और अङ्गरेज़ों की पराजय के ही समाचार सदा दिया करता था। एक पत्र में वह लिखता है कि "डाक में समाचार आये हैं कि होलकर की प्रबलता है। जलचर (अङ्गरेज़) पेंच में पड़ गये हैं। और सिंधिया का चंद्र (छ) ६ सावन का पत्र आया उसमें लिखा है कि होलकर बहुत प्रबल है। उन्होंने लील (Lord Lake) साहब की पलटनें डुबादी हैं। वह दस बारह पलटनें लेकर यमुना नदी के पार लखनऊ की ओर जा रहा था। उसे होलकर ने चारों ओर से घेर लिया।" इतना लिखकर वह वकील अङ्गरेज़ों के घर का गुप्त समाचार जो उसने बड़ी खोज से प्राप्त किया था इस प्रकार लिखता है— "ताः १६ रमजान को अङ्गरेज़ों के समाचार मिले कि अङ्गरेज़ (पूनावाले) भोजन करने को जा रहे थे। इतने में डाक आई। अतः तीन चार आदमी कुर्सी पर बैठकर पत्र पढ़ने लगे। तीन पत्र देखने के बाद सिर की टोपी ज़मीन पर पटक दी; आँखों में से आँसू गिरने लगे। जो चौकीदार लोग थे उन्हें दूर दूर खड़ाकर दिया और फिर सब लोग कुर्सी पर बैठकर कौंसिल करने लगे। फिर, एक अङ्गरेज़ ने एक अधिकारी का हाथ पकड़कर उठाया।" वकील ने किसी बटलर को सौ पचास रुपये देकर अङ्गरेज़ों का यह समाचार ख़रीद किया और अपने स्वामी को लिख भेजा। इस समाचार से उसके मालिक को कितना समाधान हुआ होगा इसका निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

यहाँ तक, संक्षेप में, हमने इस बात का विचार किया कि अङ्गरेज़ों ने हमारा पूना-सितारा क्यों लेलिया और हम उन का कलकत्ता-मद्रास क्यों न ले सके। देशाभिमान-शून्यता,

समूह रूप से कार्य करने की अयोग्यता, स्वार्थ-साधन की अपरिमित अभिलाषा, उदासीनता, दूसरे की अञ्जली से पानी पीने की आदत आदि दुर्गण ही, जो हमारे ख़ून में मिल गये हैं, हमारे राज्य के नाश के कारण हुए हैं। इन दुर्गणों से युक्त कोई भी पूर्वी राष्ट्र, सुधरे हुए पाश्चात्य राष्ट्र के आगे, विरोध में कभी न टिक सकेगा। हिन्दुस्तान यदि अङ्गरेज़ों ने न लिया होता, तो फ्रेंचों ने लिया होता। प्रवाह में पड़े हुए बर्तन यदि आपस में टकरावें तो यह निश्चय है कि उनमें से मिट्टी का ही बर्तन फूटेगा, लोहे का नहीं। आजकल का समय कह रहा है कि या तो हम पाश्चात्यों की बराबरी करें या उनके मज़दूर होकर रहें। राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक, कला-कौशल, भौतिक शास्त्र का उपयोग आदि प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। यदि हममें पाश्चात्यों की बराबरी करने का साहस हो तो इस लेख में बतलाये हुए दुर्गण हमें छोड़ना चाहिए। हमारा स्वराज्य इन्हीं दुर्गणों से नष्ट हुआ है और यदि अब हम सावधान न हुए तो नवीन रीति से स्वराज्य का मिलना व्यर्थ ही है। इतिहास डिंडिम का यह घोष प्रत्येक भारतवासी के कान पर गूँजते रहना चाहिए।

मिरज,
ता: ८—६—१६१८

वासुदेव वामन खरे।

प्रस्तावना ।

—:०:—

ठीक सौ वर्ष के पहले पूना की मराठाशाही नष्ट हुई। यह पुस्तक उसीका प्रथम शत-सांवत्सरिक वाङ्मय श्राद्ध है।

मराठाशाही का वास्तविक अन्त किस दिन हुआ, इसके विषय में मतभेद होने की सम्भावना है। कितने ही लोग इस दिन को १२ फर्वरी, सन् १७६४ मानते हैं, क्योंकि उस दिन प्रसिद्ध मराठा वीर महादजी सिन्धिया की मृत्यु हुई। महादजी सैनिक-दृष्टि से मराठाशाही के प्रधान आधार-स्तम्भ थे, इसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

कितने ही लोग इस दिन को १३ मार्च, सन् १८०० मानते हैं, क्योंकि उस दिन विख्यात मराठा राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस की मृत्यु हुई। नाना के सम्बन्ध में अङ्गरेज़ इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में यह लिख रक्खा है कि नाना के साथ मराठाशाही की सब बुद्धिमत्ता नष्ट हो गई।

कितने ही लोग इस दिन को ३१ दिसम्बर, सन् १८०२ मानते हैं, क्योंकि उस दिन वसई की सन्धि हुई और बाजीराव अङ्गरेज़ों का गुलाम बन गया और अङ्गरेज़ों की मध्यस्थतारूपी पच्चड़ से मराठी राज्य के केन्द्र (हृदय) के अनेक टुकड़े टुकड़े हो गये।

कितने ही इस दिन को ता० २३ सितम्बर, सन् १८०३ मानते हैं, क्योंकि उस दिन वसई के संग्राम में सिन्धिया का प्रत्यक्ष पराभव होकर मराठे सरदारों का संघ टूट गया और यह संसारप्रसिद्ध हो गया कि अब मराठाशाही के प्रबल होने का कोई मार्ग नहीं है।

कितने ही इस दिन को ता० १७ नवम्बर, सन् १८१७ मानते हैं, क्योंकि उस दिन पूना में शनिवार वाड़े (पेशवाओं के राज-प्रसाद) पर अङ्गरेज़ों का झण्डा खड़ा किया गया।

कितने ही उस दिन को ता० ३ जून, सन् १८१८ मानते हैं, क्योंकि उस दिन बाजीराव ने असीरगढ़ के निकटवर्ती ढोलकोट में जनरल मैलकम के हाथ में आत्म-समर्पण कर उनके हाथ पर राज्य-दान के सङ्कल्प का उदक छोड़ दिया।

कितने ही लोग उस दिन को ता० १६ मई, सन् १८४६ मानते हैं, क्योंकि उस दिन मराठाशाही की जड़, सतारा का राज्य, खालसा कर लिया गया।

ऊपर की छः सात तारीख़ों में से कौनसी तारीख सच्ची श्राद्ध-तिथि मानी जाय, यह अपने अपने विचारों की बात है। साधारणतः सन् १८१७—१८ का वर्ष ही मराठा-शाही के अन्त का संवत्सर माना जाता है और यही हमको भी ग्रहण करने योग्य जान पड़ता है।

प्रति सांवत्सरिक श्राद्ध तिथि को ही किया जाता है, किन्तु शतसांवत्सरिक श्राद्ध वर्ष भर में किसी भी दिन करने से काम चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक ठीक ता० ३ जून, १९१८ को प्रकाशित करने का विचार पहले था उसको पूर्ण करने का कार्य स्थिल पड़ गया था; परन्तु कुछ समय के बाद यह निर्णय होने पर कि हम लोगों को मार्च मास में भारत के बाहर

जाना पड़ेगा और कदाचित् हम सन् १६१६ के पहले यहाँ पहुँच न सकेंगे, इसलिए पुस्तक को प्रकाशित करने का काम यथासम्भव शीघ्र समाप्त कर लेना पड़े।

जब से मराठे और अङ्गरेज़ों में सम्बन्ध स्थापित हुआ, उस समय से लेकर पेशवाई के अन्त होने के समय तक—केवल इन दोनों के विषय का ही—का संक्षिप्त इतिहास इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में दिया गया है। उत्तरार्द्ध में कुछ प्रधान प्रधान बातों का ही वर्णन है। इसपर भी यदि अङ्गरेज़ और मराठों के सम्बन्ध में पूर्ण और अपनी इच्छा के अनुकूल विवेचन करना हो तो इतनी ही बड़ी और एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी। हमने जो मसाला एकत्रित किया है उससे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है और सम्भव है कि यदि पूरा समय मिल गया तो कदाचित् ऐसा हो भी जायगा। यह हमें मालूम है कि वर्त्तमान पुस्तक में विचार किये हुए अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सका है जिससे कुछ भाग केवल याददाश्त के समान बन गये हैं।

वास्तव में वर्त्तमान पुस्तक के समान पुस्तक ऐसे मनुष्य द्वारा लिखी जाने की आवश्यकता थी, जिसने अपनी सारी ज़िन्दगी भर इतिहास का अध्ययन किया हो। फिर भी, हमारी प्रार्थना पर, इस पुस्तक का उपोद्घात लिखना गु० रा० रा० वासुदेव वामन शास्त्री खरे महोदय ने स्वीकार किया। इसके लिए हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

पूना, ता० ७ मार्च, सन् १६१८ } नरसिंह चिन्तामणि केलकर।

अनुवादक का वक्तव्य।

—:०:—

मराठी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुक्त नरसिंह चिंतामणि केलकर की लिखी हुई गवेषणापूर्ण पुस्तकों से हिन्दी-संसार अपरिचित नहीं है। जिन्होंने उनका "आयर्लैण्ड का इतिहास" नामक ग्रंथ देखा है वे कह सकते हैं कि केलकर महोदय की प्रतिभा, तर्क-प्रणाली, चिकित्सक बुद्धि एवं निष्पक्षभाव आदि गुण कितनी उच्च श्रेणी के हैं। प्रस्तुत पुस्तक "मराठे और अंगरेज़" में भी हमें इन्हीं गुणों का समावेश मिलता है। यह पुस्तक बहुत महत्त्व की है, और मराठी साहित्य में इस का बहुत कुछ आदर हुआ है। विद्वान् लेखक ने बड़ी गंभीरता के साथ यह सिद्ध किया है कि अंगरेज़ मराठों के उत्तराधिकारी हैं न कि मुसमानों के; और अपने इस प्रयत्न में वे अच्छी तरह सफल हुए हैं। साथ ही साथ उन्होंने महाराष्ट्र भाइयों ही के स्वभाव की नहीं, वलिक भारत वासियों के स्वभाव की, भी मीमांसा की है और हमारे गुणावगुणों का फल उदाहरण रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है। ऐसी पुस्तक का मनन भारतवासी मात्र के लिए आवश्यक समझ हमने हिन्दी में इसका अनुवाद करना उचित समझा। हर्ष है कि हमारा प्रयत्न आज पाठकों के सम्मुख उपस्थित होता है। मूल पुस्तक बहुत कठिन है। उसमें वह भाग तो बहुत ही कठिन है जो प्राचीन मराठाशाही से सम्बन्ध रखता है। हमने यथाशक्ति प्रयत्न कर लेखक के भावों की रक्षा की है; तो भी कहीं त्रुटियाँ रह गई हों, तो आशा है कि हमारे पाठक

क्षमा करेंगे। इस कार्य में मुझे मेरे मित्र श्रीयुक्त डाक्टर मोरेश्वर सखाराम रानडे और श्रीयुक्त त्र्यंबक बलवंत गोगटे बी. ए. ने जो आवश्यकतानुसार सहायता की है, उसके लिए मैं इनका आभारी हूं।

मूल ग्रंथकार श्रीयुक्त केलकर महोदय का तो मैं बहुत ही उपकृत हूँ जिन्होंने कृपाकर बड़ी उदारता के साथ मुझे अनुवाद करने और उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दी।

मैं समझता हूँ कि मेरे ही समान पाठकगण भी शारदा-पुस्तक-माला के अनुगृहीत होंगे जिसके संचालकों की कृपा से ऐसा अमूल्य ग्रंथ हिन्दी-संसार में प्रकाशित होसका।

सूरजमल जैन।

(इन्दौर)

विषयानुक्रमणिका ।

पूर्वार्ध

उत्तरार्ध

——:०:——

मराठे और अङ्गरेज़ ।

(मराठा-शाही के एक सौ वर्ष का वाङ्मय श्राद्ध)

प्रकरण पहला

अङ्गरेज़ों के पहले का महाराष्ट्र ।

मराठों और अङ्गरेज़ों की सबसे पहली भेंट कहाँ और कब हुई इसका विश्वस्त लिखित प्रमाण नहीं मिलता और न परिश्रमी और सूक्ष्म-दृष्टि तिहास-संशोधक ही इसका अनुमान बाँध सकते हैं। ब इन दोनों की पहली भेंट हुई होगी तब ये दोनों क दूसरे को पहिचानते भी न रहे होंगे। जिस समय ङ्गरेज़ पहले पहल यहाँ आये थे उस समय इस देश र मुसलमानों का राज्य था और इसलिए उनकी ष्टि में मुसलमानों का महत्व जमना स्वाभाविक था। र मराठों की ओर उनका लक्ष्य जाता तो क्यों जाता?

सूरत अथवा कोकण के अन्य बन्दरों पर जहाज़ से उतर कर अङ्गरेज़ लोग सीधा दिल्ली का रास्ता पकड़ते थे। इधर मराठों ने उन दिनों अङ्गरेज़ों का नाम भी न सुना रहा हो तो आश्चर्य क्या। क्योंकि उस समय भारत में डच और पोर्तगीज़ व्यापारी ही प्रायः आते जाते थे। इसलिए टोपीवालों में टोपीवालों के मिल जाने से मराठों का भी इनकी ओर विशेष रीति से ध्यान जाने का कोई कारण नहीं था। मराठों को देखकर अङ्गरेज़ों ने भी समझा होगा कि नीचे सूतना जिस पर पैरों तक लटकनेवाला अङ्गरखा और सिर पर विचित्र पगड़ी पहिननेवाले ये लोग किसी आधी जङ्गली जाति के मनुष्य हैं। इसी तरह टोकनी के समान अङ्गरेज़ों की टोपी, उनके गले में बड़ा लम्बा चौड़ा गलपट्टा और उनका गोरा रङ्ग देखकर मराठे कहते रहे होंगे कि ये कैसे विचित्र प्राणी हैं? अभी भी खेड़ों में मेवो, चाकू आदि बेचने वाले काबुलियों के आने पर जिस तरह बालक उनके आसपास इकट्ठे हो जाते हैं, उसी तरह अङ्गरेज़ व्यापारियों को देख कर उस समय भी ऐसेही इकट्ठे होते रहे होंगे। पहले पहल के अङ्गरेज़ प्रवासियों ने भारत-वासियों का जो वर्णन लिखा है उसमें भी खेड़ों के लड़कों की कौतूहल-पूर्ण दृष्टि की झलक दिखाई देती है, और यह ठीक भी है; क्योंकि दो विदेशियों की पहिली भेंट एक दूसरे को आश्चर्य में डालनेवाली ही होती है।

नोट—डच हालैंड देश-निवासी। पोर्तगीज—पोर्तगाल देश-निवासी। * सब गोरी जातियां यहाँ वालों की दृष्टि में, रहन-सहन समान होने से, एक सी दीखती थीं जिससे वे सबको फरंगी कहा करते थे।

इस पहली भेंट के समय अङ्गरेज़ों को, यह कल्पना भी न हुई होगी कि किसी दिन इनका राज्य जीत कर हमलोग इनके स्वामी बन बैठेंगे और न मराठों ने ही सोचा होगा कि हमारे सन्मुख नमन करनेवाले, विनय एवं शिष्टाचार-पूर्वक बोलने वाले तथा ग्राहकों को प्रसन्न करने की चेष्टा करनेवाले ये नये नये व्यापारी एक दिन हमारे राजा होंगे; परन्तु दैव की लीला विचित्र है। उसके योग से जगत् में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ हुआ करती हैं जिनमें से छः हज़ार मील के समुद्रीय मार्ग को पार करते हुए व्यापारी बन कर अङ्गरेज़ों का यहाँ आना और फिर इस देश के स्वामी बन जाना एक है। इतिहास में इतनी दूरी पर रहने वाली जातियों में इतना निकट सम्बन्ध हो जाने का शायद यह पहला ही उदाहरण है। अब जगत् में कोई भी मनुष्य ऐसे नहीं दिखाई देते जो अनादिकाल से किसी एक ही देश के निवासी हों। हज़ारों वर्ष पहले वर्तमान मनुष्य समाज के पूर्वज अपना निज स्थान छोड़ कर भिन्न भिन्न देशों में जा बसे थे जिसका पता भी अब उनके वंशजों को नहीं है। इसलिए मानव-वंश का उत्पत्ति-स्थान शोधने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त होने पर भी उसका स्थानीय देशाभिमान शायद ही नष्ट हो, और उस देशाभिमान के बदले विश्व-बन्धुत्व या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उसके हृदय में जागृत हो सके। यदि हम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय की उपपत्ति के अनुसार यह भी मान लें कि आर्य-जाति उत्तर-ध्रुव से क्रमशः नीचे नीचे भूमध्य-रेखा पर्यन्त आई है तो भी भारतवर्ष में उन लोगों का निवास इतने दीर्घ काल से है कि उन्हें इस बात का भान अथवा विश्वास ही नहीं हो

सकता कि हम यहाँ विदेशी हैं । अङ्गरेज़ों के और हमारे पूर्वज उत्तर-ध्रुव के पास किसी एक ही स्थान में चाहे भले ही रहे हों, पर यह बात मनुष्य-समाज की स्मृति-पटल पर अब नहीं रही और साहित्योत्पत्ति से भी पहले की होने के कारण अब उस पर अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता भी नहीं है। अब तो यही मानना उचित है कि अनादिकाल से हम हिन्दू-आर्य भारत के और अङ्गरेज़ यूरोप के निवासी हैं। कुछ भी हो, मराठे और अङ्गरेज़ चाहे आदिकाल के भाई-बन्धु हों अथवा न हों; पर अब इस प्रकार उनका निकट सम्बन्ध हो जाना एक महान् आश्चर्य की बात अवश्य है।

सतहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में, हिन्दुस्थान में, एक ही समय पर दो राजसत्ताएँ उदयोन्मुख हुईं, जिनमें से एक तो अङ्गरेज़ों की थी जो यहाँ पहले पहल नवीन अस्तित्व में आनेवाली थी और दूसरी मराठों की थी जिसका कि पुनरुज्जीवन हो रहा था। तेरहवीं शताब्दि के पहले यहाँ प्रायः हिन्दुओं का ही राज्य था; पर उनमें पहले के समान एक भी ऐसा सम्राट् नहीं था जिसका शासनाधिकार सम्पूर्ण भारत में रहा हो । उस समय सम्पूर्ण देश में दश-बीस स्वतन्त्र राजा थे और शेष इनके जीते हुए, अथवा इनके आश्रय में रहने वाले उपराजा, माण्डलिक नायक, जागीरदार, मालगुज़ार, पटेल आदि थे । हिन्दुस्थान में स्थानीय स्वतन्त्रता की परिपाटी बहुत प्राचीन है। पहले के विजयी राजा ज़्यादह से ज़्यादह यदि कुछ करते तो केवल इतना कि अपना कर लेकर लौट जाते थे। विजिगीषा कितनी ही प्रबल क्यों न हो; पर वे आजकल के समान जीते हुए देश से गोह के समान चिपट नहीं जाते थे और न जोंक के

समान देश का रक्त पी पी कर पेट-भर जाने पर ही उसे छोड़ते थे। भारत में देश-विजय, केवल कीर्ति और शौक़ के लिए की जाती थी, पेट के लिए नहीं। महाभारत अथवा रामायण में दिग्विजयों का जो वर्णन है उससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में दिग्विजय के लिए निकला हुआ वीर अपने प्रति-पक्षी के नमन करने अथवा सन्मान-पूर्वक आश्रित हो जाने पर लौट जाता था। यदि कोई राजा किसी दूसरे राजा को जीतता था तो उसके राज्य में अपने प्रतिनिधि को सदा के लिए नहीं रखता था और यदि रखता भी था तो इन प्रतिनिधियों का अधिकार उसकी अन्तर-राज्य-व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का नहीं होता था। उस समय "उत्तर-दायित्व" का अर्थ कुछ दूसरा माना जाता था। यदि किसी स्वाभिमानी राजा को अपनी सभ्यता श्रेष्ठ मालूम होती थी तो भी वह उसे दूसरों पर लादने या बलात् दूसरों के मुंह में ठूँसने का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता था। अशोक आदि राजाओं ने भी दूसरे देशों को जीता था; पर पराजित लोगों की अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करने की आकांक्षा कभी नहीं की। धर्म, रीति-व्यवहार, न्याय, शिक्षा, प्रबन्ध, ग्राम-व्यवस्था, व्यापार, उद्यम आदि बातें सनातन-पद्धति के अनुसार करने की स्वतंत्रता लोगों को पूर्णरूप से थी, और राज्याधिकारी तथा प्रजा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कभी कभी ही हुआ करता था। प्रत्येक जाति की पञ्चायत रहा करती थी। इन्हीं पञ्चायतों के द्वारा राजाज्ञा का पालन कराया जाता था। विजित राष्ट्र कर देते थे और उस कर का भार ग्राम्य संस्था पर हुआ करता था। ग्राम्य संस्था के सिवा दूसरा कोई अधिकारी नहीं माना जाता था।

मुसलमान लोग हिन्दुस्थान में तेरहवीं शताब्दि के अन्त में आये। उनके समय में उक्त स्थिति में कुछ थोड़ा सा अन्तर पड़ा। ये लोग विदेशी थे; अतः इनकी विजय केवल कीर्ति के लिए नहीं हुआ करती थी। पश्चिम के समान पूर्व में भी जहाँ जहाँ ये लोग गये वहाँ वहाँ इन्होंने सदा के लिए अपना डेरा डाला और अपना तथा अपने अनुयायियों के पेट भरने का भार विजित देश की प्रजा के मत्थे मढ़ा। केवल कर लगाने से इन्हें सन्तोष नहीं होता था। अपनी आजीविका चलाने और आमोद-प्रमोद के लिए इन्हें वार्षिक वसूली की आवश्यकता दीखने लगी; इसलिए प्रजा पर कर का बोझ स्थायी रूप से शासक रखते थे तो भी उन्होंने ग्राम-संस्था की व्यवस्था में कभी हाथ नहीं डाला। धर्म का प्रसार करने की ओर उनका पूरा लक्ष्य था; पर उसका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेषों से ही था। ये लोग यहाँ परदेश से तो आये थे; पर इन्होंने मूल देश से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दिया और भारत को अपना देश मान लिया था। यहाँ पर स्थायी-निवास करने के कारण उन्होंने अपने घर-द्वार यहीं बनवाये। यहीं खेती-बाड़ी की और व्यापार-उद्यम भी यहीं प्रारम्भ किया। मस्जिद आदि पवित्र भवन भी यहीं बाँधे। यहाँ का पैसा यहाँ ही ख़र्च किया। सारांश यह कि मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुस्थान को ही अपना देश माना और यहीं का देशाभिमान रक्खा। दूसरी बात यह है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं को विजित होने के कारण अधिकार-भ्रष्ट नहीं किया। गाँवों की दफ्तरदारी, परगनों और महालों की ताल्लुक़ेदारी, प्रान्त की सूबेदारी और सेना की सरदारी मुसलमानी ज़माने में हिन्दुओं को भी मिला करती थी, और उनमें से यदि कोई

हिन्दू मुसलमान हो जाता था तो फिर पूछना ही क्या था? विलायती अथवा देशी मुसलमान का भेद बादशाह की दृष्टि में कुछ भी नहीं होता था। किम्बहुना, मुसलमानों का हिन्दू स्त्रियों से सम्बन्ध करने में आपत्ति न होने के कारण हिन्दुओं को बादशाहजादों तक के अधिकार मिलना शक्य था। कहा जाता है कि अहमदनगर की बादशाही, बरार की इमादशाही का पहला राजा, दोनों, जन्म से ब्राह्मण थे। मुसलमान लोग आलसी, आराम-तलब और अभिमानी होने के कारण स्वतः कभी कोई राज-काज नहीं करते थे, यहाँ तक कि अपनी जवाबदारी के काम को भी जहाँ तक बनता वहाँ तक दूसरों अर्थात् हिन्दुओं पर ही डाल देते थे और उन्हींसे वे काम लेते थे। इन सब कारणों से हिन्दुओं को यह भान नहीं होता था कि हम स्वदेशी होने पर भी विदेशियों के अधीन हैं। किंबहुना, वे यही समझते थे कि मुसलमान राज्य हमारे ही भरोसे राज करता है और इसीलिए वे बादशाही नौकरी करना बड़े सन्मान और प्रतिष्ठा की बात मानते थे। उस समय अभिजात-वर्ग को नेतृत्व ग्रहण करने में प्राचीन प्रतिष्ठा के साथ साथ नवीन सन्मान प्राप्त करने का भी अवसर था। मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दुओं की प्राचीन जागीरें भी क़ायम रहीं और नवीन भी मिलीं। मुसलमान राजा उत्तर हिन्दुस्थान में केवल उदयपुर को छोड़ अन्य सब राजपूत राज्यों को विजित कर उनके स्नेह-भाजन बने। सोलहवीं शताब्दि में दक्षिण में भी मुसलमान राजाओं का स्वामित्व न मानने वाला और उनसे विरोध करने वाला विजयनगर के राजा के सिवा और कोई नहीं रहगया था। दक्षिण-समुद्र के समीप मुसलमानों का राज्य

अन्ततक स्थापित न हो सका, जिससे भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार हिन्दू और द्रविड़, अर्थात् अनार्य राजा वहाँ स्वतंत्र राज्य करते रहे।

तेरहवीं शताब्दि से सोलहवीं शताब्दि तक मुसलमानों का राज्य अबाधित रीति से चला। उत्तर हिन्दुस्थान में इनका जितना विशेष प्रभाव था दक्षिण में उतना ही कम था। यद्यपि उत्तर-भारत की अपेक्षा दक्षिण में मुसलमानी स्वतन्त्र राज्य पहले स्थापित हो गये थे और वे दिल्ली के बादशाह की अधीनता से स्वतंत्र हो गये थे, तोभी इन राज्यों के छोटे होने के कारण इन्हें हिन्दू अधिकारी तथा हिन्दू प्रजा के प्रेम पर अवलम्बित रहना पड़ता था। दक्षिण में मुसलमान राजाओं के आश्रित हिन्दू सरदार ही, उनके राज्य के स्तम्भ थे। दिल्ली के पास से ही मुसलमानी स्वतन्त्र राज्यों की सीमा लग जाती है और वह ठेठ कांस्टण्टिनोपल पर्यन्त पहुँच जाती है। अधिक क्या, हिन्दुस्थान के मुसलमानी राज्य को यदि एशिया-खण्ड के मध्यवर्ती मुसलमानी राज्य-वृक्ष की शाखा कहा जाय तोभी अनुचित न होगा। इसलिए दिल्ली के दरबार में प्रायः अन्य मुसलमानी देशों से आये हुए असल मुसलमानों का आगमन सदा होता रहता था और उनके यहाँ निवास तथा धर्म-प्रचार करने के कारण दिल्ली के आसपास मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी; परन्तु दक्षिण देश में यह बात नहीं थी। दक्षिण में आने के लिए इनके मार्ग में दो बातें विघ्नरूप थीं—एक तो दक्षिण देश बहुत दूरी पर था; दूसरे, दक्षिण के मुसलमानी राज्य आरम्भ से ही ब्राह्मणी अर्थात् ब्राह्मणों की कृपा से स्थापित होनेवाले राज्य थे; इसलिए इन लोगों

का झुकाव स्वभावतः न्यूनाधिक रूप में हिन्दुओं की ही ओर था। जिस तरह ज़ुल्फ़िक़ारखाँ को एक ब्राह्मण ने दासत्व से छुड़ाया उसी तरह दिल्ली के बादशाह के विरुद्ध विद्रोह कर अपने राज्य को उससे स्वतन्त्र कर लेने में भी उसके सहायक हिन्दू ही हुए। फिर दक्षिण में मुसलमानों की बस्ती कम थी, इसलिए उनकी रीति-रिवाजों का प्रभाव भी हिन्दुओं पर न पड़ सका; प्रत्युत हिन्दुओं का अधिकांश में उन पर पड़ा। किसी भी ओर से देखा जाय, यही विदित होगा कि दक्षिण में मुसलमानी राज्य स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं को अपने अधिकार और प्रभाव के कम होने की शिकायतें करने के कारण अधिक नहीं थे।

दक्षिण में, मुसलमानी शासन, मराठों को अधिक असह्य नहीं मालूम हुआ। इसका कारण यह है कि राजा के मुसलमान होने पर भी देश-प्रबन्ध और सेना-सम्बन्धी कार-बार प्रायः हिन्दुओं के ही हाथ में रहता था। उनके साथ धर्म-छल सहसा नहीं किया जाता था और राज्य की ओर से फ़क़ीरों के समान ब्राह्मणों को भी वंश-परम्परा के लिए धर्मार्थ दान दिया जाता था। यह प्रसिद्ध ही है कि बीजापुर का एक बादशाह दत्तात्रय का भक्त था। क़िलों की सनदें मुसलमान सूबेदारों के नाम पर भले ही दी जाती रही हों; पर वास्तव में देखा जाय, तो सत्ता काम-काज करनेवाले हिन्दू कर्मचारियों के ही हाथ में रहती थी। सरदार मुरारराव गोवलकोंडा के एक बादशाह के दीवान थे। इसी तरह वहाँ के अन्तिम बादशाह पर मदन पण्डित नामक एक ब्राह्मण का इतना प्रभाव था कि उसके कारण बादशाह की और शिवाजी की मैत्री अबाधित रूप से सदा

रही। दादो-नरसू काले, मलिक अम्बर के समान ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने बादशाह की रियासत में ज़मीन के लगान की व्यवस्था बहुत अच्छी की थी। अहमदनगर के दरबार की ओर से मुग़ल दरबार में जानेवाले वकील प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। बुरहानशाह का एक प्रधान मन्त्री ब्राह्मण था। बीजापुर के दरबार में एसू पण्डित नाम का ब्राह्मण 'मुस्तहफ़ा' का काम करता था। गोवलकोंडा दरबार के आकण्णा और मादण्णा नामक दो मन्त्री प्रसिद्ध ही हैं। मराठे सरदारों को भी बड़ी बड़ी मनसबदारियाँ दी जाती थीं। एक बहमनी बादशाह ने २०० मराठे शिलेदारों को अपना शरीर-रक्षक नियत किया था। वाघोजी जाधव राव नामक एक मराठा सरदार ने बादशाहों को गद्दी पर बैठाने और पदच्युत करने के खेल कईबार खेले। इससे उसे यदि ब्राह्मणी बादशाही का 'किङ्ग-मेकर'—राजा गढ़नेवाला—कहा जाय तो अनुचित न होगा। मुरारराव जाधव ने एक बार बीजापुर दरबार की इज़्ज़त बचाई थी। शहाजी ने बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में बहुत ऐश्वर्य प्राप्त किया था और अहमदनगर के बालक बादशाह को अपनी गोदी में बिठला कर अनेक वर्षों तक बादशाही शासन किया था। शिरके, जाधव, निम्बालकर, घाटगे, मोरे, महाडीक, गूजर, मोहिते आदि सरदार स्वयं बड़े बलवान् थे और अपने पास दश दश बीस बीस हज़ार सेना रखते थे। ये सब मुसलमानी राजाओं के ही आश्रित थे। इन "ब्राह्मणी मुसलमानी" राज्यों से इस प्रकार स्नेहभाव रखनेवाले मराठे, जब दक्षिण पर मुग़लों के आक्रमण होते, तब उग्ररूप दिखाने लगते थे। मराठों ने मुग़लों के साथ क़रीब दो सौ वर्षों तक युद्ध किया और अपनी

सम्पूर्ण सत्ता उनके हाथों में कभी नहीं जाने दी। मुग़लों के आक्रमण के दो सौ वर्ष पहले से तैयार होनेवाली क्षात्र और कर्तृत्व-भूमि में जो स्वातन्त्र्य-बीज डाला गया था उसमें मुग़लों के हिन्दू-धर्म-नाशक-नीति की तथा हिन्दुओं की स्वतन्त्रता अपहरण करने की गर्मी पाकर अङ्कुर फूट निकला और समय पा वह वृक्ष बन गया जिसमें कि छत्रपति शिवाजी के समय में स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य का मिष्ठ और उत्तम फल लगा।

हिन्दू लोगों में एक ऐसा भी समुदाय था जिसने मुसलमानी शासन के आगे कभी सिर नहीं झुकाया था, यद्यपि वह इस शासन में पूर्ण स्वतंत्र नहीं था, तो भी स्वतंत्रप्राय अवश्य था। चौदहवीं शताब्दि में जब मुसलमानी सत्ता का प्रवाह महाराष्ट्र देश में पहुँचा, तो क्षणभर के लिए उसने मराठों को अवश्य झुका दिया; परन्तु शीघ्रही इन लोगों ने समुद्र में डुबकी लगाने वालों के समान उस प्रवाह पर आक्रमण किया और जैसे वे, प्रवाह का पानी मुँह में लेकर उसे उस प्रवाह परही थूक देते हैं उसी प्रकार मराठों ने भी किया। सारे हिन्दुस्थान में यदि कोई थे जिन्हें मुसलमानों ने पूर्णरीति से कभी जीता न हो, तो वे केवल मराठे थे। युद्ध-वीर राजपूत भी अन्त में मुसलमानों की शरण में गये; पर मराठों ने कभी ऐसा नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कदाचित् महाराष्ट्र-भूमि का ही यह प्रताप हो कि यहाँ सदा स्वातन्त्र्य बुद्धि की ही फ़सल होती रही हो। यह कहना कि महाराष्ट्र देश की नदियों का जल भी ऐसा ही स्वातंत्र्य-बुद्धि-वर्द्धक है शायद भाषालङ्कार कहलाये; परन्तु महाराष्ट्र की भौगोलिक रचना, उसके आसपास की पर्वत-

श्रेणियाँ, खोहें, वहाँ की पर्वतीय समशीतोष्णवायु आदि बातों का असर मराठों पर पड़ा हो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। यदि महाराष्ट्र के पहाड़ी क़िलों को ही देखा जाय, तो उनमें से एक आध क़िले के मस्तक पर खड़े हो कर चारों ओर नज़र फेंकने वाले को यह भान हुए बिना नहीं रहेगा कि जिनके अधिकार में ये क़िले थे वे यदि जगत् को तुच्छ समझते रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जब तक कि पल्लेदार तोपों का आविष्कार नहीं हुआ था और उनके द्वारा कोस आध कोस पर से क़िले की तटबन्दी धराशायी नहीं की जा सकती थी, तब तक ये क़िले स्वतंत्रता-निधि के संरक्षण के लिए मज़बूत फौलादी सन्दूकों के समान थे। इन क़िलों के आश्रय में रहने वाले लोग, साहसी, चपल और कष्ट-सहिष्णु होते थे; अतः उन्हें दूसरों के आश्रय में पराधीन होकर रहना सङ्कट-रूप प्रतीत होता था। प्रत्येक महाराष्ट्र-निवासी, मुसलमानों के आने के पहले से चली आई हुई पद्धति के अनुसार अपनी पूर्वजोपार्जित मौरूसी ज़मीन में खेती करता था और उसे सूखा-रूखा जो कुछ मिलता उसीमें सन्तुष्ट रह कर अपने स्वाभिमान की रक्षा करता था। यही कारण है जो महाराष्ट्र की पचास साठ हज़ार वर्गमील भूमि का पट्टा मुसलमान पूर्णतया कभी अधिकृत न कर सके। मराठों की व्यक्तिगत स्वातंत्र्य-प्रियता यद्यपि ग्राम्य संस्था के आड़े कभी नहीं आती थी तथापि एक छत्र-शासन से उन्हें घृणा होने के कारण उन पर ऐसा शासन—विशेष कर परकीयों का—कभी भी बहुत दिनों तक न टिक सका। जब पर-शत्रु उन पर चढ़ कर आता था तब वे कुछ काल तक एक हो जाते थे; परन्तु शान्ति के समय में अपनी

स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण परस्पर कलह किया करते थे। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि मराठों ने परकीय सीथियन लोगों को दो बार पराजित कर भगाया था। परन्तु, चालुक्य, गुप्त, शिलाहार और यादवों ने अनेक बार परस्पर रण-सङ्गम किये। मराठों में अकेले रहने और दूसरों से झगड़े करने का स्वभाव अत्यधिक है; परन्तु है वह स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण। उत्तर-भारत में बारहवीं शताब्दि से ही मुसलमानी शासन थोड़ा-बहुत शुरू हो गया था; परन्तु दक्षिण में आने के लिए उसे दो ढाई सौ वर्षों का समय लग गया और फिर भी वह अधिक समय तक न टिक सका और उस पर भी मावला प्रान्त तथा सह्याद्रि पर्वतमाला के ऊपर के प्रदेश में तो मुसलमानों को कभी स्थान ही नहीं मिला। इतना ही नहीं, दिल्ली की बादशाहत के कमज़ोर होते ही मावले-मराठों ने उस बादशाहत-रूपी भव्य-भवन के पत्थरों को एक के बाद एक निकालना प्रारम्भ कर दिया और अन्त में उन्होंने दिल्ली तथा दिल्ली की बादशाही को हस्तगत कर ५० वर्षों के लगभग साम्राज्य-सत्ता के सुख का अनुभव किया। यद्यपि यह ठीक है कि वे अपनी महत्वाकांक्षा के अनुसार दिल्ली में हिन्दू-साम्राज्य स्थापित न कर सके, तो भी जब अङ्गरेज़ लोग अपनी साम्राज्य-सत्ता स्थापित करने लगे तब उनके काम में मराठों की ही ओर से वास्तविक रोक-टोक हुई। एलफिन्स्टन, सर विलियम हण्टर, सर अलफ्रेड लायल आदि अङ्गरेज़ इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि "हमने भारत की साम्राज्य-सत्ता मुसलमानों से नहीं, मराठों से ली है। मुसलमानों के हाथों से तो यह सत्ता कभी की निकल गई

थी और अन्त में, हमसे (अङ्गरेज़ों से) जो लड़ाइयाँ हुईं वे मुसलमानों से नहीं, मराठों से हुईं"। सारांश यह है कि अङ्गरेज़ साम्राज्य-सत्ता के सम्बन्ध में, मराठों के उत्तराधिकारी हैं, मुसलमानों के नहीं। दक्षिण पर होने वाले मुग़लों के आक्रमण पहले पहल मराठों पर नहीं, विद्रोही मुसलमानी राज्यों पर हुए; इसलिए मुसलमान और मराठे दोनों ने कन्धे से कन्धा मिला कर उनका सामना किया; परन्तु, जब मराठों ने देखा कि मुसलमानी राज्यों की दाल मुग़लों के आगे नहीं गलती, तब उन्होंने स्वयं आत्म-रक्षण की तैयारी की। अहमदनगर का राज्य बचाने के लिए चाँदबीबी, मलिक-अम्बर और शहाजी भोंसले ने बहुत प्रयत्न किये; परन्तु जब वे सफल नहीं हुए और सत्रहवीं शताब्दि के प्रारंभ में अहमदनगर का राज्य मुग़लों ने ले ही लिया तब कितने ही मराठे सरदारों ने मुग़लों के आश्रित हो कर उनकी मनसबदारी स्वीकार कर ली और कई बीजापुर दरबार में चले गये; परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो पूर्ण स्वतंत्र होने का विचार करने लगे। मुग़लों के आक्रमण यदि दक्षिण पर न होते, तो मराठा-साम्राज्य की स्थापना भी इतने शीघ्र न होती। बहमनी राजाओं के आश्रित रह कर मराठों ने जो महत्व प्राप्त किया था वही उनके स्वतन्त्र होने में कारणीभूत हुआ। उससे मराठों में यह भावना होने लगी कि युद्ध मुसलमानों के लिए क्यों किया जाय? हम अपने लिए ही क्यों न करें जिससे कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो? इन लोगों ने महाराष्ट्र के क़िलों की मरम्मत करना पहले से ही प्रारंभ कर दिया था और अकबर ने जो दक्षिण पर आक्रमण किया उसने दक्षिण में मुसलमानी राज्यों को नष्ट करने के साथ साथ

मराठा राज्य की स्थापना के कार्य में सहायता दी। इस प्रकार जब कि सत्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में अङ्गरेज़ लोग व्यापारी कम्पनी की स्थापना कर हिन्दुस्थान में व्यापार करने के उद्योग में लगे हुए थे उसी समय मराठे हिन्दुस्थान में स्वराज्य स्थापना के प्रयत्न में व्यस्त थे। इस समय अङ्गरेज़ लोग मराठों का नाम भी नहीं जानते थे। वे केवल मुग़लों की आज्ञा से अपने जहाज़ हिन्दुस्थान के बन्दरों पर लाकर व्यापारी माल का सौदा करना चाहते थे। इसी प्रकार मराठे भी अङ्गरेज़ लोगों को नहीं पहिचानते थे और भारत में—कम से कम महाराष्ट्र में—तो नष्टप्राय हिन्दू साम्राज्य की प्राणप्रतिष्ठा अवश्य ही पुनः करना चाहते थे और इसके लिए मुग़ल सदृश बलवान् शत्रु से भी भिड़ने को तैयार थे। इस समय अङ्गरेज़ों ने अपने हाथ में तराज़ू और मराठों ने तलवार धारण की थी। दोनों को मुग़लों के अन्तरङ्ग में भिन्न भिन्न रीति से प्रवेश करना था। शिवाजी के जन्म लेने के समय सूरत भर में अङ्गरेज़ों की व्यापारी कोठी को स्थापित हुए केवल पन्द्रह वर्ष हुए थे। इस प्रकार दोनों—मराठे और अङ्गरेज़—उद्योन्मुख थे। आगे इनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हुआ और उसका अन्तिम परिणाम क्या हुआ यह हम आगे के प्रकरणों में बतलावेंगे। परन्तु जिस प्रकार यहाँ मराठों का संक्षिप्त वर्णन हमने दिया है उसी प्रकार हिन्दुस्थान में अङ्गरेज़ों के आने का कारण बतलाना आवश्यक होने के कारण आगे के प्रकरण में इसीका वर्णन किया जाता है।

प्रकरण दूसरा।

अङ्गरेज़ हिन्दुस्तान में क्यों और कैसे आये?

अङ्गरेज़ लोग हिन्दुस्थान में पहले व्यापार के लिए आये। इनके पहले प्राचीन काल से यूरोप में जिन जिन राष्ट्रों का उदय हुआ उनमें से बहुतों का व्यापारी सम्बन्ध हिन्दुस्थान से रहा है। किंबहुना, यह अनुमान भी अनुचित न होगा कि एशिया और उसमें भी भारत का व्यापार जिस राष्ट्र के हाथ में होता था वह राष्ट्र बहुत ऊँचे दर्जे का माना जाता था। कहा जाता है कि ईस्वी सन् के दो हज़ार वर्ष पहले से अर्थात् खाल्डियन लोगों के समय से यह व्यापार यूरोपियन लोग करते आ रहे हैं। यह कहना ठीक हो या न हो; पर इसमें तो सन्देह नहीं कि यूनानी सत्ता के समय से लेकर यूरोप और भारत का व्यापार सम्बन्ध इतिहास द्वारा पूर्ण-तया सिद्ध हो चुका है। इस सम्बन्ध का प्रारम्भ ईस्वी सन् के ३२७ वर्ष पहले भारत पर सिकन्दर बादशाह की चढ़ाई के समय से हुआ। इस चढ़ाई के साथ आये हुए इतिहासकार और वकीलों ने हिन्दुस्थान का परिचय यूरोप-निवासियों को कराया। सिकन्दर को भी इस पहली चढ़ाई के बाद ही यह मालूम हुआ कि हिन्दुस्थान देश

स्थायी रूप से कभी नहीं रहे। शाहजी ने अपनी जागीर के समान अपनी स्त्री जीजाबाई तथा पुत्र शिवाजी को भी त्याग दिया था, मानो उन्होंने नवीन विवाह तथा नवीन जागीर प्राप्त करके और अधिक ऐश्वर्य के साथ रहने का निश्चय किया हो। यद्यपि शिवाजी को पितृ-प्रेम का लाभ नहीं हुआ तो भी अपने पिता की जागीर उन्हें प्राप्त हुई। इस छोटी सी जागीर के टुकड़े, अपनी तेजस्विनी माता के आशीर्वाद और अपनी महत्वाकांक्षा के बल से, बीज से वृक्ष उत्पन्न करने के समान, शिवाजी ने हिन्दू साम्राज्य निर्माण कर अपने पिता को लज्जित करने की आकांक्षा की और यह आकांक्षा ईश्वर-कृपा से पूर्ण भी हुई। यहाँ शिवाजी का संपूर्ण चरित्र लिखने का अवकाश न होने से हमें उनके चरित्र-क्रम पर उड़ती हुई नज़र फेंकना ही बहुत है।

शिवाजी के कुछ बड़े हो जाने पर उन्हें अपनी जागीर का प्रबन्ध करना पड़ा और ऐसा करते समय जागीर की सीमा पर रहने वाले उद्दंड क़िलेदारों से प्रथम उन्हें झगड़ना पड़ा। यह समय राज्य-क्रान्ति का सन्धिकाल था, इसलिए ऐसे अवसर पर इन लोगों की अच्छी बन आई थी। ये क़िले किसी के भी अधिकार में नहीं रहे थे और न उनमें किसी मुसलमान बादशाह की फ़ौज ही थी, इसलिए जिसके हाथ जो क़िला पड़ जाता था वही उसका स्वामी बनकर आसपास के स्थानों पर धावे डालता और अपना निर्वाह तथा अपने स्वातंत्र्य की रक्षा भी साथ ही साथ करता था। इन क़िलेदारों को जीतने अथवा उन्हें वश करने का कार्य करने से शिवाजी को राजनीति और युद्ध-कौशल की जीता-जागती शिक्षा मिली। क़िलेदारों के रङ्ग-ढङ्ग पर से गिरा-

जी को भी क़िले अधिकृत करने की इच्छा हुई और उन्होंने केवल १८ वर्ष की अवस्था में तोरण नामक क़िला लेकर स्वराज्य-समारम्भ के मुहूर्त का पाया खड़ा किया। क़िले लेने तथा नवीन क़िले बाँधने से शिवाजी में आत्म-विश्वास की वृद्धि हुई और उधर जिस वर्ष शाहजी ने बीजापुर दरबार से जागीर प्राप्त की उसी वर्ष शिवाजी ने यहाँ घाटी क़िलों की समानता रखने वाले विजयदुर्ग, सुवर्णदुर्ग, रत्नागिरी आदि कोंकन-प्रान्त के क़िलों को जीत कर पिता की नयी जागीर से भी अधिक विस्तृत और स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। शिवाजी की धाक चारों ओर बैठ गई। सन् १६४८ में स्वयं बीजापुर दरबार के पाँच सात सौ पठान नौकर शिवाजी के पास नौकरी करने की इच्छा से आये और शिवाजी ने उन्हें रख भी लिया। शिवाजी के इस कृत्य को बादशाह ने राज-विद्रोह कहकर शाहजी के द्वारा उन्हें दबाने का प्रयत्न किया; परन्तु जब वह असफल हुआ, तो शिवाजी पर चढ़ाई करना प्रारंभ कर दिया। शिवाजी ने भी मुग़लों की सरदारी, आवश्यकतानुसार स्वीकार कर अपने और मुग़लों के बल से बीजापुर के बादशाह से युद्ध छेड़ा। यह युद्ध १६५३ से १६६२ तक चला। इसी बीच में शिवाजी ने अफ़ज़ल ख़ाँ को सन् १६५९ में मारा, कोंकन-प्रान्त जीतकर मराठी नौसेना का बीजारोपण किया और कल्याण से लेकर गोवा तक और भीमा से लेकर वारण पर्यन्त १५० मील के लगभग लम्बा और १०० मील चौड़ा प्रदेश अपने राज्य में मिलाया। तब कहीं बीजापुर दरबार ने समझा कि अब शिवाजी को वश करना अपनी शक्ति के बाहर है और फिर उसे शाहजीकी मध्यस्थता में शिवाजी से सन् १६६२ में

सन्धि करलेनी पड़ी। इस युद्ध से अवकाश मिलते ही शिवाजी ने मुग़लों की तरफ़ अपना मोर्चा फेरा। एक बादशाहत का दर्प-दमन करने पर दूसरी की भी वही दशा कर सकने का आत्मविश्वास शिवाजी में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। सन् १६६१ में मुग़लों की सेना ने शिवाजी के अधिकार से कल्याणी और भीवड़ी लेली और उनसे छेड़छाड़ शुरू की। इस समय से मुग़लों और शिवाजी के बीच जो युद्ध प्रारंभ हुआ वह सन् १६७२-७३ तक ठहर ठहर कर होता ही रहा। इसी बीच में अर्थात् बीजापुर के बादशाह और दिल्ली के बादशाह से युद्ध करते समय शिवाजी और अङ्गरेज़ों का प्रथम संबंध हुआ। जिस समय बीजापुर के बादशाह से युद्ध हो रहा था उसी समय सन् १६४८ में शिवाजी ने राजापुर पर चढ़ाई की जिससे अङ्गरेज़ों पर उनका बड़ा भारी प्रभाव जम गया। यद्यपि शिवाजी का ध्यान बादशाही प्रदेश पर विशेष था; तो भी अङ्गरेज़ उनकी निगाह से अलग नहीं थे; क्योंकि रांगणा में बीजापुर की सेना का पराभव करने के पश्चात् जब वे राजापुर गये तो वहाँ अङ्गरेज़ों की कोठी होने से पन्हाला का घेरा डालने वाले मुसलमानों को अङ्गरेज़ों से गोली-बारूद की सहायता मिलने का सन्देह शिवाजी को हुआ। शत्रु की सहायता करने वाले अङ्गरेज़ों की कोठी लूटने के सिवा उनका और भी अधिक प्रबन्ध करने का विचार शिवाजी ने किया और इसीलिए राजापुर से पैसा वसूल करने के बाद उन्होंने अङ्गरेज़ों की कोठी लूटी और अङ्गरेज़ व्यापारियों को पकड़ कर एक पहाड़ी क़िले में दो वर्ष तक क़ैद रक्खा। राजापुर को इस लूट में अङ्गरेज़ों की दश हज़ार होन की हानि हुई; अतः अङ्गरेज़ों की कोठी का लूटना मंज़ूर

नहीं किया गया। कुछ भी हो, अङ्गरेज़ों का और शिवाजी का जो प्रथम संबन्ध हुआ वह किस प्रकार हुआ यही हम दिखलाना चाहते हैं। इस पहली भेंट से ही अङ्गरेज़ों पर शिवाजी की धाक बैठ गई। राजापुर के समाचार सूरत पहुँचे, इसलिए वहाँ के अङ्गरेज़ों को भी शिवाजी के छापा मारने का भय होने लगा। उस समय उन्हें जहाँ-तहाँ शिवाजी ही शिवाजी दिखते थे। बात कुछ भी हो, उन्हें उसमें शिवाजी का ही भ्रम होता था और उनका यह भ्रम दो तीन वर्ष बाद सत्य भी निकला।

सन् १६५६ में शिद्दी याकूबखाँ ने अङ्गरेज़ों से यह बातचीत शुरू की कि तुम चाहते हो कि राजापुर में डच लोग कोठी न बनवावें और मैं चाहता हूँ कि शिवाजी मेरे राज्य में प्रवेश न करें, अतः हम तुम दोनों यह सन्धि करलें कि मैं तो डच लोगों को अपनी दूकान न खोलने दूँ और तुम मुझे शिवाजी के विरुद्ध सहायता दो। परन्तु सूरत के गवर्नर ने शिद्दी की ये शर्तें स्वीकार नहीं की, क्योंकि उन्हें भय था कि इन शर्तों को सुनते ही शिवाजी हमपर आक्रमण कर देंगे और फिर सम्भालना कठिन हो जायगा। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करने के बाद अङ्गरेज़ों ने शिद्दी से सन्धि करने का विचार छोड़ दिया और भीतरी आर्थिक सहायता पहुँचा कर उससे स्वीकार करा लिया कि हम राजापुर में डचलोगों को दूकान स्थापित न करने देंगे।

राजापुर के बाद शिवाजी और अङ्गरेज़ों की भेंट सूरत में हुई। राजापुर में जिस तरह बीजापुर की सहायता से अङ्गरेज़ों ने दूकान स्थापित की थी, उसी प्रकार सूरत में मुग़लों की सहायता से अपने व्यापारों की कोठी खोली थी।

पहले सूरत ही अङ्गरेज़ों के व्यापार का मुख्य बन्दरस्थान था और वहाँ बहुत माल उतरा करता था। इसलिए मुग़लों को भी ज़कात की आय अच्छी होती थी। इस धन-पूर्ण स्थान को लूटने की इच्छा यदि शिवाजी को हुई भी हो तो आश्चर्य ही क्या? मालूम होता है कि १६६३ के पहले भी शिवाजी ने सूरत पर एकाध बार चढ़ाई की होगी, क्योंकि १६६३ के फरवरी मास की चौथी तारीख़ को दूकानों या कोठियों के अङ्गरेज़ गवर्नर ने अपने पत्र में लिखा था कि 'लायल मर्चेंट' और 'आफ्रिकन' नामक दो जहाज़ ता० २१ जनवरी को रवाना हुए हैं। इनके देरी से रवाना होने का कारण यह है कि शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई कर नगर लूटा था, इसलिए बहुत दिनों तक कामकाज बन्द रहा था और नावों पर से माल उतरना कठिन हो गया था। हमारे पहले पत्र के पश्चात् फिर एक बार शिवाजी के आने की अफ़वाह उड़ी थी और उस पर से पहले की अपेक्षा इस बार अधिक गड़बड़ी हुई। लोग गाँव छोड़ छोड़ कर चले गये। उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति और व्यापारी माल क़िले में रख दिया। कई ने तो क़िले के भौंहरे को माल से पूर दिया था। बड़े बड़े बर्तन नदी में डाल दिये थे। शिवाजी के द्वारा हाथ-पांव तोड़े जाने की ख़बर उड़ने के कारण लोग उसकी क्रूरता से बहुत डरने लगे हैं और नगर की रक्षा के लिए बादशाही सेना के न आने पर शिवाजी के आने की अफ़वाह पर से ही लोग बस्ती छोड़कर भाग जाते हैं।"

सन् १६६४ की जनवरी में शिवाजी ने सूरत पर चढ़ाई की। उस समय नगर-रक्षा के कार्य में शहर के मुग़ल गवर्नर को अङ्गरेज़ी तोपों से बड़ी भारी सहायता मिली।

यद्यपि शिवाजी की चढ़ाई, वास्तविक रीति से देखी जाय, तो अङ्गरेज़ अथवा डच व्यापारियों पर नहीं वरन मुग़लों पर थी, तो भी गोरे व्यापारियों ने अपने बचाव का प्रवन्ध भी कर रक्खा और मुग़लों को भी सहायता दी। कोठी की रक्षा कर सकने के कारण कंपनी ने सूरत में रहने वाले प्रेसिडेन्ट सर जार्ज आक्सडेन को एक सुवर्णपदक तथा दो सौ मुहरों की थैली पारितोषिकरूप दी। अकबर बादशाह ने भी इन्हें बहुमानसूचक खिलअत दी और सूरत के अङ्गरेज़ व्यापारियों पर ज़कात में भी कुछ रिआयत करा दी।

आगामी वर्ष शिवाजी ने ८५ छोटे और ३ बड़े जहाज़ ले कर कारवार पर चढ़ाई की। यहाँ भी अङ्गरेज़ों की कोठी थी। कारवार सुदृढ़ स्थान नहीं था, अतः उसका शीघ्र ही पतन हुआ और शिवाजी से सन्धि की गई। सन्धि के अनुसार शिवाजी को दी जानेवाली खण्डनी में से अपने हिस्से के ११२ पाउ अङ्गरेज़ों ने उसी समय दे दिये। सन् १६७० में शिवाजी ने सूरत पर फिर चढ़ाई की। इस वार उनकी १५,००० सेना ने शहर पर अधिकार कर लिया। इस समय कितने ही अङ्गरेज़ व्यापारी मारे गये और कुछ व्यापारीमाल लूट भी लिया गया। डच व्यापारियों की कोठी को शिवाजी ने बिलकुल छोड़ दिया। इस समय यहाँ फ्रेञ्च लोगों की भी कोठी थी, परन्तु शिवाजी के आगे उनकी मौज न चली और उन्हें अपनी सीमा में से शिवाजी को मार्ग देना पड़ा। इस चढ़ाई में बहुत माल और धन शिवाजी के हाथों लगा।

इसके बाद शिवाजी और अङ्गरेज़ों की भेंट सन् १६७३ में हुबली में हुई। यहाँ भी अङ्गरेज़ों की दूकान थी। अङ्गरेज़ों का कहना है कि शिवाजी की इस चढ़ाई में उन्हें पौन लाख

रुपयों के लगभग की हानि उठानी पड़ी। इस क्षति की पूर्ति के लिए अङ्गरेज़ों ने शिवाजी से कहा, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि यह हानि यदि हुई भी होगी, तो फुटकर हुई होगी, इसलिए भरी नहीं जा सकती। यहाँ पर भी शिवाजी का उद्देश्य अङ्गरेज़ों को लूटने का नहीं, वरन मुग़लों पर आक्रमण करने का था; तथापि उस समय नगर में सब देशों के व्यापारी होने के कारण उनके माल की भी लूट हुई और वे बीच में पड़ जाने से वैसे ही पिस गये। हुबली की इस क्षति और राजापुर की क्षति बम्बई के डिपुटी-गवर्नर आन्जियर बहुत दिनों तक शिवाजी से माँगते रहे; पर उन्हों ने उसे नियमानुकूल कभी स्वीकार नहीं किया। शिवाजी को जंजीरे के शिद्दी पर जलमार्ग से आक्रमण करने में अङ्गरेज़ों की सहायता की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने अङ्गरेज़ों को वचन दिया कि जो हुआ सो हुआ, अब आगे तुम पर हम किसी तरह का उपसर्ग आक्रमण न करेंगे तथा तुम राजापुर में यदि कोठी खोलना चाहो, तो उसमें भी हमें कोई आपत्ति न होगी। पर पहले के अनुभव के कारण विशेष प्रकार से विश्वास हो जाने के सिवा राजापुर में पुनः कोठी खोलने का अङ्गरेज़ों को साहस नहीं हुआ। इसके विरुद्ध शिवाजी की सहायता करने में भी उन्हें सङ्कट ही का भय हुआ होगा; क्योंकि बम्बई से जञ्जीरा पास होने के कारण शिवाजी की सहायता करने से शिद्दी की सामुद्रिक सेना का घेरा बम्बई पर पड़ जाने का भय था। इसीलिए अङ्गरेज़ों ने शिवाजी को यह कह कर कि "हम ठहरे व्यापारी; हमको इस युद्ध के पचड़े से क्या काम; केवल अपनी रक्षा के सिवा युद्ध की मार-काट में पड़ने की हमारी इच्छा

नहीं है” अपना काम निकाल लिया; लेकिन तब भी नुक़सानी मिलने का उजर वे नहीं भूले। १६७३ के मई महीने में निकल्स नामक अङ्गरेज़ व्यापारियों का वकील सम्भाजी की मार्फ़त शिवाजी से मिला; परन्तु इस मुलाक़ात से कुछ सार नहीं निकला।

सन् १६७४ में मराठों की दश सहस्र सेना साष्टी में आई और वसई प्रान्त में उसने चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया, इसलिए बम्बई के अङ्गरेज़ों को बहुत दहशत बैठ गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि रायगढ़ में शिवाजी का जो राज्याभिषेक हुआ उसमें बम्बई के अङ्गरेज़ व्यापारियों की तरफ़ से हेनरी आक्सडन नामक अङ्गरेज़, दो अङ्गरेज़ व्यापारियों के साथ, शिवाजी का अभिनन्दन करने और नज़राना देने के लिए आये। इस समय शिवाजी और अङ्गरेज़ों का निकट का परिचय शान्ति के साथ हुआ और दोनों में सन्धि होने का भी निश्चय हो गया। तारीख़ ६ अप्रैल, सन् १६७४ में इस सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि-पत्र में २० धाराएँ थीं जिनमें निम्नलिखित मुख्य थीं—

(१) राजापुर में जो अङ्गरेज़ों को हानि उठानी पड़ी है वह शिवाजी अङ्गरेज़ों को भर देंगे और राजापुर, दाम्भोल, चौल और कल्याण में कोठी खोलने की अङ्गरेज़ व्यापारियों को इजाज़त दी जायगी तथा शिवाजी के अधिकृत सम्पूर्ण राज्य में अङ्गरेज़ व्यापार कर सकेंगे। अङ्गरेज़, माल का क्रय-विक्रय अपनी मनमानी दर से करेंगे और माल की दर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सख़्ती शिवाजी की ओर से न होगी।

(२) शिवाजी के राज्य में जो माल आवेगा उसपर अङ्गरेज़ों को प्रति शत २॥) रुपये ज़कात देनी होगी।

(३) अङ्गरेज़ और शिवाजी के सिक्के एक दूसरे के देश में अपनी क़ीमत पर चल सकेंगे।

(४) दोनों को एक दूसरे के छीने हुए जहाज़ वापिस करने होंगे। राजापुर की क्षति के सम्बन्ध में दूसरा ही ठहराव किया गया। उसके अनुसार वहाँ की क्षति १०,-००० मुहरें कूती गई थीं। इसकी रक़म अङ्गरेज़ों को नक़द न मिलकर इस भाँति देने का निश्चय किया गया कि अङ्गरेज़ तीन वर्षों तक, प्रतिवर्ष ५,००० मुहरों के हिसाब से, १५,००० मुहरों का माल शिवाजी से ख़रीदें; जिसमें से सिर्फ साढ़े सात हज़ार मुहरें नक़द दें और शेष साढ़े सात हज़ार मुहरें राजापुर में अङ्गरेज़ों की कोठी स्थापित होने पर आनेवाले माल की जो ज़कात उन्हें देनी होगी उसमें से काट देवें। जीते हुए जहाज़ लौटाने की शर्त शिवाजी ने बड़े कष्ट से स्वीकार की; क्योंकि लूट पर राजा का विशेष अधिकार और प्रेम होता है। शिवाजी ने सिक्के की शर्त भी बड़ी कठिनाई से मानी। उनका कहना था कि सिक्कों में जितनी धातु हो उसीके अनुसार उनकी क़ीमत रहे, लिखी हुई क़ीमत न मानी जाय। परन्तु अन्त में शिवाजी ने इन शर्तों का आग्रह भी छोड़ दिया। सन्धि नियम के अनुसार राजापुर में अङ्ग-रेज़ों ने फिर कोठी स्थापित की; पर वह पहले जैसी लाभदायक न हो सकी।

सन् १६७८ में ५७ जहाज़ों की सेना और ४ हज़ार पैदल सेना लेकर शिवाजी का विचार पनवेल और शिद्दी क़ासम पर आक्रमण करने का था; परन्तु अङ्गरेज़ों ने बीच

में पड़ कर शिद्दी की रक्षा की। यद्यपि अङ्गरेज़ों ने व्यापारी होने के कारण दूसरों के झगड़े में न पड़ कर तटस्थ रहने का निश्चय किया था तथापि उनके हाथों से प्रायः विचार के अनुसार काम नहीं होता था। जञ्जीरा से लेकर बम्बई तक समुद्र-किनारे पर शिद्दी और मराठों के जहाज़ों का सदा युद्ध परस्पर होता रहता था। बम्बई बन्दर अङ्गरेज़ों के अधिकार में था, इसलिए मराठों के प्रदेश पर चढ़ाई करके अथवा समुद्र-किनारे की प्रजा को त्रास पहुँचाकर शिद्दी के लड़ाऊ जहाज़ बम्बई बन्दर में आश्रय लेते थे इससे शिवाजी को बारम्बार यही संशय होता था कि अङ्गरेज़ लोग भीतर ही भीतर शिद्दी से मिले तो नहीं हैं। एक बार तो बम्बई के प्रेसिडेन्ट को शिवाजी ने एक धमकी का सँदेशा भी भेज दिया था कि "शिद्दी का इस बार प्रबन्ध करो; नहीं तो तुम्हें आपत्ति में पड़ना पड़ेगा" तब कहीं अङ्गरेज़ों ने अपना तटस्थपन दूर कर सबसे पहले शिद्दी का प्रबन्ध किया। शिद्दी के त्रास के कारण मराठी सेना के बम्बई पर आक्रमण का एक दो बार योग आया; परन्तु टल गया। सन् १६८० के अप्रेल महीने में जब शिवाजी के राज्य में से पकड़े हुए कितनेक हिन्दू लोगों को शिद्दी ने बेचना चाहा; तब बम्बई के अङ्गरेज़ों ने इक्कीस हिन्दुओं का पता लगा कर उन्हें इस सङ्कट से मुक्त किया। सन् १६७६ में पश्चिम किनारे पर लड़ाऊ जहाज़ों की संख्या बहुत कम करने के लिए कम्पनी के बोर्ड ने निश्चय किया। इससे बम्बई-निवासियों को मराठों का बहुत भय लगने लगा; परन्तु शिवाजी के मरण हो जाने पर उनका वह भय शीघ्र ही कम हो गया।

इतिहास-संशोधकों ने जो कागज़-पत्र प्रकाशित किये हैं उनमें भी शिवाजी और अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध का पूरा वर्णन कुछ अधिक नहीं मिलता। बखरी में तो अङ्गरेज़ों के नाम-निशान तक का प्रायः पता नहीं है। ऐसी दशा में किसी भी व्यवहार का सूक्ष्मवृत्त मिलना असम्भव है। परन्तु, शिवाजी के समय भारत में रहने वाली अङ्गरेज़ों की व्यापार-कम्पनी के कागज़-पत्र उसके कार्यालय में अब भी मिलते हैं और उनमें से बहुत से छप भी गये हैं। इनके और अन्य बातों के आधार पर से अङ्गरेज़ इतिहासकारों ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। उससे तो यही विदित होता है कि अङ्गरेज़ों और शिवाजी के बीच में जो कुछ संबन्ध हुआ उसमें शिवाजी ने अङ्गरेज़ों पर अपना अच्छा दबदबा जमा लिया और वे शिवाजी से डर कर, उनसे नम्रता और सन्मान के साथ व्यवहार करते थे। कितने ही स्थानों पर अङ्गरेज़ ग्रन्थकारों ने लिखा है कि "अङ्गरेज़ों के आगे शिवाजी की कुछ नहीं चली और उन्हें हारना ही पड़ा"; परन्तु उन्हीं ग्रन्थकारों ने जो पूरा वर्णन दिया है उसी पर से उनके इस कथन का खण्डन सहज में ही हो जाता है। श्रीयुक्त सर देसाई ने अङ्गरेज़ी के अनेक ग्रंथों का परिश्रम-पूर्वक पर्यालोचन कर अपनी 'मराठी रियासत' नामक पुस्तक में इस विषय पर कुछ पृष्ठ लिखे हैं। उसके कुछ भाग का अनुवाद यहाँ दिया जाता है:—

"शिवाजी के द्वारा बहुत कुछ उपद्रव होने पर भी उन्हें सन्मानपूर्ण महत्व दिये बिना अङ्गरेज़ न रह सके। अङ्गरेज़ों को अन्नादि सामग्री और जलाऊ लकड़ी शिवाजी के ही राज्य से मिलती थी; अतः जब सूरत में शिवाजी त्रास देते,

तो बम्बई के व्यापारी अङ्गरेज़ उन्हें बड़ी नम्रता और विनय से समझाते थे। सन् १६७२ में जब कुलाबा ज़िले के पोर्तुगीज़ उपनिवेश 'घोड़ बन्दर' को शिवाजी ने अधिकृत करने का प्रयत्न किया, तो बम्बई के अङ्गरेज़ बहुत ही घबड़ा उठे और उन्हें प्रसन्न करके उनसे स्नेहपूर्ण सन्धि करने के लिए मिस्टर डस्टिक को भेजा। इस सन्धि से शिवाजी को ही लाभ था; क्योंकि अङ्गरेज़ों के व्यापार के कारण उनके जीते हुए प्रदेश का मूल्य बढ़ने लगा था और दूसरे अङ्गरेज़ों से मैत्री हो जाने पर वे मुग़ल सेना को अपने थाने की सीमा के भीतर से शिवाजी के ऊपर आक्रमण करने को भी नहीं जाने देते थे। अतः शिवाजी सन्धि करने को तैयार हो गये। डस्टिक ने पहले की क्षति के ३२ हज़ार 'पगोड़ा' माँगे; परन्तु शिवाजी ने यह स्वीकार न करके कहा कि 'तुम राजापुर में कोठी खोलो और शिद्दी के पराभव करने में हमारी सहायता करो, तो हम आगे किसी प्रकार की हानि न पहुँचा कर तुम से मैत्री रक्खेंगे।' अङ्गरेज़ों को ये दोनों शर्तें स्वीकार नहीं हुईं। दूसरी बार फिर सन् १६७३ के मई मास में अङ्गरेज़ों ने निकोलस नामक वकील शिवाजी के पास भेजा। वह सम्भाजी की मार्फ़त शिवाजी से मिला; परन्तु उस समय भी कोई महत्व की बात तय न हो सकी।

"शिवाजी को जहाँ-तहाँ विजय मिलने के कारण मराठों को उनके कार्य पसन्द आने लगे। तब उनकी सम्मति से शिवाजी ने सन् १६७४ में यथाविधि राज्यपद ग्रहण किया। इस अभिषेकोत्सव में बम्बई के डिपुटी गवर्नर हेनरी आक्सेण्डेन उपस्थित थे। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की ओर से अन्य

दो अङ्गरेज़ व्यापारियों को साथ लेकर ये उक्त उत्सव के समय रायगढ़ आये। उस समय मौक़ा लग जाने से शिवाजी से इनका सन्धि करने का विचार था। इस इच्छा से ये लोग सन् १६७४ के अप्रेल मास के अन्त में बम्बई से जहाज़ द्वारा रवाना हुए। पहले चौंल जाकर ये दूसरे दिन रोहा पहुँचे रोहा से पालकी करके निजामपुर आये। पाँचवें दिन रायरी पर्वत के नीचे पाचाड़ नामक गाँव में आकर ठहरे। उस समय शिवाजी प्रतापगढ़ में थे, अतः इन्हें कुछ दिनों तक वहाँ ही ठहरना पड़ा। नारायणजी पण्डित नामक शिवाजी का एक चतुर कामदार पाचाड़ में अङ्गरेज़ों से मिला। शिवाजी का उद्देश्य उसने अङ्गरेज़ों को अच्छी तरह समझा दिया। अङ्गरेज़ों का कहना था कि 'जञ्जीरा के शिद्दी से युद्ध न करके शिवाजी उससे सन्धि कर लें और हमें व्यापारी सुभीते दे दें जिससे हम दोनों को लाभ हो, नारायण पण्डित ने अङ्गरेज़ों से कहा कि 'यदि शिवाजी के सन्मुख आप शिद्दी की बात निकालेंगे तो आपका कुछ भी काम न होगा। क्योंकि शिवाजी शिद्दी का मूलोच्छेदन करना चाहते हैं; इसलिए वे आपका कहना कभी न मानेंगे। व्यापार के सम्बन्ध में आपका कहना उचित है और शिवाजी भी अपने राज्य में व्यापार बढ़ाना चाहते हैं। अभी तक इन झगड़ों के कारण उन्हें इस ओर जैसा चाहिए वैसा लक्ष्य देने का समय नहीं मिला, परन्तु अब राज्याभिषेक हो जाने के बाद वे राज-व्यवस्था का काम हाथ में लेंगे।' नारायण जी की इन बातों को सुन कर अङ्गरेज़ वकील समझ गये कि नारायण एक अधिकार-विशेष रखने वाला चतुर पुरुष है; अतः उन्होंने उसे एक अँगूठी भेंट में दी।

"तारीख़ १५ मई को जब शिवाजी रायगढ़ लौट आये तब अङ्गरेज़ वकील क़िले को गये। राज-भवन से एक मील दूरी पर इन्हें ठहरने के लिए बँगला दिया गया और वे वहाँ बड़े आनन्द से रहने लगे। शिवाजी उस समय बड़ी गड़बड़ में थे, तो भी चार दिन बाद नारायणजी की मार्फ़त वे इन अङ्गरेज़ वकीलों से मिले। व्यापार-वृद्धि के सम्बन्ध में अङ्गरेज़ों का कहना उन्हें बहुत पसन्द आया और इस संबन्ध में विचार कर सन्धि की शर्तें निश्चित करने का काम शिवाजी ने पेशवा मोरोपन्त पिंगले को सौंपा। फिर शिवाजी को नज़र करने के लिए अङ्गरेज़ वकील, जा वस्तुएँ लाये थे वे किस प्रकार भेंट की जायँ इस बात का निश्चय वे नारायण पण्डित से मिलकर दो दिनों तक करते रहे और वे वस्तुएँ मोरोपन्त पेशवा की मार्फ़त शिवाजी को भेंट की गईं। नारायणजी के यह कहने पर कि 'बड़े बड़े अधिकारियों को भी भेंट करना अच्छा है' वकीलों ने बहुत से अधिकारियों को भी पोशाकें दीं। अन्त में नारायणजी के मार्फ़त सन्धि के सम्बन्ध में शिवाजी का अभिप्राय अङ्गरेज़ों को मालूम हो गया। अभिषेक के दिन बड़े दरबार में अङ्गरेज़ों का प्रधान वकील उपस्थित था। इस उत्सव का हृदयग्राही-वर्णन उसने लिख रक्खा है। अभिषेक के कुछ दिनों बाद अङ्गरेज़ों से शिवाजी की सन्धि हुई और उस पर सम्पूर्ण अधिकारियों के हस्ताक्षर हो गये। तब अङ्गरेज़ वकील बम्बई को लौटे और वे रक्षा-बंधन के समय के लगभग वहाँ पहुँचे।

"शिवाजी की नाविक-सेना कितनी थी इसका जो उल्लेख कारवार के अङ्गरेज़ व्यापारी ने सन् १६६५ में

किया है, उससे विदित होता है कि उस समय कम से कम ८५ छोटे और तीन बड़े जहाज़ शिवाजी के पास थे। काग़ज़-पत्रों के देखने से विदित होता है कि उस समय यूरोप का सबसे बलिष्ठ राज्य भी इतनी नाविक शक्ति से भयभीत हो सकता था, तो भी अङ्गरेज़ों का यही अनुमान है कि शिवाजी का बेड़ा बहुत बड़ा न रहा होगा।

"पश्चिम किनारे के अङ्गरेज़ चुपचाप नहीं बैठे थे। वे जहाँ तक बनता था अपना दाँव लगाने की ही चिन्ता में रहते थे। उनका जञ्जीरा के शिद्दी के साथ अच्छा व्यवहार था। बम्बई बन्दर में अङ्गरेज़ों के पास अपनी नाविक सेना रखने की आज्ञा शिद्दी बारम्बार माँगता था, क्योंकि वह शिवाजी पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु शिवाजी के भय के कारण अङ्गरेज़ उसकी प्रार्थना मान्य नहीं करते थे और इसीलिए प्रगट रीति से शिद्दी को आश्रय नहीं देते थे। पर, इधर शिद्दी को आश्रय न देने के कारण मुग़ल बादशाह का भी डर अङ्गरेज़ों को था। सन् १६७७ में सम्बूल नामक शिद्दी, उद्दण्डता से बम्बई बन्दर में प्रवेश कर शिवाजी के कुरला की ओर के प्रदेश में उपद्रव करने लगा। उसने एक ब्राह्मण को वश कर और उसे जहाज़ तथा धन देकर शिवाजी के प्रदेश में इसलिए भेजा कि वहाँ के प्रमुख ब्राह्मणों को वश करके वह लावे। पकड़े हुए ब्राह्मणों को शिद्दी ने बहुत कष्ट दिया। जब यह बात शिवाजी को मालूम हुई तब उन्होंने अङ्गरेज़ों को ऐसी ज़बरदस्त फटकार बतलाई कि कम्पनी के प्रेसिडेन्ट ने तुरन्त ही शिवाजी के प्रदेश में उपद्रव करने वाले ११ व्यक्तियों को पकड़ा। उनमें से तीन को तो मृत्यु-दण्ड दिया और शेष को गुलाम बना कर

आफ़्रिका के पश्चिमी किनारे पर सेन्ट हेलना द्वीप को भेज दिया। दूसरे वर्ष फिर ऐसी ही बातें हुईं और शिद्दी ने अनेक ब्राह्मणों को कष्ट दिया। शिद्दी की दृष्टि में ब्राह्मण ही खटकते थे; क्योंकि वे शिवाजी की सहायता खूब करते थे। आगे और दूसरे काम लग जाने पर शिद्दी से बदला न लिया जा सका। सन १६८० के अप्रेल मास में, शिद्दी, शिवाजी के राज्य से कुछ लोगों को पकड़ कर बम्बई लाया। जब यह अङ्गरेज़ों को मालूम हुआ, तब उन्होंने २१ आदमियों को छुड़ा कर उनके देश को भेज दिया; परन्तु अङ्गरेज़ों का शिद्दी को अपने बन्दर में स्थान देना शिवाजी को सहन नहीं हुआ अतः शिद्दी और अङ्गरेज़ दोनों पर दबाव रखने के लिए स १६७९ (?) की वर्षा ऋतु में शिवाजी ने बम्बई के समी के खाँदेरी द्वीप पर अधिकार कर लिया। तब से वे अङ्ग रेज़ों और शिद्दी पर अच्छी तरह दाब रख सके। शिवाजी के खाँदेरी ले लेने पर अङ्गरेज़ों को बड़ा बुरा मालूम हुआ और वे यह कहकर अपना हक़ साबित करने लगे कि पोर्तुगीज़ों ने यह हमें दिया है; परन्तु वसई के पोर्तुगीज़ों ने जब यह सुना, तब वे अङ्गरेज़ों को फटकार बता कर अपना हक़ साबित करने लगे। फिर अङ्गरेज़ों ने शिद्दी से मित्रता करके शिवाजी की नौ-सेना पर चढ़ाई की। शिवाजी के कर्मचारियों ने पहले तो बिना सामहना किए अङ्गरेज़ों को द्वीप में आने दिया और जब वे घुस आए, तब उन सबों का शिरच्छेद कर डाला। इसके बाद फिर अक्टूबर मास में रिव्हेञ्ज नामक पन्द्रह तोपों का जहाज़ और दो सौ सैनिक से भरे हुए अन्य जहाज़ों को लेकर अङ्गरेज़ खाँदेरी के पास मराठों को रोकने के लिए आए। कप्तान मिञ्चिन और

केग्विन उस जहाज़ी बेड़े के मुखिए थे। उस समय अङ्गरेज़ और मराठों का खूब दिल खोल कर युद्ध हुआ और दोनों की बहुत हानि हुई। तो भी जिस द्वीप पर अङ्गरेज़ों की बहुत दिनों से दृष्टि थी उस खांदेरी द्वीप को वे न ले सके। इस समय शिवाजी की नौ-सेना का मुखिया दौलत खाँ था। खाँदेरी से पौन मील की दूरी पर उन्देरी नामक एक और छोटा सा द्वीप है। ये दोनों द्वीप पथरीले हैं। बम्बई से आगबोट में बैठकर दक्षिण की ओर जाने पर ये मिलते हैं। इन द्वीपों में बस्ती नहीं थी; परन्तु यहाँ से अङ्गरेज़ों को ईंधन मिलता था और बम्बई बन्दर में आने वाले सब जहाज़ों पर यहाँ से नज़र रक्खी जा सकती थी। इन द्वीपों को लेने के लिए अङ्गरेज़ों ने अनेक उपाय किए और इन्हीं के लिए शिवाजी से युद्ध करने की आज्ञा डायरेक्टरों के कोठी से कई बार माँगी; पर वह उन्हें प्रत्येक बार यही लिखता था कि "खाँदेरी-उन्देरी के लिए हमें युद्ध करने की ज़रूरत नहीं है, यह कई बार लिखा जा चुका है। इसके सिवा इस प्रकार युद्ध करने का हमारा व्यवसाय भी नहीं है और न उसमें लाभ ही है; इसलिए हम बार बार यही कहते हैं कि जिस तरह से भी हो युद्ध बन्द करो।" इस लिखने पर से यहाँ के लोगों का अङ्गरेज़ों के प्रति जो परिणाम हुआ उससे बम्बई-निवासियों को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने विलायत को एक पत्र भेजा और उसमें लिखा कि यहाँ के लोग इन कारणों से हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं कि "तुम (अङ्गरेज़) इतनी शेखी किस बात पर मारते हो? तुमने कौन सी ऐसी विजय प्राप्त की है? तुम्हारी तलवार ने कौन सा ऐसा बड़ा काम किया है? कौन तुम्हारी आज्ञा

मानता है ? तुम्हारे पास है ही क्या ? डच लोगों ने तुम्हें शह दी ही थी। पोर्तुगीज़ों ने कुछ पुरुषत्व के काम भी किये थे; परन्तु तुम्हारी तो जो देखो सो हँसी उड़ाता है। बम्बई भी तो तुम ने जीत कर नहीं ली, और फिर उसके रखने की भी तुममें सामर्थ्य नहीं है। इतना होने पर भी तुम लोग जो लड़ाई करने की शेखी बघारते हो और हमारे राजा की बराबरी करते हो सो किस बिरते पर ?" यद्यपि इन शब्दों को सच्चे सिद्ध कर दिखानेवाले मराठों के पुरस्कर्त्ता शिवाजी इस समय, संसार में नहीं रहे थे, तो भी मरने से पहले अङ्गरेज़ों ने उन्हें तन्त्रबल से अपने अनुकूल बना लिया था। उस समय खाँदेरी लेने की धुन अङ्गरेज़ों ने बिलकुल छोड़ दी थी। उनकी जो नाविक सेना खाँदेरी के पास शिद्दी के सहायतार्थ थी वह उन्होंने वापिस मँगवा ली थी और सन् १६८० क मार्च मास में शिवाजी के वकील के साथ उन्होंने सन्धि कर ली थी जिसमें शिद्दी को बम्बई में आश्रय न देने की मञ्जूरी दी और सन् १६७४ की सन्धि पुनः स्वीकार की।

"अङ्गरेज़ों पर शिवाजी का कितना भारी दबदबा था इसका उल्लेख ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के इतिहास में जगह जगह पर मिलता है। किसी भी मराठे सरदार के आने पर अङ्गरेज़ों को शिवाजी के आने का ही भय-पूर्ण भ्रम हुआ करता था। शिवाजी के नाम ने एक सामान्य रूप धारण कर लिया था। सन् १७०३ में अङ्गरेज़ व्यापारियों ने सूरत की डायरी में लिख रक्खा है कि:—"शिवाजी फिर सूरत पर चढ़ाई करने वाला है और उसकी सेना तो पहले से ही सूरत के आसपास गोली चला रही है।" इसी भय से अंगरेज़ों ने सूरत के थाने को विशेष दृढ़ किया और कितने ही

अङ्गरेज़ कर्मचारियों को फ़ौजी काम करने की आज्ञा दी। जिन्होंने इस आज्ञा का पालन नहीं किया उन्हें दण्ड दिया गया। यह सब शिवाजी के नाम का प्रभाव था। बंगाल के अङ्गरेज़ व्यापारियों को तो शिवाजी अमर प्रतीत होते थे। जब सन् १६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई तब बम्बई के प्रेसिडेन्ट ने यह मृत्यु-समाचार कलकत्ते भेजा था। वहाँ से यह उत्तर आया कि:—"शिवाजी इतनी बार मर चुका है कि उसके मरने पर विश्वास ही नहीं होता, उसे लोग अमर ही समझते हैं। उसके मरने के समाचारों पर विश्वास न होने का कारण यह है कि उसे जहाँ-तहाँ विजय ही मिली। अब हम उसे तब मरा हुआ समझेंगे जब कि उसके समान साहस-पूर्ण काम करने वाला मराठों में कोई नहीं होगा और हमें मराठों के पंजे से छुटकारा मिलेगा।"

जिस खाँदेरी-ऊँदेरी में शिवाजी और अङ्गरेज़ों की मुठभेड़ हुई उसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—ऊँदेरी के पास खाँदेरी नामक एक छोटा सा द्वीप है। यह बम्बई के पास है और नाके तथा मोर्चे की जगह है। इसलिए मराठे, हब्शी और अङ्गरेज़ तीनों ही इसे अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न करते थे। अपनी मृत्यु के एक वर्ष पूर्व ही शिवाजी ने इसे अपने अधिकार में ले लिया था। यहाँ से हबशियों को यह मालूम होने पर कि अङ्गरेज़, हबशियों को सहायता अथवा आश्रय देते हैं अङ्गरेज़ों को त्रास देने का बहुत अच्छा सुभीता था; क्योंकि अङ्गरेज़ और हबशियों ने मराठों के विरुद्ध अपना गुट्ट बना लिया था। १६७९ के अगस्त मास में शिवाजी ने तीन सौ सिपाही और तीन सौ मज़दूर, युद्ध का सामान तथा बारूद-गोले

के साथ खाँदेरी की तट-बंदी और मरम्मत करने के लिए भेजे थे। यह देखकर बम्बई के गवर्नर ने भी माल के तीन जहाज़ों में चालीस गोरे, शिवाजी के नौकरों को रोकने के लिए, भेजे; परन्तु वे कुछ न कर सके। दस बारह दिनों तक खाँदेरी के आसपास घूमकर ये जहाज़ वापिस लौट आये। तब फिर सोलह तोपों का लड़ाऊ जहाज़ साथ देकर फिर उन्हीं लोगों को भेजा। ता० १९ सितम्बर को मराठों ने अङ्गरेज़ों की इस टुकड़ी के एक लेफ्टनेन्ट को मारा और छह खलाशी क़ैद कर लिये। इस समय चौल में शिवाजी की नाविक सेना तैयार हो रही थी। यह देखकर बम्बई के अङ्गरेज़ों ने कितने ही जहाज़ भाड़े से लेकर, एक जहाज़ों का क़ाफ़िला तैयार किया जिसमें क़रीब २०० सिपाही थे। इन दोनों की लड़ाई १६ अक्टूबर सन् १६७९ में हुई जिसमें पहले पहल अङ्गरेज़ों को ही हारना पड़ा; परन्तु रिव्हेंज़ नामक अङ्गरेज़ी जहाज़ के विशेष ज़ोर लगाने और मराठों के पाँच जहाज़ डूब जाने पर मराठे लोग पीछे हटे और नागोथाना की खाड़ी में घुस गये।

इसी समय शिवाजी की पाँच हज़ार सेना कल्याणी में आई। इस सेना की इच्छा 'थाना' पर से होकर माहिम या बम्बई पर चढ़ाई करने की थी; परन्तु पोर्तुगीज़ सरकार ने 'थाना' पर से जाने की इजाज़त नहीं दी। इधर यद्यपि मुख्य नाविक सेना लौट गई थी, तो भी उसमें से कुछ लोग रात्रि के अन्धेरे में अङ्गरेज़ों की आँख छिपा कर खाँदेरी से भोजन-सामग्री मराठों को बेरोक पहुँचाते थे। फिर खाँदेरी क़िले पर तोपें चढ़ा कर मराठों ने अङ्गरेज़ों के बेड़े पर गोले चलाये। तब अङ्गरेज़ों का बेड़ा वहाँ से

उठकर, नागो थाना की खाड़ी के मुहाने पर जाकर, ठहर गया। नवम्बर में हवशियों का बेड़ा भी सूरत के अधिकारियों से मैत्री कर और सामान आदि लेकर खाँदेरी के पास अङ्गरेज़ों के बेड़े से आ मिला, परन्तु अङ्गरेज़ और हवशी दोनों इस द्वीप को अपने अपने अधिकार में लेना चाहते थे, इसलिए दोनों का, साथ मिल कर आक्रमण करने का, विचार बहुत दिनों तक निश्चित न रह सका। तब क़ासम शिद्दी ने अकेले ही खाँदेरी पर तोपें चलाईं; परन्तु जब उसने देखा कि यहाँ दाल नहीं गलती तब सामने के ऊँदेरी द्वीप पर अपनी सेना उतारी और उसे अपने अधिकार में ले लिया। इधर शिवाजी ने रायगढ़ से अपना वकील बंबई के अङ्गरेज़ों के पास भेज कर सन्धि की बातचीत शुरू की। जब शिवाजी के वकील ने अङ्गरेज़ों से कहा, "तुम हवशी लोगों से मिल कर काम करते हो और इसका उदाहरण खाँदेरी का युद्ध है।" इस पर बम्बई के गवर्नर ने अपना बेड़ा खाँदेरी से वापिस मँगवा लिया और शिवाजी के वकील को विश्वास दिलाया कि शिद्दी मराठों पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करेंगे, तभी उन्हें हम बंबई बन्दर में स्थान देंगे, अन्यथा नहीं।

सन् १६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई और संभाजी गद्दी पर बैठे। इस समय शिद्दी लोग पश्चिम किनारे पर आक्रमण कर रहे थे; इसलिए संभाजी ने शिद्दियों से युद्ध प्रारम्भ कर दिया। शिद्दी और संभाजी के बेड़े की पहली लड़ाई बंबई और अलीबाग़ के बीच में, ऊँदेरी द्वीप के पास, हुई। उसमें शिद्दियों की विजय हुई। इस युद्ध में उन्होंने ७० मराठों के मस्तक काटे। इन मस्तकों को बंबई में लाकर और उन्हें भालों पर लटका कर बंबई बन्दर के किनारे पर एक श्रेणी

में लगाना चाहा; परन्तु बंबई बन्दर, अङ्गरेज़ों के अधीन होने के कारण, अङ्गरेज़ों ने शिद्दियों की विजय-श्री का यह भयंकर प्रदर्शन नहीं होने दिया। इसी समय संभाजी ने अङ्गरेज़ों से भी युद्ध प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि ऊपर कही हुई सन्धि की शिद्दी-संबंधी शर्त का पालन अङ्गरेज़ों ने बराबर नहीं किया था। १६८२ में संभाजी ने बंबई बन्दर के एलिफेन्टा द्वीप की मरम्मत और तट-बन्दी की। १६८३ में मस्कत के अरब लोगों ने अङ्गरेज़ों का प्रेसीडेन्ट नामक जहाज़ तोड़ कर लूट लिया। इस पर राजापुर के अङ्गरेज़ों ने बंबई के अङ्गरेज़ों को लिखा कि ये अरबलोग संभाजी के ही भेजे हुए थे। तब बंबई वालों ने अपना वकील संभाजी के पास भेजा, जिसे संभाजी ने सप्रमाण यह दिखला दिया कि हमारी और अरब लोगों की बातचीत तक नहीं हुई है।

सन् १६८६ में कम्पनी का मुख्य कार्यालय सूरत से बंबई आ गया और सूरत, दूसरे दर्जे का अङ्गरेज़ी थाना हो गया; परन्तु संभाजी का ध्यान इस समय बंबई पर नहीं था। उनका ध्यान दक्षिण कोकनप्रांत के गोवा की ओर खिंच रहा था। वे पोर्तुगीज़ लोगों पर चढ़ाई करना चाहते थे; इसलिए उनका सम्बन्ध अङ्गरेज़ों से बहुत ही कम हो गया था।

राजाराम का सम्बन्ध भी अङ्गरेज़ों से बहुत सा नहीं रहा; क्योंकि उनका समय मुग़लों से दूर देशों में जा कर लड़ने ही में प्रायः व्यतीत हुआ। सन् १७०२ के फ़रवरी मास में मराठे सूरत की ओर गये और सूरत से दो मील के आस पास के गाँवों को उन्होंने लूटा और जलाया। इस समय ये लोग सूरत में बिना प्रवेश किये ही लौट आये;

थे; परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने तो इस समय भी सूरत में लड़ने की उचित तैयारी कर ली थी। १७०६ में अहमदाबाद के पास मराठों ने मुग़लों को परास्त किया। उस समय सूरत और भड़ोच के बीच मराठों की सेना फैली हुई थी। इस सेना ने इन दोनों शहरों के लोगों से खंडनी वसूल की।

इसी समय कान्होजी आंग्रे का प्रताप बढ़ने लगा और इसकी और अङ्गरेज़ों की कोंकन-प्रांत के किनारों पर मुठभेड़ होने लगी। कान्होजी अपनी ही हिम्मत पर सामुद्रिक काम करता था। यह अङ्गरेज़ों को थोड़े समय में ही विघ्न-स्वरूप दिखाई देने लगा। इसने खाँदेरी पर अधिकार कर उसे बसा दिया था।

सन् १७१८ में दक्षिण कोंकन के सांवन्त वाड़ी के देसाइयों ने सात हज़ार सेना लेकर कारवार की अङ्गरेज़ों की कोठी को घेरा और क़रीब दो महीनों तक घेरा डाले रहे और जब अङ्गरेज़ों की कुमक जल-मार्ग से आने पर हुई, तो उसी समय देसाइयों का घेरा उठ गया; क्योंकि शाहू महाराज की सेना ने सावन्त वाड़ी के उत्तर प्रदेश पर चढ़ाई कर दी थी। देसाइयों ने अङ्गरेज़ों के पास अपना वकील भेजा और उसके द्वारा देसाइयों और अङ्गरेज़ों की सन्धि हुई।

शिवाजी के समय में कान्होजी आंग्रे मराठी नौ-सेना में खलासी का काम करता था। वह अपने पराक्रम के कारण राजाराम के समय में उसी सेना का मुख्य सेनापति हो गया। शाहू महाराज के दक्षिण में जाने पर मराठों में जब फूट हो गई तब कान्होजी ने पहले तो ताराबाई का पक्ष लिया; पर

फिर वह शाहू के पक्ष में मिल गया। इस समय सावन्त बाड़ी से लेकर बंबई तक प्रायः सब किनारा उसीके अधिकार में था, तथा शाहू महाराज ने उसे खाँदेरी, कुलावा, सुवर्णदुर्ग और विजयदुर्ग के क़िले कोट वाले थाने और सरखेल की पदवी प्रदान की। उसने हवशियों का प्रभाव मिट्टी में मिला दिया और वह कोकन के किनारे पर आने-जाने वाले सम्पूर्ण परदेशी जहाज़ों से चौथ वसूल करने और उन्हें लूटने भी लगा। उसके पास दस बड़े जहाज़ थे जिन पर १६ से ३० तक और ५० छोटे जहाज़ जिन पर ४ से १० तक तोपें चढ़ी रहती थीं। उस समय (१७१६) अङ्गरेज़ों के पास ३२ तोपों का एक जहाज़ २० से २८ तोपों तक के ४ जहाज़ और ५ से १२ तक के २० जहाज़ थे। इनका ख़र्च पाँच लाख रुपये वार्षिक था। पोर्तुगीज़ और शिद्दियों का अधिकार कम हो जाने के कारण अङ्गरेज़ों और आंग्रे की ही प्रायः मुठभेड़ होती थी। १७१६ में मलाबार किनारे पर इन दोनों का पहला युद्ध हुआ जिसमें आंग्रे का पराभव हुआ। सन् १७१७ में जब आंग्रे ने अङ्गरेज़ों का "सकसेस" नामक जहाज़ पकड़ा, तब अङ्गरेज़ों ने क्रोधित होकर विजयदुर्ग के क़िले को घेर लिया; परन्तु वे उसे न ले सके। ता० १८ अप्रैल सन् १७१७ में अङ्गरेज़ी बेड़े को हार खाकर लौट जाना पड़ा। सन् १७१८ के अक्टूबर मास में अङ्गरेज़ों ने खाँदेरी पर आक्रमण किया; परन्तु यहाँ भी उनका पराभव हुआ और उन्हें वापिस लौट जाना पड़ा। इस प्रकार अङ्गरेज़ों के खाँदेरी लेने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। इस समय अङ्गरेज़ी व्यापारियों के जहाज़ों को सताने का काम आंग्रे धड़ाके से कर रहा था। उसने बंबई के अङ्गरेज़ों को कहला भेजा था

कि "तुम और पोर्तुगीज़ मेरा अभी तक कुछ नहीं कर सके हो; इसलिये मेरे रास्ते में व्यर्थ मत आओ।" इसने कितने ही अङ्गरेज़ों को बहुत दिनों तक क़ैद में रखा था। सन् १७२० में आंग्रे ने शार्लट नामक अङ्गरेज़ी जहाज़ पकड़ कर विजयदुर्ग के बन्दर में ला रखा था। उसने कोकन किनारे के सम्पूर्ण कोट वाले स्थानों पर तोपों के मोर्चे लगा रखे थे, जिनके द्वारा उसके मराठे और यूरोपियन कर्मचारी दूर दूर तक मार करते थे। सन् १७२२ में अङ्गरेज़ों और पोर्तुगीज़ों ने मिलकर कुलावा में आंग्रे पर चढ़ाई की, परन्तु उसमें वे सफल न हो सके। फिर १७२४ में डच लोगों के सात जहाज़ी काफ़िलों ने ५० तोपों के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया; परन्तु इसमें उन्हें भी यश नहीं मिला। सन् १७२७ में आंग्रे ने फिर कम्पनी का एक माल से भरा हुआ व्यापारी जहाज़ पकड़ा। इस प्रकार आंग्रे का जहाज़ी बेड़ा दिन पर दिन बढ़ने लगा। सन् १७२६ में उसने फिर किंग विलियम नामक कम्पनी का जहाज़ पकड़ा और केप्टन मेकलीन नामक अधिकारी के पाँव में बेड़ी डाल कर बहुत दिनों तक उसे क़ैद में रखा और ५०० रुपये खंडनी के देने पर उसे छोड़ा। १७३१ में कान्होजी आंग्रे की मृत्यु हो गई। जब तक यह जीता रहा, तब तक अङ्गरेज़ इसका कुछ भी न कर सके। कान्होजी के मरने के पश्चात् उसके छोटे लड़के सखोजी ने १७३२ के जून मास में बम्बई के प्रेसीडेन्ट के पास सन्धि करने के लिए दो वकील भेजे; परन्तु सखोजी तुरन्त ही मर गया और उसके भाइयों में परस्पर कलह उत्पन्न हो गई। तब कान्होजी का दासी-पुत्र मानाजी आगे आया और उसने पोर्तुगीज़ों की सहायता से कुलाबा पर अधिकार

कर लिया। फिर बाजीराव पेशवा की मध्यस्थता में शाहू महाराज से उसने मैत्री कर ली और अपनी सत्ता बढ़ाने लगा। बम्बई के गवर्नर को यह सहन नहीं हुआ; अतः उन्होंने मानाजी के विरुद्ध हबशियों को सहायता दी; परन्तु मानाजी ने भी शत्रुओं के बेड़े पर अधिकार कर लिया और हबशियों के कितने ही क़िले ले लिये। पेनकी खाड़ी पर उसने अपना अधिकार जमाया और इस प्रकार वह बम्बई बन्दर तक आ पहुँचा। इधर पहले बाजीराव पेशवा को सबसे पहले जंजीरे के हबशियों को ठिकाने लगा देने के लिए अङ्गरेज़ों की सहायता लेने की आवश्यकता हुई; अतः राजापुर के घेरे के समय ही शाहू महाराज के नाम से बम्बई के गवर्नर को एक पत्र भेजा, जिसमें प्रार्थना की कि आप हमारे शिद्दी-आक्रमण के कार्य में बाधा न डालें। फिर हबशी और पेशवा के बीच में मध्यस्थता का कार्य्य भी अङ्गरेज़ों को ही मिला; परन्तु पेशवा और आंग्रे के बीच मैत्री होने के कारण अङ्गरेज़ों और पेशवा के बीच मैत्री होना संभव नहीं था। इसके सिवा अङ्गरेज़ और हबशियों की सन्धि, आंग्रे के विरुद्ध हो चुकी थी, जिसमें यह शर्त ठहरी थी कि दोनों के मिल कर आंग्रे का पराभव करने पर अङ्गरेज़ों को खाँदेरी द्वीप और उस परका सम्पूर्ण फ़ौजी सामान तथा कुलावा भी मिलेगा और पेठण तथा नागा थाना की खाड़ियों के बीच के प्रदेश में अङ्गरेज़ अपनी कोठियाँ स्थापित कर सकेंगे और स्थल पर के जो स्थान हस्तगत होंगे वे हबशियों को मिलेंगे। यद्यपि यह संधि अङ्गरेज़ और हबशियों के बीच में हुई थी, तथापि उस समय हबशियों की सत्ता गिर रही थी; अतः अङ्गरेज़ों को हबशियों की सहायता से कुछ भी

लाभ नहीं हुआ; प्रत्युत अङ्गरेज़ी कम्पनी का नौ-सेना का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, इसलिए इस सन्धि से अङ्गरेज़ों को कुछ भी लाभ नहीं हुआ। उलटी शाहूराजा की सहायता से आंग्रे की सत्ता बढ़ने लगी, और यदि मानाजी और संभाजी की आपसी गृह-कलह न बढ़ती, तो आंग्रे ने गोवा से लेकर बम्बई तक सम्पूर्ण कोकन-पट्टी के किनारे पर अधिकार कर लिया होता। पेशवा को गृह-कलह के समान आंग्रे की गृह कलह ने भी अङ्गरेज़ों के लिए पथ्य का काम किया। बम्बई के अङ्गरेज़ों ने कप्तान इंचवर्ड को मानाजी आंग्रे के पास कुलावा भेजा और संभाजी आंग्रे के साथ उनकी लड़ाई के विषय में चेताने के लिए द्रव्य और फ़ौजी सामान से सहायता देने को कहलवाया। सन् १७३८ के दिसम्बर मास में कमोडोर बेगवेन की तथा संभाजी आंग्रे के बेड़े की राजापुर की खाड़ी में मुठभेड़ हुई; परन्तु संभाजी का बेड़ा भाग जाने के कारण बचगया। इसी मास में संभाजी आंग्रे ने अङ्गरेज़ों का डार्बी नामक व्यापारी जहाज़ हस्त-गत कर लिया। १७३६ में उसने अङ्गरेज़ों के साथ सन्धि करने का प्रयत्न किया। इस सन्धि में संभाजी की यह शर्त थी कि अङ्गरेज़ों के व्यापारी जहाज़ आंग्रे के दस्तख़ती आज्ञा-पत्र से पश्चिम किनारे पर व्यापार कर सकेंगे और आंग्रे की ओर से उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इसलिए अङ्गरेज़ों को २० लाख रुपये वार्षिक देना होगा; परन्तु अङ्गरेज़ों को यह शर्त स्वीकार नहीं हुई। सन १७३६ के मार्च मास में कप्तान इंचवर्ड ने मानाजी आंग्रे के ८ लड़ाऊ जहाज़ पकड़े; परन्तु मानाजी ने भी तुरन्त ही अर्थात् नवम्बर महीने में एलीफैंटा पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार

संभाजी और मानाजी आंग्रे अङ्गरेज़ों के साथ कभी युद्ध और कभी सन्धि कर रहे थे कि इसी बीच में पेशवा और अङ्गरेज़ों में मैत्री होगई और इस मैत्री के कारण दोनों आंग्रे भाइयों के हाथ से कुलावा निकल जाने की बारी आई, तब दोनों भाइयों ने उस समय परस्पर कामचलाऊ मैत्री कर अपना मतलब साध लिया। इस वर्णन पर से सन् १७३६ तक अङ्गरेज़ों के साथ शिवाजी, संभाजी और आंग्रे का सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार रहा यह विदित हो जाता है; परन्तु मराठों और अङ्गरेज़ों का बसई-युद्ध के कारण इससे भी निकट सम्बन्ध हुआ है यह आगे दिखलाया जाता है। सन् १७३७ तक अङ्गरेज़ों को मराठों का प्रत्यक्ष परिचय बहुत अधिक नहीं था, न मराठों के उत्कर्ष से अधिक भय ही था; परन्तु फिर उन्हें मराठों से वास्तविक डर होने लगा। सन् १७३१ में मराठों ने थाना के पोर्तुगीज़ लोगों पर आक्रमण किया। उस समय पोर्तुगीज़ और अङ्गरेज़ों में परस्पर मनमुटाव होने के कारण बम्बई के अङ्गरेज़ों ने मराठों को उत्तेजना दी। परन्तु तुरन्त ही अङ्गरेज़ समझने लगे कि यह हमने भूल की है। सन् १७३७ के अप्रैल मास में सूरत के एक अङ्गरेज़ ने बंगाल में रहने वाले अपने एक मित्र को जो पत्र लिखा था उसमें उसने अपने जाति-भाइयों को मराठों का परिचय इस प्रकार कराया था कि "शाहू राजा की अधीनता में रहने वाले मराठे नामक लोगों ने पोर्तुगीज़ लोगों पर इतनी भारी विजय प्राप्त की है कि उससे अनुमान होता है कि धीरे धीरे बम्बई बन्दर पर भी चढ़ाई कर ये बहुत शीघ्र हमें (अङ्गरेज़ों को) हरा देंगे।" इस वर्ष मराठों ने थाने का क़िला पोर्तुगीज़ों से ले लिया, सो थाने की खाड़ी की ओर

से बान्द्रे पर मराठों के चढ़ आने का भय अङ्गरेज़ों को होने लगा। तब उन्होंने अपनी सेना और गोला, बारूद आदि सामग्री वहाँ भेजी। इधर मराठों से वे दिखाऊ ढंग से मिठास और स्नेह का व्यवहार करने लगे। उन्होंने स्वयं जाकर मराठों को यह समाचार दिया कि थाने का क़िला छीन लेने के कारण तुम पर पोर्तुगीज़ लोग बम्बई से चढ़ाई करने वाले हैं और क़िले के लोगों को गोला-बारूद से सहायता पहुँचाई। इस कारण पोर्तुगीज़ों का आक्रमण सफल न होसका तथा उनका सरदार दांनअंतोनियो मारा गया। इसके पहले एक बार जब शिद्दी ने बंबई पर आक्रमण किया, तब पोर्तुगीज़ों ने अङ्गरेज़ों की ओर के समाचार शिद्दी को दिये थे। इसलिए अङ्गरेज़ों ने पोर्तुगीज़ों के समाचार मराठों को देकर बदला चुकाया और संतोष माना; परन्तु यूरोप के अन्य इतिहासकारों ने लिखा है कि अङ्गरेज़ों ने यह चुगली की थी। थाना के बाद मराठों ने तारापुर लिया और सन् १७३६ के फ़रवरी मास में वोर्सोवा नामक स्थान लेकर बसई पर घेरा डाला। इस समय पोर्तुगीज़ों ने अङ्गरेज़ों से बड़ी दीनता से सहायता माँगी; परन्तु अङ्गरेज़ों ने कुछ कारण दिखला कर सहायता देना अस्वीकार कर दिया। अन्त में, चिमना जी आप्पा पेशवा को सफलता मिली और पोर्तुगीज़ उनकी शरण आये। इस लड़ाई में मराठों को हज़ारों प्राणों की जो हानि उठानी पड़ी उसका बदला उन्हें बसई हस्तगत हो जाने पर दूसरे रूप में मिला। बसई के क़िलेदार जानमिंटो ने इस संबंध में बंबई के गवर्नर को लिखा था कि "मराठों की इच्छा थाना लेने की अपेक्षा बंबई लेने की अधिक है। उनके थाना लेने का कारण यह है कि वह बंबई के मार्ग को ताके;

चन्दी का स्थान है। आज जिस प्रकार तुम्हारा मराठों से स्नेह है वैसा ही एक समय हमसे भी था; परन्तु उनपर विश्वास नहीं होता। बंबई बन्दर की सम्पत्ति लेने को उनकी बहुत इच्छा है। आज तुमसे स्नेह-पूर्वक व्यवहार करने का कारण यह है कि वे अङ्गरेज़-पोर्तुगीज़ों से एक साथ शत्रुता करने में असमर्थ हैं। ज्यों ही साष्टी बन्दर पर मराठों का पाँव जमा कि समझो, तुम्हारा भी नाश-काल समीप ही है। क़िले पर जो तोपें मारी गई हैं उनके टुकड़ों पर के चिह्नों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तुमने मराठों को गोला बारूद से सहायता दी है और तुम्हारे तीन गोलंदाज भी मराठों की सेना में थे। इसीलिए मराठों की तोपों के निशाने हमारे लिए बाधक हुए।" बसई के घेरे के समय पोर्तुगीज़ों ने अङ्गरेज़ों से सहायता माँगी थी; क्योंकि उन्हें भोजन-सामग्री और बारूद के चारसौ पीपे तथा पाँच हज़ार गोलों की आवश्यकता थी; परन्तु मराठों ने ऐसा ज़बरदस्त घेरा डाला था कि अङ्गरेज़ सहायता पहुँचाने में असमर्थ थे; तो भी उन्होंने थोड़ी बहुत सहायता पहुँचाई। सेना को वेतन चुकाने के लिए पोर्तुगीज़ों ने कुछ नगद रुपयों की सहायता भी माँगी थी; परन्तु अङ्गरेज़ों ने देना स्वीकार नहीं किया। केवल ईसाई मन्दिर के चाँदी के बर्तन और पीतल की तोपों को गहने रख कर पन्द्रह हज़ार रुपये दिये।

बसई सरीखा मज़बूत क़िला मराठों के ले लेने पर अङ्गरेज़ों को यह भय होने लगा था कि ये बम्बई बन्दर भी सहज ही में लेलेंगे। बम्बई के क़िले की उँचाई केवल ग्यारह फुट थी; इसलिए उसके चारों ओर खाई खोदने की ज़रूरत थी। इस कार्य्य में तीस हज़ार का ख़र्च था। इस ख़र्च की रक़म

१) रुपया सैकड़ा अधिक जक़ात लेकर वसूल करने की लिखित सम्मति बम्बई के देशी व्यापारियों ने दी। उनके लेख में इस प्रकार के वाक्य थे; "अङ्गरेज़ कम्पनी के शासन में हमें बहुत सुख है। हमारी सम्पत्ति को किसी प्रकार का धोखा नहीं है। हम अपने धर्म का पालन स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकते हैं। हमारी इच्छा है कि यही सुख हमारी भावी पीढ़ी को भी मिले। हमें बम्बई छोड़ कर अन्यत्र सुख से रहने की कोई जगह नहीं दिखलाई देती। इधर मराठे लोग पास ही आ पहुँचे हैं; इसलिए उनसे बम्बई की रक्षा करने के लिए हम तीस हज़ार रुपये प्रसन्नतापूर्वक देते हैं।" इस लेख के नीचे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, आदि अनेक जाति और धर्म के लोगों के हस्ताक्षर थे। वसई हाथ से निकल जाने पर उत्तर कोकन-प्रान्त में पोर्तुगीज़ों को कोई मुख्य आधार नहीं रहा। चौल और महाड़ बाणकोट बन्दर के थाने वे स्वयं छोड़ने को उद्यत हो गये और चौल का थाना अङ्गरेज़ों को देना स्वीकार किया। इसके पश्चात् अङ्गरेज़ों की मध्य-स्थता में पोर्तुगीज़ और पेशवा के बीच सन्धि की बातचीत चली और कप्तान इंचबर्ड ने ता० १४ अक्टूबर सन् १७४० को बाजीराव पेशवा और गोवा के पोर्तुगीज़ वाइसराय में सन्धि करवा दी जिसके द्वारा यह शर्त की गई कि पोर्तु-गीज़ लोग चौल और पहाड़ के क़िले मराठों को देवें और मराठे साष्टी से अपनी सेना वापिस मँगा लें और जब तक यह सेना न लौट आवे, तब तक उक्त दोनों क़िले अङ्गरेज़ अपने अधिकार में रखें। पोर्तुगीज़ों के नामशेष हो जाने से पेशवा और अङ्गरेज़ों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अधिक होने लगा। अब उन्हें मराठों की सत्ता प्रत्यक्ष दिखलाई देरही थी और

वे उसे जान पहिचानने लगे थे; इसलिए सितारा के भी राज दरबार में प्रवेश करने की इच्छा अङ्गरेज़ लोगों की हुई और उन्होंने कप्तान विलियम गार्डन नामक फ़ौजी अधिकारी को शाहू महाराज से मिलने के लिए सितारा भेजा इस अधिकारी को अङ्गरेज़ बम्बई सरकार की ओर से गुप्तरीति से यह समझा दिया था कि तुम ऊपर से तो बहुत स्नेह बतलाना; परन्तु भीतर ही भीतर इस बात की जाँच करना कि पेशवा के वास्तविक शत्रु दरबार में कौन कौन हैं? इसके सिवा उस समय शाहू महाराज की अपेक्षा बाजीराव पेशवा अधिक प्रबल थे। यह अङ्गरेज़ों से छिपा नहीं था। इसलिए उनसे भी मिले रहने की इच्छा से अङ्गरेज़ों ने एक स्नेहपूर्ण पत्र और कुछ भेंट के साथ कप्तान इंचबर्ड को पेशवा बाजीराव के पास भेजा।

शाहू महाराज की नज़र करने के लिए बंबई के बोर्ड ने यह निश्चय किया कि काँच आदि का सामान जो थोड़े ख़र्च में बहुत मिल सके कप्तान गार्डन के साथ भेजा जाय। गार्डन साहब ता० १२ मई को बम्बई से रवाना हुए। उनके साथ काज़ीपन्त नामक पुरुष भी था। यह शिर्दी के यहाँ की बातों से जानकारी रखता था। बम्बई कौन्सिल ने गार्डन को इस प्रकार काम करने के लिए आज्ञा दी कि—"तुम्हारे साथ के पत्र और नज़राने सदा की रीति के अनुसार अदब के साथ जिसके लिए हों उन्हें ही देना। शाहू राजा के दरबार में उनके मुख्य मुख्य सलाहकार कौन कौन हैं, उनके विचार कैसे हैं और उनका हिताहित संबन्ध किस प्रकार का है? इसका पता सूक्ष्मदृष्टि से लगाना। दरबार में बाजीराव पेशवा के शत्रु बहुत हैं, इसलिए योग्य अवसर

देखकर उनके हृदय में स्पर्धा और ईर्षा उत्पन्न करने का प्रयत्न करना और उन्हें समझाना कि पेशवा पहले से ही प्रबल है और इधर पोर्तुगीज़ों से विजय प्राप्त करने के कारण वह और अधिक प्रबल होगा; इसलिए उसके बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का यही अवसर है। अपनी कमज़ोरी उन्हें बहुत न दिखलाना। उन्हें यही बतलाना कि हम बाजीराव से डरते नहीं हैं। यदि हम पर चढ़ाई हो, तो हम अपना बचाव कर सकते हैं। उन्हें यह भी समझाना कि हमारी इच्छा केवल व्यापार करने की है, किसी के राज्य लेने की नहीं और न हम किसी के धर्म में ही हस्तक्षेप करते हैं। इस देश का माल लेजाकर हम अपने देश में बेचते हैं और उसके बदले में यहाँ पैसा और माल लाते हैं तथा जगात भी देते हैं। यह तुम्हारा ही काम है। हमारा व्यापार मराठों के लिए सब तरह से लाभदायक है।" गार्डन साहब २३ मई के लगभग सितारा के पास पहुँचे। २५वीं तारीख को श्रीपति राव प्रतिनिधि के कर्मचारी अन्ताजी पंत ने उनका सत्कार किया और शाहू महाराजा के सितारा में न होने के कारण गार्डन साहब को साथ में रक्षक देकर शाहूजी के पास रहमतपुरा भेजा। ता० ३ जून को वे श्रीपतिराव प्रतिनिधि से मिले और ७वीं को शाहूजी से उनकी मुलाकात कराई गई। इधर-उधर की बात होने के बाद शाहू महाराज ने गार्डन साहब से पूछा कि क्या अब अङ्गरेज मराठों से डरने लगे हैं और इसीलिए उन्होंने अपने वकील मेरे पास भेजे हैं? केप्टन गार्डन ने उत्तर दिया, "नहीं, मराठों के डर से मैं यहाँ नहीं भेजा गया हूँ, किन्तु मराठों से मैत्री करने की इच्छा ही मेरे आने का कारण है।" अङ्गरेजों की ओर से शाहू महाराज को

जो चीज़ें नज़र की गईं उनमें सुन्दर काँच और चित्रविचित्र पक्षियों को देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अङ्गरेज़ों से मैत्री रखने का आश्वासन दिया; परन्तु गार्डन साहब मन में समझ गये कि पेशवा बाजीराव इतना प्रबल हो रहा है कि उसके आगे महाराज के आश्वासन देने या न देने का कुछ भी मूल्य नहीं है। जब शाहू महाराज को यह विदित हुआ कि बाजीराव और चिमनाजी अङ्गरेज़ों के विरुद्ध हैं, तब उन्होंने कहा, "ये अङ्गरेज़ लोग अच्छे आदमी हैं। यदि मैं इन्हें सहारा दूं तो बाजीराव उसे कभी अस्वीकार न करेंगे।" गार्डन साहब ने रानी विरूबाई को भी पत्र और नज़राना भेजा तथा बाजीराव के पुत्र नानासाहब से भी वे मिले। जब नानासाहब से उससे खोद खोद कर बातें पूछीं तो उसे विदित हो गया कि यह अङ्गरेज़ों को पानी में देखता है। इस समय बाजीराव बरहानपुर में थे और यह अफवाह चारों ओर उड़ रही थी दक्षिण में नादिरशाह मराठों पर आक्रमण करने वाला है। ता० २७ की बातचीत में महाराज ने गार्डन साहब से पूछा कि "तुम आंग्रे को क्यों सताते हो"? तब गार्डन ने उत्तर दिया कि "वह समुद्र में व्यापारियों को कष्ट देता है।" ता० ३० जून को गार्डन साहब मराठों की छावनी से रवाना हुए और तारीख १४ जुलाई को बम्बई पहुँचे। वहाँ कौंसिल के सन्मुख गार्डन साहब ने यह विवरण उपस्थित किया कि "शाहू महाराज को थाना और साष्टी का लेना पसंद था; परन्तु बम्बई पर चढ़ाई करना उन्हें पसंद न था। बाजीराव का हेतु बम्बई पर चढ़ाई करने का नहीं है और बाजीराव के सिवा दूसरों के मत अङ्गरेज़ों के अनुकूल हैं। बाजीराव की महत्वाकांक्षा बढ़ रही है। वह मुग़लों के राज

से पैसा लूटकर बहुत सेना रखना चाहता है। शाहू राजा के पास केवल २६,००० सैनिक हैं; परन्तु बाजीराव के पास ४०,००० हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर वह मराठों को तुरंत एकत्रित कर सकता है। बाजीराव अपने विचार सदा गुप्त रखता है, यहाँ तक कि कई बार तो उसको सेना को यही नहीं मालूम हो पाता कि आगे का मुक़ाम कहाँ होने वाला है। बाजीराव पर सेना का पूर्ण विश्वास है। सारांश यह कि बाजीराव के प्रबल होने के कारण, राज्य के अन्य सातों मंत्रियों के विरुद्ध होने पर भी, वह अपने ही मन की करता है; इसलिए हमें बाजीराव के अप्रसन्न न होने देने की चेष्टा करना उचित है। पूने के अन्ताजी नायक बेहेरे नामक व्यापारी की इच्छा बम्बई में अपना गुमाश्ता रखकर व्यापार करने की है। यह बाजीराव के विश्वासियों में से है, इसलिए इसके कहने पर हमें विचार करना उचित है।"

ता० २० जुलाई, १७३९ की बंबई कौंसिल की कार्य-विवरण-पुस्तिका में इस प्रकार टिप्पणी लिखी गई है कि—

"यद्यपि मराठों का व्यापार से होनेवाले लाभ पर लक्ष्य है तथापि बाजीराव के दाँत हमारे बम्बई बन्दर पर हैं और हमें अपने कहने में लाने के लिए वह बहुत सावधान है; अतः कप्तान इंचबर्ड ने जो सन्धि बाजीराव से की है सब बातों का विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि वह स्वीकार की जाय। बसई ले लेने के कारण मराठे प्रबल हो गये हैं; अतः इस समय उनसे विरोध करना उचित नहीं है। यद्यपि हमारी सामुद्रिक शक्ति उनसे कुछ अधिक प्रबल है तथापि उनकी स्थल-सेना बहुत ही अधिक बलवान है।"

गार्डन साहब जब बंबई लौट कर जाने लगे तो शाहू

महाराज ने बंबई के गवर्नर को एक पत्र उनके हाथ भेजा। उसमें लिखा था कि "कप्तान गार्डन की मार्फत आपका पत्र मिला; समाचार विदित हुए। अङ्गरेज़ों के साथ मेरा स्नेह-सम्बन्ध जैसे का तैसा बना हुआ है। तुमने उस सम्बन्ध को न तो अभी तोड़ा है और न आगे भी तोड़ोगे, ऐसी आशा है। तुम्हारे व्यापार पर मेरी कृपा-दृष्टि रहेगी। सदा पत्र भेजते रहें और स्नेह बढ़ाते रहें।" इसी समय शाहू ने बाजीराव को इस प्रकार पत्र लिखा कि "अङ्गरेज़ लोग पहले से हमसे ईमान के साथ व्यवहार करते आये हैं। बम्बई के गवर्नर स्टीफन ला के द्वारा भेजा हुआ गार्डन नामक वकील मुझ से मिला था। हमारे साथ स्नेह रखने की उनकी इच्छा है। उनकी पद्धति व्यापारी है और वे हमसे निष्कपट रीति से व्यवहार करते रहे हैं। वे वचन के पक्के हैं; इसलिए तुम उनसे अच्छी तरह स्नेह रखना"। चिम्माजी आप्पा को भी शाहू महाराज ने ऐसा ही एक पत्र भेजा था। ता० २६ जून, सन् १७३६ को बाजीराव ने बम्बई के गवर्नर को इस आशय का पत्र भेजा कि "शाहू महाराज से स्नेह-पूर्वक पत्र-व्यवहार करने की आपकी इच्छा उचित है। हमारी विजय के कारण तुम्हें जो हर्ष हुआ उससे हम संतुष्ट हुए। हमारी भी तुम्हारे समान यही इच्छा है कि तुम्हारा-हमारा व्यापार बढ़े और राज्य तथा प्रजा को लाभ पहुँचे।" इन्हीं दिनों चिम्माजी आप्पा के पास इंचवर्ड साहब अङ्गरेज़ों के वकील बन कर गये थे। दोनों की मुलाक़ात बसई में हुई। चिम्माजी आप्पा ने कहा कि "बसई के घेरे के समय अङ्गरेज़ों ने जो पोर्तुगीज़ों को सहायता दी उससे हमें अपने काम में बहुत कष्ट उठाना पड़ा।" इस पर इंचवर्ड साहब ने उत्तर

दिया कि "अब आप वसई के स्वामी हो गये हैं; अब हम आपकी सहायता करेंगे।" चिम्माजी आप्पा ने यह भी कहा कि "अब हम दमण, चौल आदि स्थान लेने वाले हैं तथा अपनी नौ-सेना भी बढ़ाना चाहते हैं।" तब इंचबर्ड साहब ने मौक़ा देखकर यह बतलाते हुए कि नौ-सेना के प्रबल हो जाने से आप सामुद्रिक डाकुओं का नाश कर सकेंगे, मुक्त-व्यापार-नीति के लाभों पर एक व्याख्यान दे डाला, जिसमें उन्होंने कहा कि "आपका देश संपन्न और सुखी है। आप व्यापार को बढ़ाओ; जगात कम कर दो; विदेशी व्यापारियों के जहाज़ प्रत्येक बन्दर में आने दो; उनकी कोठियों की रक्षा करो। इन बातों से तुम्हारे देश को लाभ होगा। जगत् में विशाल-बुद्धि और उदार मन के महत्वाकांक्षी लोग इसी राज-मार्ग का अनुसरण करते हैं।" मालूम होता है कि इनके व्याख्यान की बहुत सी बातें चिम्माजी को पसंद आईं; क्योंकि ता० १२ जुलाई, १७३९ को पेशवा और अङ्गरेज़ों में व्यापारी सन्धि हो गई, जिसके अनुसार अङ्गरेज़ों को पेशवाई राज्य में व्यापार करने की इजाज़त मिली।

चिम्माजी के पास इंचबर्ड साहब को भेजते समय बंबई कौन्सिल ने इस प्रकार अपने विचार और हेतु प्रकट करने के लिए उनसे कहा था—"यदि मराठे हमसे स्नेह करना चाहते हों, तो हमारी भी उनसे स्नेह करने की इच्छा है। हम सदा इस बात की सावधानी रक्खेंगे कि पोर्तुगीज़ मराठों पर आक्रमण न करने पावें और न वे बंबई की बगल में घाटी की ओर तटबन्दी आदि ही कर सकें। बंबई को अपने अधिकार में रखने में हमारा यही प्रयोजन है कि हम चारों ओर अच्छी तरह व्यापार फैला सकें; इस-

लिए खाड़ियों पर बैठाये हुए जगात के नाकों पर अङ्गरेज़ों को विशेष सुभीते दिये जाने चाहिए। मराठों के राज्य में कला-कौशल का माल यदि अच्छा होगा और उचित मूल्य पर मिलेगा, तो हम उसे अवश्य ही खरीदेंगे। हम जो थल-सेना और नौ-सेना रखते हैं उसे केवल अपनी रक्षा के लिए रखते हैं। यदि मराठे हमसे स्नेहभाव रखेंगे, तो हम समुद्र-किनारे पर उनके व्यापार को धक्का न लगने देंगे, प्रत्युत सहायता करेंगे। हमें आंग्रे का भय है; इसलिए पेशवा को अपने लड़ाऊ जहाज़ माहिम की खाड़ी में न भेजने होंगे; क्योंकि आंग्रे इससे लाभ उठा लेवेंगे, अर्थात् हम धोखे में पड़ जावेंगे और यह नहीं जान सकेंगे कि पेशवा के जहाज़ कौन से हैं और आंग्रे के कौन से। ऋण देने की हमें कंपनी सरकार की आज्ञा नहीं है और व्यापार में इन दिनों नुकसान है; इसलिए पेशवा हमसे खंडनी भी न लें। हमने शिद्दी और पोर्तुगीज़ को पहले सहायता अवश्य दी थी, सो केवल इसीलिए कि उनके पतन से हमारे हित में बाधा उत्पन्न होती थी। अब पेशवा की और हमारी मित्रता हो जाने पर हम तटस्थ रहेंगे। मानाजी आंग्रे से हमारी संधि हो गई है और शिद्दी, मुग़ल बादशाह के अधीन है; इसलिए इन दोनों के विरुद्ध हम आपकी सहायता न कर सकेंगे; परन्तु संभाजी आंग्रे हमारा शत्रु है, उसे जितना हमसे बन सकेगा हम त्रास दे सकते हैं"।

चिम्माजी आप्पा उस समय बीमार थे। इसलिए कप्तान इंचवर्ड से प्रत्यक्ष बातचीत करने में राघोबा दादा ही मुख्य थे। कोंडाजी मानकर के साथ सब बातचीत पक्की हुई और सन्धि की शर्तें ज़बानी ठहर गईं। फिर लिखवा

कर बम्बई कौंसिल के पास स्वीकृति के लिए भेजी गई। इचवर्ड साहब को यह शर्त प्रायः पसंद नहीं थी; क्योंकि उन्होंने लिखा था कि "प्रायः मराठे लोग कहते कुछ और लिखते कुछ हैं, तो भी यह संधि कर लेना उत्तम है।"

सन् १७५५ में आंग्रे का पतन करने के लिए पेशवा ने अङ्गरेज़ों से सहायता माँगी और अङ्गरेज़ों ने बड़ी प्रसन्नता से दी; क्योंकि आंग्रे की सामुद्रिक शक्ति के कारण अङ्गरेज़ उस पर पहले से ही अप्रसन्न थे। ता० २२ मार्च को मराठे और अङ्गरेज़ों ने सुवर्ण-दुर्ग को घेर लिया। इस घेरे में अङ्गरेज़ों की ओर से कप्तान जेम्स ५ लड़ाऊ जहाज़ों के साथ थे और मराठों के छोटे बड़े ६७ जहाज़ थे। लड़ने का काम मराठों ने लिया था और गोलंदाज़ी और निशानाबाज़ी का काम अङ्गरेज़ खलाशी करते थे। इस प्रकार आंग्रे के इस क़िले पर जय प्राप्त की गई। अङ्गरेज़ों ने बीस वर्ष में यही एक जय प्राप्त की थी। फिर उन्होंने बाणकोट का क़िला लिया और उसी वर्ष अप्रेल मास में नानासाहब पेशवा की प्रार्थना पर रत्नगिरि का क़िला लेने के लिए अङ्गरेज़ों ने कप्तान जेम्स को फिर भेजा। सन् १७५६ में कर्नल राबर्ट क्लाइव और एड-मिरल वाटसन के सरकारी जहाज़ बंबई आये और उन्हें लूट का लालच दिला कर अङ्गरेज़ों ने आंग्रे पर फिर चढ़ाई की। इस चढ़ाई में मराठे भी शामिल थे। इस बार इन लोगों ने विजयदुर्ग का दृढ़ क़िला हस्तगत किया। इस आक्रमण में कर्नल क्लाइव स्वतः सम्मिलित था। क़िले पर अङ्गरेज़ पहले चढ़े; इसलिए उस पर अङ्गरेज़ों का झंडा उड़ाया गया; परन्तु पेशवाओं को यह मान्य नहीं हुआ। अङ्गरेज़ विजयदुर्ग के क़िले के बदले में बाणकोट का क़िला

मराठों को देने लगे; परन्तु मराठों ने उसे लेना स्वीकार नहीं किया और अङ्गरेज़ों को लिखा कि "आप लोगों को ईमानदार समझ कर ही हमने आपसे सन्धि की थी; इसलिए आप का ऐसा व्यवहार उचित नहीं।" इस पर गवर्नर बोरशेअर ने लिखा कि "हमने समझा था कि यह अदला-बदली तुम्हें पसंद होगी तभी हमने यह प्रस्ताव किया था।" अन्त में बम्बई से स्पेन्सर साहब वकील को नाना फड़नवीस के पास पूना भेजा और ता० १२ अक्टूबर, सन् १७५६ के दिन संधि हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि मराठों को विजय-दुर्ग का क़िला दिया जाय और बाणकोट का क़िला अङ्गरेज़ों के पास रहे। बाणकोट क़िले के ख़र्च के लिए मराठे १० गाँव अङ्गरेज़ों को दें और पेशवाई राज्य में डच आदि यूरोपियन लोग व्यापार न करने पावें। इस सन्धि के पहले विजय-दुर्ग के संबन्ध में ता० २१ जुलाई, सन् १७५६ को नानासाहब पेशवा ने जो एक पत्र बंबई के अङ्गरेज़ों को भेजा था उसका आशय इस प्रकार था कि "विजयदुर्ग लेने की हमारी इच्छा के कारण हमने आंग्रे से युद्ध किया था; फिर हम वह क़िला तुम्हें कैसे दे सकते हैं? सब यूरोपियनों में अङ्गरेज़ अपने वचन के पाबन्द कहे जाते हैं, इसी लिए हमने विलायत के राजा और अङ्गरेज़ों से स्नेह रखा। विजय-दुर्ग का क़िला हमारे राज्य में है। उसीके लिए हमने युद्ध किया था; परन्तु जब अङ्गरेज़ स्वयं अपनी ओर से वचन भंग करते हैं, यह उचित नहीं है; अतः क़िला हमारी सरकार के कर्मचारियों के अधीन कर दीजिए।"

इस पत्र के उत्तर में अङ्गरेज़ों ने निम्न लिखित आशय का पत्र भेजा—"क़िला अपने अधिकार में रखने का कारण

केवल सन्धि की शर्त पूरी कराना है। उक्त लोगों का व्यापार आपने नाममात्र बन्द कर रखा है। उनका माल आपके राज्य में जाता है। हमारे और आप के बीच में किसी प्रकार का भ्रम न होने पावे, इसलिए मैं अपने वकील को आपके पास भेज रहा हूँ"। जानस्पेन्सर पूना को भेजे गये। इन्होंने ता० ३१ अक्टूबर, सन् १७५८ को बंबई कौन्सिल के सन्मुख यह रिपोर्ट पेश की:—"पेशवा के कारभारी अमृतराव के द्वारा मुझे यह विदित हुआ है कि नानासाहब पेशवा की सलाह से सलाबतजंग ने समीप में रहने वाले फ्रेञ्चों को निकाल दिया है। जिस समय मैं नानासाहब पेशवा से मिला उस समय उनके पास राघोबा दादा, सदाशिवराव भाऊ और अमृतराव थे। नानासाहब और सदोबा ने फ्रेञ्चों और सलाबतजंग के बीच जो घटना हुई थी उसका पूरा हाल मुझसे कहा। पेशवा ने कहा कि अब फ्रेञ्चों का प्रभाव कर्नाटक में न बढ़ सकेगा और घेरिया क़िला का मामला साफ़ होजाने पर, हमारे और तुम्हारे बीच में मनमुटाव होने का भी कोई कारण न रहेगा। नानासाहब ने अपनी यह इच्छा भी प्रकट की कि जिस प्रकार मद्रास के महम्मदअलीखाँ से अङ्गरेज़ों का स्नेह है वैसाही बंबई के अङ्गरेज़ों से हमारा रहे और जिस प्रकार महम्मदअलीखाँ को तोपख़ाना और सेना की सहायता अङ्गरेज़ों की ओर से दी गई, वैसीही सहायता हमें भी दी जाय; परन्तु मैंने अनेक कारण बतला कर उनसे कहा कि ऐसी सहायता देने में हम (अङ्गरेज़) असमर्थ हैं।

"इतनी बातचीत होने तक राघोबादादा चुपचाप थे, कुछ बोले नहीं थे। फिर उन्होंने दिल्ली पर आक्रमण करने के

लिए परवाना और सेना से सहायता देने का हमसे बहुत आग्रह किया; परन्तु मैंने फिर भी वही जवाब दिया। घेरिया का क़िला अधिकार में लेने के लिए गोविन्दशिवराम जा रहे हैं, वे भी शायद यही बात कहेंगे। यदि मुग़लों पर आक्रमण करने के लिए अङ्गरेज़ी सेना सहायता देगी तो कम्पनी सरकार को बहुत सी अड़चनों का सामना करना पड़ेगा। नानासाहब का चचेरा भाई सदाशिवराव भाऊ मुख्यतः कार्य-भार सम्हालता है। यह बहुत चतुर, कर्मण्य और अनुभवी पुरुष है; परन्तु साथ ही जल्दबाज़ और महत्वाकांक्षी भी बड़ा है। पेशवा के दरबार में सदाशिवराव भाऊ को ही साधना उचित है।" सन् १७५६ में बंबई कौन्सिल ने नानासाहब पेशवा के पास विलियम एंड्रू प्राइज़ नामक वकील को भेजा और उसे इस प्रकार काम करने को समझाया कि "इस समय पेशवा के दरबार में नानासाहब और सदाशिवराव भाऊ में मत-भेद हो जाने से बहुत गड़बड़ है, इसलिए सम्भव है कि बहुत से लोग कम्पनी सरकार की ओर झुकें; परन्तु तुम वहाँ बहुत सँभल कर लोगों पर विश्वास करना। शंकरावजीपन्त, सदाशिवराव भाऊ के पक्ष में मिल गया है, वह तुमसे बहुत सी भीतरी बातें बतलायगा। उसकी पूँजी सूरत में गुँथी हुई है। उसे आशा है कि हमारी सहायता से वह उसे मिल जायगी, इसलिए वह झूठा स्नेह बतलाता होगा, तुम सावधान रहना। रामाजीपन्त के कहने से मालूम हुआ है कि जँजीरा और खँदेरी के लेने के लिए हमने पेशवा को सहायता नहीं दी; इससे वे हम पर अप्रसन्न हैं; परन्तु तुम नानासाहब पेशवा को यह अच्छी तरह समझा देना कि रामाजीपन्त के जँजीरे पर आक्रमण करने के

पहले हमें इसके कोई समाचार नहीं दिये गये। अकस्मात् गंगाधरपन्त को हमारे पास भेजा; परन्तु हवशियों के विरुद्ध होना हमें उचित नहीं था। यदि रामाजीपन्त हमसे पहले पूछते तो हम उनसे कह देते कि जँजीरा लेना बहुत कठिन है। हम ठहरे व्यापारी। कोई भी आकर बंबई से हमारी कोठरी से माल खरीद सकता है। हबशी भी आकर खरीदते हैं। हमने उन्हें गोली-बारूद नहीं बेची। हमने मराठों को कभी कहीं नहीं रोका; प्रत्युत माहिम की खाड़ी में, थाने से आज्ञा आने तक, हमारे कितने ही आदमियों को रुकना पड़ा और कितनी ही बार मराठों की चौकियों पर हमारे नाविक अधिकारियों को अपनी तलाशी देना पड़ी।

"नानासाहब से तुम यह भी कहना कि हमने सुना है कि आप फ्रेन्चों से पत्र-व्यवहार कर रहे हैं और वे आपको जँजीरा तथा ऊँदेरी लेने में सहायता करने वाले हैं; परन्तु यह नीचता और कृतघ्नता है। यदि आपका यह विचार नहीं है तो फिर सब फ़ौजी बेड़ों को तैयार होने की आज्ञा क्यों दी गई है और क्यों दामाजी गायकवाड़ को वर्षाऋतु समाप्त होते ही सूरत पर आक्रमण करने की आज्ञा मिली है? सूरत के कारबार में कम्पनी सरकार का बहुत कुछ हाथ फँसा हुआ है, यह पेशवा अच्छी तरह जानते हैं। पेशवा के व्यवहार से विदित होता है कि हमें जो मुग़लों के पास से सनद मिली है उसे वे तुच्छ समझते हैं; परन्तु पेशवा स्वयं मुग़लों की सनद को जो उन्हें मिली है महत्त्व देते हैं। मुग़लों की आज्ञा और सनद के अनुसार सूरत का क़िला हमारे अधिकार में है; उसपर आक्रमण करना पेशवा को उचित नहीं है। सूरत के नवाब यदि पेशवा का ऋण नहीं चुकाते होंगे,

तो हम उनसे इसका निर्णय करवा देंगे; परन्तु सूरत पर आक्रमण होना ठीक नहीं। यदि होगा तो फिर हमें भी आपके साथ युद्ध करना पड़ेगा, इसे ध्यान में रखिए। वाणकोट क़िले के बदले में यदि तुम्हें वाणकोट के इधर और बंबई के नज़दीक कोई क़िले की ज़रूरत हो, तो हम उसपर विचार कर सकते हैं। नानासाहब को यह समझाकर कहना कि हबशियों के विरुद्ध होना हमारे लिए बहुत कठिन काम है। हम पेशवा से स्नेह-भाव रखना चाहते हैं; परन्तु नुकसान और अपमान सहन करने को हम तैयार नहीं हैं।"

वकील के साथ टोमस मास्टिन नामक एक अङ्गरेज़ और भेजा गया था और उससे कह दिया गया था कि यदि आवश्यकता समझो तो मास्टिन को नानासाहब पेशवा और सदाशिवराव भाऊ से बारबार मिलने के लिए दुभाषिया के साथ पूना में छोड़ आना। विलियम प्राइज़ ता० २४ अगस्त को बंबई से रवाना हुए और पूना के संगम पर ता० ४ सितम्बर को पहुँचे। पेशवा के पास इनके आगमन के समाचार पहुँचने पर सदाशिवराव भाऊ की ओर से बाबा चिटणवीस प्राइज़ साहब से मिलने आये और उन्हें सोमवार पेंठ में एक बंजारे के घर पर ठहराया। वहाँ नानासाहब, सदाशिवराव भाऊ, राघोबा, और विश्वासराव से विलियम प्राइज़ की मुलाक़ात हुई। नानासाहब के चले जाने पर सदाशिवराव से इनकी बहुत कुछ कहासुनी हुई। हबशियों के विरुद्ध अङ्गरेज़ों के सहायता न देने से दरबार के सब लोग अप्रसन्न थे। ता० २४ को नानासाहब फिर वकील से मिले; परन्तु इस मुलाक़ात से भी कुछ सार

नहीं निकला। गोविन्द शिवराम ने वकील को बहुत धमकाया और कहा कि "अङ्गरेज़ों के व्यापार को धक्का पहुँचाने और उनके थानों की आमदनी बलात् ले लेने की शक्ति पेशवा के हाथ में है।" इस पर वकील ने भी उत्तर दिया कि "पेशवा के शत्रु अङ्गरेज़ों से संधि करने को बिलकुल तैयार हैं। यदि पेशवा हमसे संधि नहीं करेंगे, तो हम उनके शत्रुओं से सन्धि करेंगे।" दूसरी मुलाक़ात में अङ्गरेज़ों के वकील ने गोविन्द शिवराम से कहा कि "साष्टी, विजय-दुर्ग प्रभृति क़िले हमें दिये जायँ और सूरत की आमदनी पर हक़ छोड़ दिया जाय, तो कदाचित् हम जँजीरा लेने में आपकी सहायता कर सकें"। परन्तु गोविन्द शिवराम ने उनकी यह बात सर्वथा अस्वीकार की। गुजरात के सम्बन्ध में भी वकील से कारभारी की बहुत कहा सुनी हुई। ता० १३ अक्टूबर के दिन भाऊ चढ़ाई के लिए निकला। ता० १६ अक्टूबर को अङ्गरेज़ों का वकील फिर नानासाहब से मिला और ता० २२ को भी उसने उनसे भेंट की; परन्तु जँजीरा के सम्बन्ध में बातचीत का कुछ परिणाम न निकल सका। तब नानासाहब ने वकील को एक घोड़ा और सिरपेंच देकर रवाना किया। प्राइज़ साहब की सारी वक़ालात व्यर्थ गई और वे ता० २३ अक्टूबर को बंबई चले आये। सन् १७६७ में अङ्गरेज़ों ने टामस मास्टिन को फिर पेशवा के पास भेजा। इस समय पूना में बड़े माधवराव पेशवा गद्दी पर थे।

जाते समय मास्टिन साहब को इस प्रकार समझाया गया कि "तुम पेशवा से यह कहना कि अब भी कितने ही बन्दरों पर हमारे माल के आने-जाने में बाधा पड़ती है और माल जहाँ

का वहाँ रुका पड़ा है। बम्बई के गवर्नर की विन्ती पर आपने यह बाधा न होने देने की आज्ञा येसाजी पंत को दे दी है; पर अभी कार्य नहीं होता। अब तदनुसार मैं इसी आज्ञा के अनुसार काम होने की प्रार्थना करने के लिए यहाँ आया हूँ। इससे भी अधिक महत्त्व का काम यह है कि जब विजयदुर्ग का क़िला लिया था उस समय आंग्रे के लड़के हमारे क़ैदी हुए थे। हमारी शरण में आने के कारण ही हमने उन्हें रख छोड़ा है। नहीं तो क़ैदी बना कर रखने में निरर्थक ख़र्च करने को कौन तैयार होगा। तुम यह बात ध्यान में रखना कि यद्यपि यह बात हमारे ध्यान में है कि मराठों का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जाता है और वह बहुत अनिष्टकारक है तथा मद्रास और बंगाल के हमारे अधिकारियों के मन में भी यही बात चुभ रही है, तथापि निज़ामअली और हैदरअली में परस्पर मैत्री हो जाने के कारण हमें मराठों से स्नेह रखना ही आवश्यक है। मराठे यदि चाहें तो हम उन्हें वेदनूर और सौंदा दे सकेंगे; परन्तु उसके बदले में उन्हें बसई और साष्टी देनी होगी और सूरत पर से भी अधिकार उठाना होगा और जहाँ हम चाहें वहाँ हमें बखार स्थापित करने की आज्ञा देनी होगी तथा कर्नाटक में मिर्च और चन्दन के व्यापार का कुल ठेका भी हमें ही देना होगा। हमारा मुख्य हेतु साष्टी लेने का है। मराठों से स्नेह कर उनकी सत्ता बढ़ने देना हमारे लिए अनिष्टकारक है परन्तु अभी इसके सिवा दूसरी गति नहीं है।

"माधवराव और रघुनाथराव में परस्पर झगड़ा होने के कारण माधवराव पेशवा का मन यदि अधिक व्यग्र हो, तो फिर हमें पेशवा की अधिक ख़ुशामद करने की ज़रूरत

नहीं है। तुम दरबार का रंगढंग देखकर यह पूछना कि यदि पेशवा हमसे मिलना चाहते हैं तो मद्रास की ओर काम पड़ने पर हमें कितनी सेना दे सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर से तुम वहाँ की वास्तविक स्थिति की परीक्षा कर सकोगे। माधवराव और रघुनाथराव के पास नज़राना और मंत्री के पत्र लेकर पहले यहाँ से भिन्न भिन्न मनुष्य भेजे गये थे। उनसे विदित हुआ है कि पेशवा को, विशेषतया रघुनाथराव को, हमारी (अङ्गरेज़ों की) सहायता की आवश्यकता है। हमारे विचार से काका भतीजे—रघुनाथराव माधवराव—का ऊपर से जो मेल-मिलाप दीखता है वह वास्तविक नहीं है। यदि तुम हमें इस बात का विश्वास करा दोगे कि हमारा यह विचार ठीक है, तो हमें बहुत प्रसन्नता होगी। इन दोनों काका-भतीजों के झगड़े के सिवा और कोई ऐसी बड़ी गृह-कलह हो जिसके कारण इनके राज्य-पतन की संभावना हो, तो उसकी सूचना हमें अवश्य देना। यदि निज़ाम या हैदर के वकीलों ने आकर पेशवा को प्रसन्न कर लिया हो, तो जिस तरह बने उस तरह पेशवा के मन में यह बात भर देना कि इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। तुम्हारे साथ जो नज़राना भेजा जाता है उसमें से राघोबा का नज़राना तुम्हारे सहकारी चार्लस ब्रोम की मार्फत नासिक भेज देना और पेशवा या राघोबा की ओर से ही बातचीत चले, इस बात के प्रयत्न में सदा रहना।"

मास्टिन साहब ता० १८ नवंबर, १७६७ को बंबई से चले। पनवेल की खाड़ी में आते ही उनके साथ पेशवा के अतिथि के समान व्यवहार किया जाने लगा। बेलापुर के क़िले के पास उन्हें तोपों की सलामी दी गई और उनके सम्मानार्थ [illegible]

बजाई गई। पनवेल में दादोपंत ने उनकी सब व्यवस्था की और आगे बेगारियों की सहायता से वे पूना पहुँचाये गये। मास्टिन साहब के पास सामान बहुत था। पचास एक बेगारी उनका सामान ले जाने में लगे। ता० २६ को वे गणेश-खिंड पहुँचे। वहाँ माधवराव पेशवा की ओर से रामाजी पन्त चिटनवीस आकर उनसे मिले और शहर में गोविन्द शिवरामपंत के बगीचे में वे ठहराये गये। वहाँ वे पेशवा से भेंट होने की तीव्र प्रतीक्षा करने लगे; परन्तु ता० ३ दिसम्बर से पहले यह भेंट न हो सकी। ३ दिसम्बर को शनिवार वाड़े के दीवानख़ाने में वे मिले। इस समय केवल कुशल-प्रश्न होकर अङ्गरेज़ों के वकील मास्टिन साहब ने पेशवा को निम्न लिखित वस्तुएँ भेंट कीं:—

१ घोड़ा, १ घड़ी, १ सोने का इत्रदान, १ इत्र की कुप्पी, २ शाल, १ कीनखाब की फ़र्द, १ शिकारी बन्दूक, १ जोड़ी पिस्तौल, १ पोशाक, ४ थान हरी मखमल, ६ थान गुलाबी मखमल, २ घुड़सवार के चाबुक, ८ गुलाब के इत्र की कुप्पियाँ, ४ थान ज़री का कपड़ा। इसके सिवा नारायणराव पेशवा को एक सोने की साकल, १ पोशाक, १ चाँदी की गाय, २ शाल, २ कीनखाब के थान और १ चाबुक भेंट में दिया।

अङ्गरेज़ वकील से शुभमूहर्त में मिलने के विचार से ही पहली भेंट में इतना विलंब हुआ; परन्तु आगे से ऐसा न होने देने के लिए वकील को गोविन्द शिवराम और रामाजी-पंत के द्वारा बहुत कुछ प्रयत्न करने पड़े, तो भी आज विहार है, कल राजवाड़े में ब्राह्मण भोजन है, आदि अनेक कारणों से फिर ४, ५ दिनों तक पेशवा मास्टिन से न मिल सके।

ता० ६ को मास्टिन साहब ने बंबई के गवर्नर को यहाँ की कच्ची स्थिति के सम्बन्ध में एक पत्र इस प्रकार लिखाः—

"गोपिकाबाई के उसकाने से समक्ष में मिलकर राघोबा को क़ैद करने का माधवराव का विचार था; परन्तु सखाराम बापू की मध्यस्थता से दोनों के बीच अभी सन्धि हो गई है जिसके अनुसार पेशवा रघुनाथराव को नासिक-त्र्यंबक के आसपास का १३ लाख का प्रान्त और कुछ क़िले देंगे । रघुनाथराव की फ़ौज का वेतन २५ लाख रुपये के लगभग चढ़ गया है जिसके जामिनदार पेशवा होंगे । इसके बदले में राघोबा ने स्वीकार कर लिया है कि हम कारबार में किसी प्रकार की उथल-पुथल न करेंगे । इस सन्धि के स्थायी होने की आशा किसी को भी नहीं है; पर हाल में तो यह झगड़ा मिटसा गया है । जाटों ने महादजी सिंधिया का पराभव किया है, इसलिए यहाँ से तुकाजीराव होलकर, नारोशंकर, शिवाजी विट्ठल विंचुरकर, सिंधिया को सहायता देने हिन्दुस्थान जाने वाले हैं । इसके सिवा कर्नाटक की चढ़ाई का हाल पत्र में लिखा ही है तथा माधवराव पेशवा जँजीरा लेने की इच्छा से स्वतः कोकन जाने वाले हैं । यहाँ यह जनश्रुति फैली है कि त्र्यंबकराव मामा, काशी, प्रयाग की यात्रा करते समय वहाँ के अङ्गरेज़ों से मिले और उन्होंने यह निश्चय किया कि अङ्गरेज़, मराठे और सुजाउद्दौला मिलकर जाट और रुहेलों का पराभव करें । पूना में यह जनश्रुति भी है कि राजापुर में अङ्गरेज़ों की सेना पराजित हुई है । एक सेनानायक तथा सौ, डेढ़ सौ सैनिक मारे गये हैं ।"

ता० ७ को मास्टिन साहब नाना फड़नवीस से मिले और पेशवा से पुनः मिला देने की उनसे प्रार्थना की; परन्तु

आज पेशवा थेऊर के देव-दर्शनार्थ जाने वाले हैं, कल तुकोजी होलकर हिन्दुस्थान को रवाना होंगे और परसों गोविन्द शिवराम के घर विवाहोत्सव में सम्मिलित होंगे, आदि बहाने किये गये और इस तरह ३, ४ दिन पेशवा से मास्टिन साहब की भेंट न हो सकी। ता० ११ को मुलाक़ात हुई। इस समय सखाराम बापू, मोरोबा फड़नवीस आदि लोग उपस्थित थे। इस बैठक में मुख्य कार्य के सम्बन्ध में बातचीत चली। पहले ही पेशवा की ओर से मास्टिन साहब से पूछा गया कि "एक प्रान्त के अङ्गरेज़ अधिकारियों द्वारा की हुई सन्धि की शर्तें दूसरे प्रान्त के अङ्गरेज़ अधिकारी मानते हैं या नहीं?"

मास्टिन साहब ने उत्तर दिया—"प्रत्येक प्रान्त के अधिकारी भिन्न भिन्न हैं; परन्तु कम्पनी के हित की घात होने पर वे एक दूसरे की बात सुनते हैं।" अन्त में यह ठहरा कि जब तक कर्नाटक से मराठे सरदार न लौट आवें तब तक कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जासकती। दूसरे दिन मास्टिन साहब गोविन्द शिवराम से मिले और उन्हें समझाया कि "निज़ाम अथवा हैदरअली से मिलने में पेशवा को लाभ नहीं है; किन्तु हमारे साथ मेल रखने में ही लाभ है; क्योंकि अङ्गरेज़ वचन के पक्के होते हैं।" सखाराम बापू का दरबार में बहुत मान था और वह एक प्रसिद्ध मंत्री माना जाता था; अतः मास्टिन साहब ने इनसे मिलने का प्रयत्न किया; परन्तु भेंट न हो सकी। इतने ही में कर्नाटक से पत्र आने पर बंबई वालों ने मास्टिन साहब को आज्ञा दी कि "कर्नाटक के सम्बन्ध में यदि पेशवा किसी का पक्ष न लेकर तटस्थ रहें तो उसमें हमारा लाभ है; अतः तुम उन्हें

तटस्थ रखने का प्रयत्न करो और उन्हें यह भय दिखाओ कि यदि पेशवा हमसे स्नेह न रख कर हैदरअली या निज़ाम से जाकर मिलेंगे तो हम बरार प्रान्त में भोंसलों से मिल जावेंगे, क्योंकि भोंसले हमसे स्नेह करने को उद्यत हैं"। ता० १८ दिसंबर को मास्टिन साहब ने अपने सहयोगी चार्लसब्रोम को रघुनाथराव के पास नासिक भेजा और समझा दिया कि राघोबा और पेशवा का प्रेम वास्तविक नहीं है; इसलिए तुम राघोबा से कहो कि हम तुम्हारी सहायता करेंगे और ऐसा कह कर यह प्रयत्न करो कि उनके द्वारा ही इस सम्बन्ध में बातचीत प्रारंभ हो। इसी दिन सखाराम बापू की मध्यस्थता में पेशवा और मास्टिन साहब की मुलाक़ात हुई। पेशवा ने मास्टिन की यह प्रार्थना स्वीकार की कि "चौल बन्दर में अङ्गरेज़ों के जहाज़ जो पकड़ रखे हैं वे छोड़ दिये जायँ।" परन्तु दूसरी बातों पर स्पष्टतया बातचीत नहीं हो सकी। मास्टिन साहब ने उस समय यह अनुमान बाँधा कि पेशवा के मन का गुप्त आशय यह है कि हैदरअली और हबशियों के विरुद्ध अङ्गरेज़ पेशवा को सहायता दें, लेकिन निश्चित कुछ भी न हो सका। दोनों ओर से मन साफ नहीं थे और दोनों ही यह चाहते थे कि प्रतिपक्षी पहले बोले। ता० ३० को मराठों के द्वारा पकड़े हुए जहाज़ छोड़ने की माधवराव ने आज्ञा दी। ता० १ जनवरी के दिन राघोबा का वकील, गोपालपंत चकदेव मास्टिन साहब से मिलने गया और उनसे कहा कि राघोबा को सन्धि की शर्तें बिलकुल मान्य नहीं हैं। माधवराव की ओर से ज़रा भी गलती हुई कि वह सन्धि को एक ओर रख कर केवल छः माह में सब उथल-पुथल करके रख देगा। इसी समय

निजामअली और हैदरअली के वकील पूना आये। मास्टिन साहब इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि स्वयं पेशवा कोई बात छेड़ें; परन्तु जब कोई बात नहीं छिड़ी तब मास्टिन साहब ने घबड़ा कर बंबई कौंसिल से पूछा कि "क्या मैं स्वयं बातचीत चलाऊँ ?" ता० ४ को हिन्दुस्थान से महादजी सिंधिया पूना आये और इनकी तथा माधवराव पेशवा की भेंट संगम पर हुई। ता० ५ को माधवराव पेशवा ने मास्टिन साहब को राजभवन में बुलाकर भोजन कराया। भोजन के पहले यूरोप और हिन्दुस्थान के संबन्ध में दोनों में बहुत से प्रश्नोत्तर हुए। ता० १० को बम्बई से मास्टिन साहब को लाचार होकर आज्ञा मिली कि "तुम स्वतः बातचीत चलाओ; परन्तु मराठों से बातचीत करते समय जिस सावधानी की आवश्यकता है उसे मत छोड़ना।"

इधर ब्रोम साहब रघुनाथराव के पास भेजे गये थे। वे रघुनाथराव से इन्द्रगढ़ में जाकर मिले। रघुनाथराव ने अङ्गरेज़ों की सहायता मिलने के लिए आनंद प्रकट किया और कहा कि "नानासाहब पेशवा की मृत्यु के पश्चात् मैंने माधवराव को सब तरह से सहायता दी, उसका मान रखा और चढ़ाइयाँ की। माधवराव को अपने पुत्र के समान रक्खा; परन्तु माधवराव कृतघ्न है। वह मेरा अपमान करने लगा, मेरे स्नेही सरदारों को मेरे विरुद्ध खड़ा करने लगा और अन्त में उसने मुझे कैद करने का भी निश्चय किया है; अतः अब अङ्गरेज़ों की सहायता लेने के सिवा मुझे कोई अन्य मार्ग ही नहीं है।" रघुनाथराव अङ्गरेज़ों से गोला-बारूद की सहायता चाहते थे। यद्यपि उनके पास भी सौ सवा सौ तोपें थीं और आनंदवल्ली में उनका एक छोटा सा तोप-

खाना भी था; तथापि उनका अन्य सामान दुरुस्त नहीं था; अतः वे यह जानते थे कि अङ्गरेज़ों की सहायता के बिना हमारा निर्वाह होना कठिन है । माधवराव से क्षणिक-संधि हो जाने के कारण रघुनाथराव ने अपनी सेना बहुत कम कर दी, केवल दो हज़ार सवार ही रह गये थे; परन्तु उन्हें विश्वास था कि चढ़ाई के समय आवश्यकतानुसार सेना बढ़ाई जा सकती है । ब्रोम साहब से इस सम्बन्ध में थोड़ी बहुत बातचीत भी हुई जिसमें उन्होंने यह दिखला दिया कि बंबई के अङ्गरेज़ सहायता के बदले में कुछ नक़द के सिवा कुछ अधिकार आदि प्राप्त करने की भी इच्छा रखते हैं; परन्तु उस समय दोनों पक्षों के भाव शुद्ध न थे; अतएव बातचीत करने की तैयारी भी नहीं थी जिससे कुछ निश्चित न हो सका और ब्रोम साहब लौट आये ।

ता० २७ जनवरी १७६८ को मास्टिन साहब और माधवराव पेशवा की मुलाक़ात फिर हुई । इस समय सन्धि की १४ शर्तों का कच्चा मसविदा बनाया गया । साथ ही यह एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जिस तरह सन् १७६१ की सन्धि के विरुद्ध अङ्गरेज़ों ने आंग्रे के पुत्रों को, अनुचित होने पर भी, अपने संरक्षण में ले लिया तो इसका विश्वास कैसे किया जाय कि कल रघुनाथराव के सम्बन्ध में भी ऐसा हो न होगा ? इसी समय बंबई के अङ्गरेज़ों को यह विदित हो गया कि निज़ाम या हैदर से पेशवा की मैत्री होना संभव नहीं है; अतः उन्होंने भी अपनी ओर से सन्धि के लिए शीघ्रता करना आवश्यक नहीं समझा और यही बात मास्टिन साहब को लिख भेजी । ता० १८ फरवरी को माधवराव पेशवा ने पूछा कि बम्बई में जो अङ्गरेज़ों का बेड़ा तैयार हो रहा है वह

कहाँ जायगा। यह बेड़ा दक्षिण किनारे की ओर हैदरअली पर चढ़ाई करने को भेजा जाने वाला था; परन्तु मास्टिन साहब ने कुछ का कुछ उत्तर दिया, और कहा कि वह मालवण और रायरी की ओर जाने वाला है। परन्तु, जब पेशवा को वास्तविक समाचार ज्ञात हुए, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने मास्टिन से कहा कि भले ही तुम चाहो तो हैदरअली पर चढ़ाई करो; पर अङ्गरेज़ बेदनूर और सौदा के क़िले न लेवें; क्योंकि वे हमारे संरक्षण में हैं। इसपर मास्टिन ने कहा कि "क़िला और भूमि लिए बिना हैदर परास्त नहीं हो सकेगा, अतः पेशवा और अङ्गरेज़ मिल कर ही यदि हैदर को नीचा दिखावें, तो बहुत उचित हो और इसके लिए आप अपना वकील बंबई भेजें।" पेशवा ने मास्टिन की यह सूचना स्वीकार की और एक घोड़ा तथा एक सिरोपाव देकर मास्टिन साहब को विदा किया। उस समय अङ्गरेज़ों की ओर से भी एक चीता और एक सिंहनी माधवराव की भेंट की गई। मास्टिन और पेशवा के बीच में कई शर्तें समक्ष में ही ठहर गई थीं, उनके अनुसार पेशवा ने आज्ञा दे दी और वह आज्ञा-पत्र मास्टिन साहब को मिल गया। वे शर्तें इस प्रकार थीं:—

(१) तीन वर्ष पहले अङ्गरेज़ व्यापारियों का मराठों के द्वारा जो नुक़सान हुआ उसके ३०६१५।॥) दिये जायँ।

(२) बम्बई के नसरवानजी मोदी का तबेला जो मराठों ने ले लिया है वह लौटा दिया जाय।

(३) सात वर्ष पहले बहरामजी हुरमसजी की दो सौ खण्डी नमक की ढेरी जो मराठों ने बलात् ले ली थी उसके बदले में दूसरी ढेरी दी जाय।

(४) रिचर्ड नावलैण्ड नामक अङ्गरेज़ के जो गुलाम साष्टी को भाग गये थे वे थानेदार से फिर दिलवाये जायँ।

(५) इसी अङ्गरेज़ के और दो गुलाम चौल में भी भाग गये थे। वे भी दिलवाये जायँ।

(६) बंबई बन्दर की हद्द में कोली लोगों ने मछलियाँ मारने के लिए जाल बिछा रखे हैं उन्हें निकाल डालने के लिए करञ्जा के थानेदार को आज्ञा दी जाय।

माधवराव के समय में मराठों के कारबार में हस्तक्षेप करने का मौक़ा अङ्गरेज़ लोगों को नहीं मिला। उन्होंने रघुनाथराव का भी ऐसा प्रबन्ध कर दिया था जिससे वे हज़ार पाँच सौ मनुष्यों से अधिक पास में न रख सकें और गोदावरी के तीर पर स्नान-सन्ध्या करते हुए पड़े रहें। यद्यपि उस समय अङ्गरेज़ लोग रघुनाथराव से मिल कर भीतर ही भीतर षड्-यन्त्र की तैयारी कर रहे थे; पर माधवराव के दबदबे के कारण प्रगट रीति से रघुनाथराव की सहायता करने और उन्हें पूना लाने का साहस अङ्गरेज़ों को नहीं होता था। साथ ही, वे यह भी जानते थे कि कर्नाटक प्रान्त के झगड़ों के कारण माधवराव से शत्रुता कर लेना उचित नहीं है; इसलिए भीतर ही भीतर सिलगने वाले इस षड्-यन्त्र का प्रगट रीति से कोई रूप प्राप्त न हो सका। परन्तु, माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवाई के दिन फिरे। कर्नाटक के षड्-यन्त्र ढीले पड़ गये। बम्बई के अङ्गरेज़ अपने वकील की दृष्टि से पूना दरबार की सब स्थिति बहुत सूक्ष्मरीति से देख रहे थे। यद्यपि नाना फड़नवीस का प्रभाव पूना दरबार में अधिक था और वे अङ्गरेज़ों को पक्की

तरह पहिचानते भी थे; परन्तु उनको और उनके अन्य सहायक सरदारों को रघुनाथराव के द्वेष और घृणा के कारण दृष्टिदोष हो रहा था; अतः उनकी अङ्गरेज़ों के इस निरीक्षण की ओर दृष्टि ही न थी। वे तो जिस तिस प्रकार रघुनाथराव को राज्य-कारबार में न घुसने देने के प्रयत्न में थे। इधर अङ्गरेज़ों का विचार प्रत्यक्ष में मैत्री करने का न था। उनका असली विचार यह था कि वसई और साष्टी तथा इनके आसपास का प्रान्त जिस किसी के पास से मिल सके हड़प कर लें और इसी दृष्टि से उन्होंने अपना वकील पूना में रक्खा था। माधवराव पेशवा ने अङ्गरेज़ों के इस रहस्य को अवश्य जान लिया होगा; परन्तु जञ्जीरा और कर्नाटक में अङ्गरेज़ों की सहायता की सदा आवश्यकता पड़ती थी। इस लोभ के कारण उन्होंने अङ्गरेज़ों के वकील को पूना के दरबार में रखने की आज्ञा दे दी थी और इसी आज्ञा के कारण नाना-फड़नवीस भी अङ्गरेज़ों के वकील के रहने देने में कोई बाधा उपस्थित न कर सके। किसी भी तरह से क्यों न हो, अङ्गरेज़ों के वकील के दरबार में स्थायी रीति से घुस जाने के कारण पेशवा के कारबार में अङ्गरेज़ों का प्रवेश हो गया और इस प्रवेश का फल नारायणराव पेशवा की मृत्यु के पश्चात् अङ्गरेज़ों को मिलने लगा। जिस रात्रि को नारायणराव का खून हुआ उसी रात्रि को अङ्गरेज़ों का वकील मास्टिन रघुनाथराव दादा से मिला; क्योंकि उसने समझा होगा कि रघुनाथराव को गद्दी मिल जाने से हम मन-माना काम कर सकेंगे; परन्तु जब नारायणराव के खून का पता लगते लगते उस अपराध का छींटा रघुनाथराव पर भी पड़ा और बारह भाई का षड्यन्त्र रचा गया, तब रघुनाथराव को पूना छोड़कर

दूर देश में भाग जाना पड़ा, तो भी पेशवाई के कारबार में अङ्गरेज़ों को घुसने में निराशा नहीं हुई; क्योंकि रघुनाथराव ने पेशवाई के शत्रुओं से मैत्री करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि अङ्गरेज़ प्रत्यक्ष में पेशवाई के अभी तक शत्रु नहीं माने जाते थे; परन्तु अङ्गरेज़ लोगों को नाना फड़नवीस से अधिक लाभ की आशा नहीं थी, इसलिए वे रघुनाथराव से मिलकर पेशवा के शत्रु बनने में भी हानि नहीं समझते थे। दूसरी बात यह भी थी कि रघुनाथराव कोई अन्य नहीं थे, वे भी पेशवा ही थे तथा सवाई माधवराव का जन्म होने के पहले तक वास्तव में रघुनाथराव गद्दी के अधिकारी थे। और कर्मचारी लोग विद्रोही थे, यह हैदरअली के समान, अङ्गरेज़ भी कह सकते थे। इसके सिवा एक बात और भी थी, वह यह कि स्वयम् पेशवाई के कितने ही लोगों को यह भ्रम था कि सवाई माधवराव नारायणराव का पुत्र नहीं है, तो फिर अपने लाभ और सुभीते के लिए अङ्गरेज़ लोगों को इस भ्रम से लाभ उठाने में क्या हानि थी? सब तरह से फ़ायदा ही था।

रघुनाथराव का झगड़ा आपस में तय कर देने के लिए सिन्धिया और होलकर मध्यस्थ हुए थे; परन्तु जब इनकी मध्यस्थता का कुछ परिणाम नहीं हुआ तब रघुनाथराव पेशवा के शत्रुओं से मिलने की चिन्ता में पड़े। शुजाउद्दौला और हैदरअली बहुत दूर थे और अङ्गरेज़ पास ही में गुजरात में थे, इसलिए उनका विचार इन्हींसे मिलने का हुआ। उधर बड़ोदा में गायकवाड़ के उत्तराधिकारियों में भी झगड़ा हो रहा था। फतहसिंहराव गायकवाड़ ने पूना के कारबारियों का आश्रय ले रक्खा था और गोविन्दराव गायकवाड़ पहले

से ही रघुनाथराव के पक्ष में थे; इसलिए गुजरात में रघुनाथराव को अङ्गरेज़ों के सिवा गोविन्दराव की भी सहायता मिलने की आशा थी। इन्हीं आशाओं से प्रेरित होकर रघुनाथराव ने गुजरात की ओर अपना मोर्चा किया।

पहले रघुनाथराव, गोविन्दराव गायकवाड़ और मानाजी फाकड़े ने मिलकर हरिपन्त फड़के से युद्ध किया। सिन्धिया और होलकर के बीच में पड़ने से यह युद्ध कुछ दिनों तक रुका रहा; परन्तु जब आपस में सन्धि नहीं हो सकी तब मही नदी के किनारे पर युद्ध हुआ और उस युद्ध में रघुनाथराव की पूरी हार हुई। इनके सब हाथी और तोपें हरिपन्त को मिलीं। रघुनाथराव थोड़ी सी सेना के साथ खम्बात् की ओर भाग गये। रास्ते में समाचार मिला कि पटवर्धन पीछा करता हुआ आरहा है तब रघुनाथराव ने खम्बात् के क़िले में आश्रय लेना चाहा; परन्तु खम्बात् के नवाब ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अन्त में, लाचार होकर रघुनाथराव ने नवाब से यह प्रार्थना की कि "हमें अङ्गरेज़ों के पास सूरत पहुँचा दो।" नवाब ने यह प्रार्थना स्वीकार की और उन्हें भावनगर को रवाना कर दिया। भावनगर के बन्दर में नवाब के जहाज़ थे। उनके द्वारा ७०० साथी तथा अन्य सामान सहित रघुनाथराव सकुशल सूरत पहुँच गये। मही नदी के युद्ध में पराजित हो जाने पर भी रघुनाथराव के पास १०० घोड़े और ७ हाथी बच गये थे; परन्तु जब इन जानवरों को किसीने भी रखना स्वीकार न किया तब वे यों ही छोड़ दिये गये।

इस घटना के कुछ दिनों पहले दादा साहब रघुनाथराव मालवा की ओर भाग गये थे। वहाँ से सिन्धिया और

होलकर की मध्यस्थता में वापिस लौटे और जब ताप्ती नदी के पास पहुँचे तब उन्होंने सूरत के अङ्गरेज़ गवर्नर के द्वारा बम्बई के अङ्गरेज़ों से बातचीत शुरू की। अङ्गरेज़ों ने कहा कि "युद्ध प्रारम्भ करने के लिए पहले १५ से २० लाख रुपये नक़द देने होंगे और जब पूना के बारह भाई का विद्रोह नष्ट हो जाय और तुम गद्दी पर बैठो तब हमें साष्टी और बसई ये दो स्थान देने होंगे। युद्ध के लिए हम तोपों के सहित ढाई हज़ार पैदल सेना से तुम्हारी सहायता करेंगे।" परन्तु दादासाहब रघुनाथराव ने यह बात स्वीकार नहीं की; क्योंकि उस समय उनके पास पन्द्रह लाख रुपये नक़द नहीं थे; दूसरे उनमें इतना स्वाभिमान इस दशा में भी शेष बचा हुआ था, जिससे वे साष्टी और बसई देना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे; इसलिए उन्होंने अङ्गरेज़ों से कहला भेजा कि "आज हमारे पास न तो १५ लाख रुपये नक़द ही हैं और न हम बसई और साष्टी ही देना चाहते हैं। यदि तुम १००० गोरे और २००० देशी सैनिकों और १५ तोपों से हमारी सहायता करो, तो हम गुजरात में तुम्हें ११ लाख रुपये की आमदनी का प्रान्त दे सकते हैं।" बम्बई के अङ्गरेज़ों को यह शर्त भी बहुत कुछ पसन्द थी; परन्तु वे चाहते थे कि यदि साष्टी न मिले तो न सही, गुजरात ही में साढ़े अठारह लाख की आमदनी का प्रान्त तो भी हमें दिया जाय।

इस बीच में यह अफ़वाह उड़ने पर कि पोर्तुगीज़ साष्टी लेने का प्रयत्न करने वाले हैं, यह बातचीत जहाँ की तहाँ रुक गई। इसके पहले साष्टी के क़िलेदार ने अङ्गरेज़ों से रिश्वत लेकर क़िला देने की बातचीत चलाई थी और दो

लाख साठ हज़ार रुपये माँगे थे। अङ्गरेज़ गवर्नर हार्नबी १ लाख रुपये देने को तैयार थे और अन्त में १ लाख २० हज़ार में सौदा ठहर भी जाता; परन्तु पूना दरबार की गड़-बड़ी के कारण दूसरी रीति से भी क़िला मिल जाने की आशा अङ्गरेज़ों को थी; अतः रिश्वत देकर क़िला लेने का विचार अङ्गरेज़ों ने छोड़ दिया। पोर्तुगीज़ों के आक्रमण करने का भी समाचार उन्हें मिल गया था। इधर यही समा-चार पूना भी पहुँचा। तब वहाँ से क़िलेदार की सहायता के लिए और पाँच सौ सेना भेजने का निश्चय हुआ; इसलिए क़िलेदार को भी रिश्वत लेकर क़िला देने का अवसर न मिल सका। अन्त में, ता० ६ दिसम्बर सन् १७७४ के दिन अङ्गरेज़ों ने साष्टी लेने का विचार किया और ६२० गोरे सैनिक, तोपख़ाना २००० गोलन्दाज़, १००० काले सैनिक जनरल राबर्ट गार्डन की अध्यक्षता में क़िले पर आक्रमण करने को भेजे और यह ठहराया गया कि जनरल गार्डन स्थलभूमि से और कप्तान नाट्सन जलमार्ग से थाना पर आक्रमण करें। ता० २० दिसम्बर को क़िले की दीवालों पर गोलों की वर्षा होने लगी। ८ दिन में दिवालों में छेद पड़े। खाई को पूर कर क़िले में प्रवेश करने के काम में अङ्ग-रेज़ों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। २७ दिसम्बर का आक्रमण मराठों ने निष्फल कर दिया। उस दिन अङ्गरेज़ों के १०० सिपाही मारे गए; परन्तु दूसरे दिन आक्रमण कर अङ्गरेज़ों ने क़िला लेलिया और उसके भीतर बहुत से सिपाहियों का का वध किया। इसी समय में वसोंवा, उरण आदि थाने लेने का भी अङ्गरेज़ों ने प्रयत्न किया और दिसम्बर के अन्त तक थाना का क़िला और उसके आसपास के सब थाने

मिल कर साष्टी बन्दर अङ्गरेज़ों के अधिकार में आगया और यह एक बड़ा विकट प्रश्न मराठों के सन्मुख आखड़ा हुआ। ता० ३ जनवरी सन् १७७५ को रघुनाथराव दादा दस हज़ार सवार और चार सौ पैदल सेना के साथ बड़ोदा की ओर रवाना हुए। इनके पीछे पीछे पेशवा के मुख्य सेनापति हरिपन्त फड़के थे। हरिपन्त के साथ सिन्धिया तथा होलकर से बातचीत करने के लिए नाना फड़नवीस और सखाराम बापू भी थे; परन्तु साष्टी-पतन के समाचार सुन कर और इस भय से कि कहीं अङ्गरेज़ बम्बई पर भी आक्रमण न करें तथा घाट की ओर भी सेना न भेजें, दोनों कारबारी पुरन्दर को लौट आये।

इनके पश्चात् कुछ दिनों तक सिन्धिया और होलकर के बीचबचाव के कारण रघुनाथराव हरिपंत से संधि की बात का ढकोसला दिखलाते रहे; परन्तु अन्त में जब उसका कुछ परिणाम न हुआ तब ६ मार्च सन् १७७५ के दिन अङ्गरेज़ों से राघोबा की सन्धि होगई। उसके अनुसार अङ्गरेज़ों ने रघुनाथराव को पहले ५०० गोरे और १००० देशी सिपाही और आवश्यकता पड़ने पर ७ या ८ सौ गोरे और १५०० देशी सिपाही तथा अन्य मज़दूर आदि सब मिला कर ३००० सेना से सहायता देने का वचन दिया और रघुनाथराव ने इसके बदले में २५ सौ लोगों का डेढ़ लाख रुपये के लगभग सैनिक-खर्च देने और उस खर्च के लिए आमोद, हनसोद, ओलपाड़ और अङ्कलेश्वर ये चार ताल्लुकों की आमदनी लगा देने का क़रार किया। साथही उन्हें यह भी क़रार करना पड़ा कि जब रघुनाथराव गद्दी पर बैठें तब बम्बई और उसके नीचे का सवा उन्नीस लाख रुपयों की आमदनी का प्रान्त तथा साष्टी और

उसके समीपस्थ जम्बूसर, ओलपाड़ आदि बन्दर अङ्गरेज़ों को सदा के लिए दें, अभी नकद रुपये पास न होने के कारण छः लाख के जवाहिरात अङ्गरेज़ों के पास गिरवी रक्खें, बङ्गाल प्रान्त तथा अर्काट के नवाब के राज्य पर मराठे आक्रमण न करें और अङ्गरेज़ों के जहाज़ तथा कम्पनी सरकार के निशान धारण किये हुए अन्य जहाज़ यदि टूट जाने के कारण अथवा अन्य कारणों से मराठों की सीमा में आ जावें, तो वे जिसके हों उसे लौटा दिये जायँ। ये शर्तें अङ्गरेज़ों से निश्चित हो जाने पर, हरिपन्त से रघुनाथराव की जो बातचीत चल रही थी वह बन्द हो गई, और फिर से युद्ध प्रारम्भ हुआ; परन्तु जब हरिपन्त के सन्मुख रघुनाथराव न टिक सके तब वे सूरत भाग गये।

सूरत में रघुनाथराव के सहायतार्थ पन्द्रह सौ सेना तो तैयार थी और मद्रास की ओर से और भी आने वाली थी। रघुनाथराव से सन्धि होने के पहले ही अङ्गरेज़ों ने अपनी ओर से मराठों से युद्ध छेड़ दिया था और यह सब बम्बई के ईस्टइण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की करामात थी। कलकत्ते के अङ्गरेज़ों को यह बात पसन्द नहीं थी। उन्होंने इस पहले युद्ध में मराठों से मैत्री तोड़ने के सम्बन्ध में बहुत अप्रसन्नता प्रगट की; परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो गया था। ऐसे समय में कम्पनी सरकार की इज़्ज़त के लिहाज से वे बम्बई के अधिकारियों के विरुद्ध ऐसा कोई काम न कर सके जिससे उन्हें असफलता मिले। उनका यह व्यवहार मनुष्य-स्वभाव और राजनीति के अनुकूल भी था; परन्तु कम्पनी सरकार की इज़्ज़त रखते हुए युद्ध को बन्द करने के प्रत्येक प्रसङ्ग का उन्होंने उपयोग किया। अन्त में बुरी-भली

कैसी भी क्यों न हो, सालबाई में मराठे और अङ्गरेज़ों की सन्धि हुई और युद्ध समाप्त हुआ। मराठों से फिर मैत्री हो जाने के कारण कलकत्ते के अङ्गरेज़ों ने हृदय से आनन्द प्रगट किया और बम्बई के अधिकारियों को यह स्पष्टरीति से लिख दिया कि "यह सन्धि इङ्गलैण्ड के राजा और बृटिश पार्लियामेन्ट की आज्ञा से हुई है, इसलिए यदि तुम इस सन्धि को किसी भी कारण से तोड़ोगे, तो हम अपने उच्च अधिकारों का व्यवहार करेंगे।" परन्तु बम्बई के अङ्गरेज़ों ने कलह का जो बीजारोपण कर दिया था उसका अङ्कुर पूर्णतया कभी नष्ट नहीं हो सका। इतना ही नहीं, २०, २५ वर्ष बाद कलकत्ते के अङ्गरेज़ों ने ही बंबई वालों का अनुकरण किया और फिर उन्होंने युद्ध का जो खड्ग हाथ में उठाया उसे जब तक महाराष्ट्र सत्ता की इमारत भस्म होकर धराशायी नहीं हो गई, तब तक नीचे नहीं रखा। बंबई वालों की झगड़ालू पद्धति की विजय देरी से ही क्यों न हुई हो; पर हुई अवश्य।

स्व-हित की दृष्टि से बम्बई के अङ्गरेज़ों की पद्धति ठीक थी। यद्यपि रघुनाथराव और नाना फड़नवीस के परस्पर के कलह का लाभ उठा कर बम्बई के अङ्गरेज़ों ने मराठों से स्वयं ही छेड़-छाड़ शुरू की थी, तथापि रघुनाथराव भी उनको उसकाने वाला एक सहकारी मिल गया था। रघुनाथराव ने स्वयम् उनके पास जाकर कहा था कि "तुम हमारी कलह के बीच में पड़ो और हमारी सहायता करो। हमारी सहायता करने से हम तुम्हें बहुत पारितोषिक देंगे।" ऐसी स्थिति में स्वहित-साधन का घर बैठे आया अवसर अङ्गरेज़ छोड़ भी कैसे सकते थे? अतः इस अवसर से लाभ उठाने

का उन्हें सहज में ही अनिवार्य्य मोह हो गया। तारीख़ ६ अक्टूबर सन् १७७५ को बम्बई के अङ्गरेज़ों ने कलकत्ते को एक ख़रीता भेजा। उसमें उन्होंने रघुनाथराव की तरफ़ से जो युद्ध किया था उसके कारण सविस्तार लिखे थे। इस ख़रीते को पढ़ने से बम्बई के अङ्गरेज़ों की पद्धति स्पष्टतया ध्यान में आ जाती है। वह ख़रीता इस प्रकार है:—

"रघुनाथराव ही गादी के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं। उनके पक्ष में बहुत से ब्राह्मण और मराठे भी हैं। नागपुर के भोंसले और बड़ोदे के गायकवाड़ के घरानों में भी एक एक प्रमुख सरदार रघुनाथराव के पक्ष में था। यद्यपि सिन्धिया और होलकर उनके पक्ष में नहीं थे, तो भी उन्होंने उसे पूर्णतया छोड़ा भी नहीं था। ये दोनों अपने ऊपर की खण्डनी का हिसाब चुकता करने का भार टालने के लिए स्पष्ट रीति से किसी भी पक्ष में शामिल न होकर पेशवा के घराने की फूट से लाभ उठाते हैं। निज़ाम और हैदर कभी इस पक्ष में, तो कभी उस पक्ष में मिलकर दावपेंच खेलते थे। स्वयम् रघुनाथराव के पास भी बहुत सेना थी, इसलिए उन्हें थोड़ी सेना की सहायता देकर अपना कार्य्य निकालने का अवसर था और उनके गादी पर बैठ जाने पर वे कोई भी प्रान्त हमें दे सकते थे।"

युद्ध में सम्मिलित होने के इस अवसर से लाभ उठाने पर अङ्गरेज़ों को ऊपर के काम पूरे होने की बहुत आशा थी; परन्तु खरीते से स्पष्ट मालूम न हो सकने के कारण यहाँ यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि इस झगड़े में पड़ने से उन्हें क्या प्राप्त होने वाला था? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अङ्गरेज़ लोग इस दृष्टि से युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे

कि रघुनाथराव के साथ अन्याय हो रहा है, किन्तु उन्हें अपना कुछ स्वार्थ सिद्ध करना था। बम्बई में कोठी डालने से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हेतु व्यापार करने का था। व्यापार करते करते ही उन्होंने बम्बई बन्दर लिया तथा इस बन्दर की रक्षा करने के लिए बम्बई द्वीप को लेकर उसकी तटबन्दी की। बम्बई बन्दर में आया हुआ माल दिशावर को भेजने के लिए खुश्की के रास्ते से साष्टी का ही मार्ग मुख्य था। साष्टी के आगे पर्वत और घाटियाँ शुरू होती हैं। वहीं से मराठों का राज्य भी शुरू होता था; इसलिए अङ्गरेज़ों ने साष्टी ली और इसे अपने अधिकार में रखने के साथ ही साथ वे बम्बई के समीप के दूसरे बन्दर और बसई भी चाहने लगे थे। रघुनाथराव ये सब स्थान अङ्गरेज़ों को खुशी से दे सकते थे और बसई से सूरत तक के थाने भी व्यापारिक दृष्टि से महत्व के होने के कारण रघुनाथराव से उनके मिलने की भी आशा थी। इन बन्दरों और थानों के हाथ में आजाने से बम्बई का व्यापार बिना भय के खूब चल सकता था। इसके सिवा महाराष्ट्र में पहले से ही चौदह लाख रुपयों का ऊनी माल प्रति वर्ष बिकता था। उत्तम कपास पैदा करने वाला गुजरात का प्रान्त हाथ में आजाने पर बङ्गाल और चीन के व्यापार के बढ़ने की भी खूब आशा थी। इधर कोंकणपट्टी पर अधिकार होजाने से डच, पोर्तुगीज़ और फ्रेञ्चों के हाथ से व्यापार निकल सकता था और इस तरह केवल ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी ही व्यापार की ठेकेदार बन सकती थी। अभी तक बम्बई का व्यापार हानिकारक था। उसमें करीब डेढ़ लाख पौण्ड की हानि थी; परन्तु रघुनाथराव ने जो प्रदेश देने का वचन

दिया था उसके मिलने पर यह क्षति निकाल कर दो-ढाई लाख पौण्ड का लाभ होता दीखता था। वम्बई वन्दर की तटवन्दी हो जाने से उसे फ़ौजी थाने का स्वरूप प्राप्त होगया था और यह वन्दर जहाज़ वनाने के भी योग्य था। रघुनाथराव ने जो प्रान्त देने कहे उनसे वहुत अधिक मिलने की आशा थी। इन्हीं स्वार्थों की पूर्ति के लिए अङ्गरेज़ों ने पेशवा का आपस में झगड़ा करवा दिया। इस समय अङ्गरेज़ों ने जो यह उद्गार निकाला था कि ईश्वर हमें विना मानता के ही मिला, वह मनुष्य-स्वभाव के वहुत कुछ अनुकूल था।

रघुनाथराव दादा, पेशवाई के कलिपुरुष कहलाते हैं। वास्तव में, अपने समय के अन्य पुरुषों की अपेक्षा वे अधिक मूर्ख थे या नहीं यह निश्चित करना वहुत कठिन है; परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनके सव कार्य पेशवाई की सत्ता, पेशवाई का प्रभाव और पेशवाई का ऐश्वर्य नष्ट करने के कारणीभूत अवश्य हुए। अधिकार-लालसा, महत्वाकांक्षा, और प्रतिपक्षियों से प्रतिरोध की इच्छा से यदि इन्होंने सिन्धिया, होलकर आदि महाराष्ट्र सत्ता के प्रवल सरदारों को अपनी ओर मिला कर अथवा उनका आश्रय लेकर नानाफड़नवीस से कलह की होती और उन-पर विजय प्राप्त कर उन्हें कारभार से निकाल दिया होता और सर्वसत्ता अपने अधिकार में ले ली होती, तो आज उनपर दोषारोपण करने का कोई कारण नहीं था; परन्तु उन्होंने परदेशी अङ्गरेज़ों के आश्रित होकर उन्हें अपने घर में घुसा लेने के कारण जिस विष-वृक्ष का वीजारोपण किया उसने धीरे धीरे वल प्राप्त कर महाराष्ट्र-सत्ता की भव्य इमारत

गिराकर मिट्टी में मिला दी और जिस जिसने इस वृक्ष के फल खाये अन्त में उन सबकी स्वतन्त्रता का नाश ही हुआ। रघुनाथराव का यह अपराध कभी क्षमा-योग्य नहीं कहा जा सकता। नानाफड़नवीस भी कुटिल-नीति और महत्वाकांक्षा में रघुनाथराव से कम नहीं थे और उन्हें भी अङ्गरेज़ों से सहायता लेने की आवश्यकता हुई थी; परन्तु नानाफड़नवीस की महत्वाकांक्षा पेशवाई को सुदृढ़ और बलवती बनाने की ओर थी। नानाफड़नवीस ने जो अङ्गरेज़ों से सहायता ली थी वह प्रायः परकीय शत्रुओं से लड़ने के लिए ली थी; परन्तु रघुनाथराव ने जो सहायता ली वह अपने घर वालों से ही लड़ने के लिए ली। यह हो सकता है कि रघुनाथराव के सहायतार्थ कोई प्रबल मराठा या ब्राह्मण सरदार न -या हो; परन्तु इससे यही तात्पर्य निकलता है कि उस समय का लोकमत रघुनाथराव का पक्ष अन्याय का और नानाफड़नवीस का न्याय का, मानता रहा होगा और अङ्गरेज़ों का आश्रय ले लेने से इस अन्याय में जो कुछ कमी थी वह भी पूरी हो गई होगी।

सब कोई निस्सन्देह यह मानते हैं कि रघुनाथराव बहादुर और शूरवीर थे; परन्तु प्रायः देखा जाता है कि बहादुर और वीर पुरुष लिखने के कार्य्य में कुशल नहीं होते और यह कमी राघोबा रघुनाथराव में भी थी; इसलिए विजय प्राप्त करने और चढ़ाई करने के काम में तो रघुनाथराव योग्य माने जाते थे; पर व्यवस्था और द्रव्य-सम्बन्धी कारबार में उन्हें कोई भी योग्य नहीं मानता था।

नानासाहब पेशवा के जीते जी रघुनाथराव की कलह-प्रियता प्रगट होना सम्भव नहीं था; परन्तु उनकी मृत्यु के

पश्चात् माधवराव पेशवा के गादी पर बैठते ही इस कलह का प्रारंभ हुआ। मालूम होता है कि उस समय भी यह सभ्य जनानुमोदित नियम ही माना जाता था कि पेशवा की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का ही, चाहे वह अल्पवयस्क ही क्यों न हो, उत्तराधिकारी होकर गादी पर बैठे; परन्तु उसका भाई, चाहे वह लड़के से अधिक वय का क्यों न हो; गादी पर न बैठे; इसीलिए नानासाहब की मृत्यु के पश्चात् उनकी गादी उनके पुत्र माधवराव को मिली और राघोबा को न मिली। इस नियम के अनुसार, माधवराव की मृत्यु के बाद, उनके पुत्रहीन मरने पर पेशवाई के वस्त्र नारायणराव को मिलने चाहिए थे और उन्हें ही मिले। एक बार बलात् रघुनाथराव ने ये वस्त्र प्राप्त कर लिए थे; परन्तु उनका यह कृत्य अन्यायपूर्ण था; अतः लोकमत के आगे वे इन वस्त्रों को अधिक दिनों तक न रख सके। यद्यपि पेशवाई के वस्त्र प्राप्त करने की उनकी महत्वाकांक्षा कभी भी न्यायपूर्ण नहीं मानी जा सकती थी; पर कारभारी प्रधान मन्त्री बनने की उनकी महत्वाकांक्षा के सम्बन्ध में भी यही विधान इतने ही बल-पूर्वक नहीं किया जा सकता। माधवराव के गादी पर बैठने पर माधवराव की माता गोपिकाबाई की मत्सरबुद्धि के कारण जब पेशवाई के प्रधान मन्त्री का पद नाना-फड़नवीस और पेठे को दिया गया, तो इस सम्बन्ध में रघुनाथराव के पक्ष में भी लोकमत की सहानुभूति थी। रघुनाथराव ने इस पद को प्राप्त करने के लिए मुग़लों से सहायता लेकर लोकमत प्राप्त कर लिया और फिर माधव-राव को क़ैद करके सब काम अपने हाथ में ले लिया। साथ ही फड़नवीस से उनका काम छीन कर चिन्तो विट्ठल

रायरीकर को दिया (१७६२); परन्तु शीघ्र ही (१७६३) मुग़लों से सन्धि हो जाने के कारण माधवराव फिर से गादी के स्वामी बने और प्रधान मंत्री का काम रायरीकर से छीन कर नानाफड़नवीस और मोरोबा को दिया गया।

इसके ५ वर्ष बाद तक माधवराव और रघुनाथराव में अधिक झगड़ा नहीं हुआ। रघुनाथराव चढ़ाई आदि के काम पर जाते थे और माधवराव कारभारी के कहे अनुसार काम करते थे। यद्यपि किसी अंश में यह ठीक है कि मातृ-भक्त माधवराव की माता गोपिकाबाई, माधवराव को रघु-नाथराव के सम्बन्ध में चैन नहीं लेने देती थी; पर यह सर्वथा सत्य है कि रघुनाथराव की स्त्री आनन्दीबाई तो रघु-नाथराव को एक क्षण भी शान्ति से नहीं बैठने देती थी। किसी कारण से क्यों न हो, अन्त में, रघुनाथराव के असन्तोष ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह का रूप धारण किया और ५ वर्ष पहले का समयचक्र उलटा घूम गया अर्थात् अब की बार माधवराव ने रघुनाथराव का पराभव किया और उन्हें पूना के शनिवार के बाड़े में क़ैद कर रक्खा। माधवराव और नानाफड़नवीस का मन पहले से ही मिला हुआ था और रघुनाथराव का गैरमुस्तहीपन नानाफड़नवीस को रुचता नहीं था। इसीलिए रघुनाथराव के पराभव करने के काम में माधवराव को नाना० की सहायता मिला करती थी तथा माधवराव जब चढ़ाई पर जाते थे तब रघुनाथराव की देख-रेख का काम नियमानुसार इन्हें ही—नाना० को—सम्हा-लना पड़ता था। इसलिए रघुनाथराव और नानाफड़नवीस के बीच में जो मन-मुटाव हो गया वह कभी दूर नहीं हुआ। अन्त में, जब माधवराव मरने लगे, तब उन्होंने रघुनाथराव को

क़ैद से छोड़ दिया और नारायणराव का हाथ उनके हाथ में देकर मन से सब द्वेष निकाल डालने और नारायणराव पर प्रेम रखने की प्रार्थना की। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए मनुष्य की प्रार्थना कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, अतः रघुनाथराव ने भी यह प्रार्थना स्वीकार की और अपनी महत्वाकांक्षा तथा अपनी स्त्री आनन्दीबाई की धूर्तता की ओर ध्यान न देकर वे नारायणराव पर प्रेम रखने लगे। उनके लिए यह बात भूषणवत् हुई। कितने ही दिनों तक काका-भतीजे, सोते भर अलग थे; भोजन-पान, उठना-बैठना आदि सब साथ ही करते थे; परन्तु दुर्भाग्य से यह स्नेह बहुत दिनों तक न टिक सका। पेशवाई के समय केवल रघुनाथराव के खोटे सलाहगीरों से नहीं घिरे हुए थे; वरन नारायणराव की भी यही दशा थी। नारायणराव जितना ही क्रोधी था, उतना ही कानों का कच्चा भी था; इसीलिए लोगों के बहकाने में आकर उसने रघुनाथराव से मन फेर लिया और उन्हें तथा उनकी स्त्री को अर्थात् अपने काका-काकी को कारावास में डाल दिया। नानाफड़नवीस और सखाराम बापू इस बात के विरुद्ध थे; परन्तु उनकी कुछ नहीं चली और इस कलह की ज्वाला फिर प्रदीप्त हुई। रघुनाथराव के पक्षपातियों ने नारायणराव को क़ैद करने का निश्चय किया, और ठीक समय पर आनन्दीबाई, गारद के कुछ लोगों तथा नारायणराव से द्वेष करनेवाले कुछ प्रभुओं के परामर्श से, क़ैद करने के षड्-यन्त्र में शामिल हो गई और इस तरह नारायणराव का ख़ून ता० ३ आगस्त १७७३ को हुआ।

गादी लेने की अभिलाषा के कारण भतीजे के खून कराने का आरोप जब बन्दीगृह में पड़े हुए रघुनाथराव पर किया गया तो उनके सम्बन्ध में जनता की बची हुई थोड़ी बहुत सहानुभूति भी नष्ट हो गई। उस समय नारायणराव की स्त्री गर्भवती थी; अतः वंश चलने की आशा लोगों को होने लगी। सर्व साधारण ने रघुनाथराव को अपराधी समझ कर गादी से उसका स्पर्श तक न होने देना ही अच्छा समझा। आनन्दीबाई को जब यह समाचार मिला कि नारायणराव की स्त्री गर्भवती है और पुत्र होना सम्भव है तब वह नारायणराव के खून करने के प्रयत्न को निष्फल समझने लगी। किन्तु वह इतने से हताश न हुई। उसने पहले तो नारायणराव की स्त्री को, और फिर प्रसूति होने पर उसे और उसके पुत्र सवाई माधवराव को मार डालने के लिए अनेक प्रयत्न किये, जो पीछे से प्रगट हुए। इन कारणों से रघुनाथराव के प्रति जनता का द्वेष और भी बढ़ गया और इसलिए नारायणराव के मरने के १३ दिन बाद जो बारह भाइयों का गुट्ट हुआ उसे दिन पर दिन पुष्टि ही मिलती गई। उस समय कारभारियों ने गङ्गाबाई के नाम से सनद देना और पहले के समान नारायणराव के नाम का सिक्का जारी रक्खा।

रघुनाथराव के चढ़ाई पर जाने के कारण बारह भाई के गुट्ट को विशेष बल प्राप्त हुआ। रघुनाथराव के साथ जो सरदार गये थे नानाफड़नवीस ने उन्हें भी फोड़ लिया और वे विद्रोही सरदार एक एक करके कुछ न कुछ बहाने बना-कर पूना लौट आये। रघुनाथराव को जब बारह भाई के गुट्ट के समाचार मिले तब वह चढ़ाई का काम छोड़ कर

फ़ौज के साथ पूना लौट आया। रघुनाथराव को लौटते देखकर नानाफड़नवीस ने त्र्यम्बकराव दामावेटे और हरिपन्त फड़के को फ़ौज के साथ रघुनाथराव का सामना करने भेजा। दोनों ओर से पंढरपुर के पास कासेगाँव में युद्ध हुआ, जिसमें त्र्यम्बकराव को हार खानी पड़ी और वह स्वयम् भी मारा गया। बारह भाई के पहले ही प्रयत्न में यह 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' होता देख नाना-फड़नवीस की हिम्मत कुछ कम हुई; परन्तु हरिपन्त फड़के को जीता देख कर उन्हें और सखारामबापू को यह आशा बनी रही कि अपने कार्य में एकदम असफलता आना ज़रा कठिन है और उनकी यह आशा शीघ्र ही सफल भी हुई। हरिपन्त फड़के ने उधर फिर सैन्य-संग्रह करके साबाजी भोंसले तथा निज़ामअली की सहायता से रघुनाथराव पर फिर चढ़ाई की। इस नई फ़ौज को आते देख रघुनाथराव पूना का मार्ग छोड़ कर बुरहानपुर भाग गये। इधर तारीख़ १८ अप्रैल सन् १७७४ को गङ्गाबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे अब बारह भाई के प्रयत्न को और भी अधिक बल प्राप्त हो गया। इस नवीनोत्पन्न पेशवा का नाम "सवाई माधवराव" रक्खा गया और उसीके नाम से धड़ाके के साथ पेशवाई शासन का कार्य चलाया जाने लगा।

इस समय रघुनाथराव के अनुकूल पूना में मोरोबा फड़नवीस, रायरीकर और पुरन्दरे ये तीन सरदार थे। मोरोबा की सहायता से रघुनाथराव ने सवाई माधवराव और उनकी माता गङ्गाबाई को पुरन्दर नामक क़िले के ऊपर तथा नीचे पकड़ने का प्रयत्न किया; परन्तु वह सिद्ध न हो सका। रघुनाथराव उस समय उत्तर हिन्दुस्थान की ओर

था; इसलिए नाना फड़नवीस को सिन्धिया और होलकर की सहायता की आवश्यकता थी और उसके मिलने की उन्हें आशा भी थी; क्योंकि माधवराव पेशवा के समय में ही महादजी सिन्धिया को सरदारी मिली थी और उन्हीं की कृपा से सिन्धिया ने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और होलकर, महादजी सिन्धिया की सलाह से और उनसे मिलकर, चलते थे अर्थात् सिन्धिया की सहायता मिलने पर होलकर की सहायता आप ही मिल सकती थी। नानाफड़नवीस के आज्ञानुसार इन दोनों सरदारों की सहायता उन्हें मिली तो सही; परन्तु रघुनाथराव के पराभव करने में वे नानाफड़नवीस के समान उत्सुकता प्रगट नहीं करते थे; क्योंकि पेशवाई के झगड़े से महादजी सिन्धिया अपने प्रभाव बढ़ाने का लाभ सहज में उठा सकते थे। इसके सिवा सिन्धिया और नानाफड़नवीस में पेशवा सरकार के हिसाब के सम्बन्ध में जो झगड़ा चल रहा था उसका भी परिणाम प्रगट नहीं हुआ था। महादजी सिन्धिया पेशवाई के सरदार थे; उन्हें जो प्रान्त वसूली के लिए दिया गया था उसकी वसूली करके और उसमें से अपनी फ़ौज का ख़र्च काट कर शेष रुपये उन्हें पेशवा सरकार के यहाँ जमा कराना पड़ते थे। नाना० थे पेशवाई के अर्थ-सचिव। उन्हें राज्य के अर्थ-विभाग का सम्पूर्ण प्रबन्ध करना और सब सरदारों से हिसाब लेना पड़ता था। महादजी सिन्धिया ने चार साल का हिसाब नहीं दिया था। इसी सम्बन्ध में अर्थ-सचिव नाना० और महादजी सिन्धिया में झगड़ा चल रहा था। यही कारण था जिससे रघुनाथराव के सम्बन्ध में सिन्धिया ने ढील डाल दी और रघुनाथराव इन्दौर तक चढ़ आये।

रघुनाथराव के पीछे ही लगे हुए हरिपन्त फड़के भी सेना के साथ मालवा में घुसे; पर सिन्धिया और होलकर की अनुमति के विना उनके प्रान्त में रघुनाथराव को पराजित करना हरिपन्त के लिए अशक्य था। हरिपन्त फड़के को मालवा में आते देख महादजी सिन्धिया ने तुरन्त ही राघोवा से सन्धि करने का राजनैतिक कार्य अपने हाथों में ले लिया और रघुनाथराव से संधि की शर्तों के विषय में बात-चीत करना आरम्भ कर दिया। रघुनाथराव ने अपनी शर्तें प्रगट करने में बहुत आना-कानी की। रघुनाथराव ने कहा कि "पहले फ़ौज के ख़र्च के कारण जो ५, ७ लाख रुपयों का मुझ पर कर्ज़ हो गया है वह दो, तब मैं सिन्धिया की मार्फ़त स्थायी सन्धि करूँगा," परन्तु यह रघुनाथराव का बहाना मात्र था। वह चाहता था कि हरिपन्त से रुपये मिल जाने पर अयोध्या के नवाब शुजाउद्दौला के पास चला जाऊँ। परन्तु, सिन्धिया ने उन्हें इस काम से रोका, तब वे दक्षिण की ओर जाने को तैयार हुए। साथ में सिन्धिया और होलकर भी थे। जब हरिपन्त ने देखा कि रघुनाथराव को मुग़ल और भोंसले की सहायता नहीं मिल सकती, तब उन्होंने भी रघुनाथराव को बरार प्रान्त में जाने की आज्ञा दी।

रघुनाथराव, दक्षिण को सीधी तरह से नहीं आरहे थे। उनकी ओर से कुटिलनीति के प्रयत्न जारी ही थे। सिन्धिया भी यही चाहते थे; क्योंकि उन्हें नानाफड़नवीस से अपनी शर्तें मञ्जूर करवानी थीं और वे रघुनाथराव के पूना पहुँचने के पहले ही मञ्जूर हो सकती थीं, इसलिए सिन्धिया ने अपने वकील पुरन्दरे को कारभारी के पास भेजा और रघुनाथराव तथा अपने सम्बन्ध की सब शर्तें उससे

स्पष्टरीति से स्वीकार करवा लीं। उनमें रघुनाथराव को दश लाख की जागीर और तीन क़िले तथा सिन्धिया को ख़र्च के बदले में एक लाख रुपये और सिन्दखेड़ प्रभृति ग्राम उपहार में देने आदि की शर्तें थीं। इन शर्तों के अनुसार रघुनाथराव को स्वाधीन करने के लिए सिन्धिया ने कारभारियों को हिन्दुस्थान की ओर बुलाया। वे लोग भी इस झगड़े को मिटाने के लिए आतुर हो रहे थे, अतः उन्होंने फिर मुग़ल और भोंसले को अपने सहायतार्थ बुलाकर ख़ानदेश का रास्ता पकड़ा। यह देखकर रघुनाथराव और नई शर्तें करने लगे तथा सिन्धिया की शिथिलता से लाभ उठाकर फिर उत्तर की ओर रवाना हुए। इस पर कारभारियों को निराशा हुई और वे अपने साथ की सेना को हरिपन्त के सहायतार्थ भेज कर पूना लौट आये। रघुनाथराव के साथ उनकी स्त्री आनन्दी बाई भी थी। उस समय वह गर्भवती थी। उसे साथ लेकर शीघ्रता से मार्ग तय नहीं हो सकता था, अतः उसे धार के क़िले में ठहरा और उसकी रक्षा का प्रबन्ध कर आप भागने के लिए निश्चिन्त हो गये। वे धार से उज्जैन गये; परन्तु जब वहाँ भी हरिपन्त को अपने पीछे आते देखा तो पश्चिम की ओर मुड़ कर गुजरात में घुसे और बड़ोदा गये। हरिपन्त, रघुनाथराव के पीछे ही लगा हुआ था। उसके साथ साथ सन्धि की बात-चीत करते हुए सिन्धिया और होलकर भी थे और इस तरह सब मराठा-मण्डली छुआ-छुआँअल का खेल खेल रही थी। बड़ोदा में रहना सुरक्षित न समझ रघुनाथराव अहमदाबाद की ओर रवाना हुए। हरिपन्त ने भी उनका पीछा वहाँ भी किया और महीनदी के किनारे उसे आ मिलाया। बस, युद्ध होने का

समय आगया। इतने में ही सिन्धिया ने बीच में पड़ कर सन्धि की बात-चीत प्रारम्भ कर दी। नदी के दोनों किनारों पर दोनों ओर की सेना सत्रह दिन तक पड़ी रही; पर कुछ सार नहीं निकला।

पेशवाई के झगड़े के मूल-कारण रघुनाथराव की स्थिति इस समय बहुत करुणा-जनक थी। नारायणराव का वध होने के पश्चात् बारह भाई ने उन्हें निकाल दिया था। जब रघुनाथराव ने देखा कि मेरी सहायता करने को कोई भी तैयार नहीं होता, तब उन्होंने अङ्गरेज़ों का आश्रय लेने का विचार किया और धार में साथ की सब चीज़-वस्तु रख कर गुजरात का रास्ता पकड़ा। खम्बात् से भावनगर होकर जलमार्ग के द्वारा ता० २३ फ़रवरी सन् १७७५ को वे सूरत पहुँचे। वहाँ अङ्गरेज़ अधिकारियों ने उनका खूब आदर-सत्कार किया; परन्तु उन्हें जो धन की आवश्यकता थी वह अङ्गरेज़ थोड़े ही पूरी कर सकते थे। उन्होंने सूरत में कर्ज़ लेने का विचार किया; परन्तु इसके लिए भी कोई सेठ-साहूकार तैयार नहीं हुआ। इधर अङ्गरेज़ों ने सन्धि करने की शीघ्रता की और ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को, स्वयम् ज़ामिन होकर क़र्ज़ दिलाना तो दूर रहा, उल्टे यह कहने लगे कि तुम्हारे पास जो छः लाख के जवाहिरात हैं उन्हें जब हमारे पास सन्धि की जमानत की तौर पर रक्खोगे तब हम सन्धि करेंगे। लाचार होकर रघुनाथराव ने अङ्गरेज़ों से सन्धि की जिसकी मुख्य मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं :—

(१) अङ्गरेज़ और मराठों से जो पहले सन्धि हो चुकी है उसे रघुनाथराव भी मान्य करें।

(२) अङ्गरेज़, अभी पन्द्रह सौ और फिर शीघ्र ही पचीस सौ सेना रघुनाथराव के सहायतार्थ दें।

(३) इस सेना के व्यय के लिए रघुनाथराव, सव साष्टी द्वीप, मराठों के अधिकार का उसका आश्रित प्रदेश और उसकी आमदनी, गुजरात के जम्बूसर और ओलफाड़ नामक परगने, कारञ्जा, बम्बई के पास वाले कान्हेरी प्रभृति द्वीप, बड़ोदा के गायकवाड़ की मार्फ़त भड़ौंच शहर और परगने से वसूल होनेवाली आमदनी, अङ्कलेश्वर की आमदनी में से प्रतिवर्ष पचहत्तर हज़ार रुपये तथा अङ्गरेज़ों की फ़ौज के ख़र्च के लिए डेढ़ लाख रुपये मासिक दें। इन डेढ़ लाख रुपयों के लिए गुजरात के चार परगने जमानत की तौर पर अङ्गरेज़ों को दिये जायँ।

(४) बङ्गाल और कर्नाटक की अङ्गरेज़ी जागीर पर मराठे कभी चढ़ाई न करें।

(५) ऊपर की शर्तों के अनुसार देने के लिए स्वीकृत किया हुआ प्रान्त सन्धि के दिन से अङ्गरेज़ों के अधीन किया जाय और यदि रघुनाथराव तथा पूना के दरबार में सन्धि हो जाने से युद्ध करने का अवसर प्राप्त न हो, तो भी यही समझा जाय कि अङ्गरेज़ों ने सन्धि के अनुसार सहायता की है और इसके बदले में ऊपर लिखा हुआ प्रान्त उन्हें सदा के लिए दिया हुआ समझा जाय।

तदनुसार सन्धि हो जाने पर बंबई वालों ने कर्नल कीटिङ्ग को रघुनाथराव के सहायतार्थ भेजा। कीटिङ्ग और रघुनाथराव की मुलाक़ात सूरत में फ़रवरी के अन्त में हुई और तुरन्त ही खम्बात से १८ मील की दूरी पर दारा नामक

स्थान में रघुनाथराव और अङ्गरेज़ों की ५० हज़ार सेना एकत्रित की गई। इधर हरिपन्त के पास सेना बहुत कम रह गई थी; क्योंकि सिन्धिया और होलकर मालवा को लौट गये थे और शेष बची हुई सेना भी बहुत दिनों से वेतन न मिलने से हतोत्साह होरही थी। ऐसी स्थिति में आरास नामक गाँव के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हो गई। इस युद्ध में हरिपन्त की हार हुई; परन्तु कुछ अन्तिम परिणाम न निकल सका; क्योंकि वर्षाऋतु आजाने के कारण कीटिङ्ग हरिपन्त के पीछे न लग डभोई में वर्षाऋतु की छावनी डाल कर रहने लगे। पेशवा की सेना को यह अवकाश मिल जाने से रघुनाथराव की बड़ी हानि हुई; क्योंकि बंबई के अङ्गरेज़ों ने जो रघुनाथराव से सन्धि की थी उसके समाचार जब कलकत्ता पहुँचे तब कलकत्ते के गवर्नर जनरल वारन-हेस्टिङ्गज़ ने इस सन्धि को अमान्य ठहराया। सन् १७७४ के रग्यूलेशन एक्ट के अनुसार बङ्गाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल के स्वत्व मिल चुके थे और दूसरे प्रान्तों के गवर्नरों पर उनका अधिकार चलने लगा था। परन्तु, इस बात को हुए एक ही वर्ष बीता था, इसलिए अन्य गवर्नरों को पहले के समान स्वतन्त्रता से काम करने का अभ्यास छूटा नहीं था। इसी अभ्यास के वश होकर बंबई के अङ्गरेज़ों ने रघुनाथराव से संधि कर ली थी और कलकत्ते के गवर्नर जनरल की सम्मति की आवश्यकता नहीं समझी थी। यदि कलकत्ते को समाचार जाने के पहले ही यहाँ झटपट पेशवा से युद्ध हो गया होता और उसका परिणाम अङ्गरेज़ों के अनुकूल होकर उन्होंने रघुनाथराव को पूना लाकर गादी पर बैठा दिया होता, तो कदाचित् बात दूसरी ही होती और कलकत्ते

वाले भी इस बात से लाभ उठाने को तैयार हो जाते; परन्तु यहाँ तो बात ही दूसरी थी। एक तो सम्पूर्ण मराठी सेना से लड़ने का यह प्रसङ्ग था, दूसरे सम्पूर्ण मराठे सरदार पूना दरबार के अनुकूल थे और रघुनाथराव के पास भी अधिक सेना नहीं थी। फिर बम्बई के अङ्गरेज़ों की साम्पत्तिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। ऐसी स्थिति में कोई किसीके लिए और किसी युद्ध की धधकती हुई अग्नि में क्यों पड़ेगा? और फिर ऐसे व्यक्ति को जिस पर सम्पूर्ण जगत् ने अपने भतीजे का खून करने का अपराध लगाया हो राज्य दिलाने के लिए भला कौन युद्ध करना चाहेगा? यद्यपि यह ठीक है कि वारन हेस्टिङ्ग्ज़ सत्य और न्याय की मूर्ति नहीं थे, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि रघुनाथराव का पक्ष लेने का बंबई वालों का कार्य उन्हें उचित नहीं प्रतीत हुआ। इसीलिए उन्होंने युद्ध बन्द करने की आज्ञा बड़ी शीघ्रता के साथ चारों ओर भेज दी और अपना एक वकील सन्धि करने के लिए पूना-दरबार भेजा। इस बात से बम्बई वालों के मुँह पर अच्छा तमाचा लगा और उन्हें रघुनाथराव से कुछ कहने में लज्जा मालूम होने लगी। उन्होंने कर्नल कीटिङ्ग के द्वारा रघुनाथराव को कहलवाया कि "यद्यपि बात यहाँ तक आ गई है तो भी हम अपनी शक्ति भर तुम्हें सहायता देंगे। यदि सन्धि करने का ही मौक़ा आया, तो हम उन शर्तों पर ही सन्धि करेंगे जिनसे तुम्हारा हित होगा; और अधिक नहीं तो अपने यहाँ निर्भय रहने के लिए उत्तम स्थान तो अवश्य ही देंगे।" इस निराशाजनक समाचार का प्रभाव रघुनाथराव पर क्या पड़ा होगा इसकी कल्पना सब कोई सहज में कर सकते हैं।

श्रीयुत राजवाड़े ने "मराठों के इतिहास के साधन" नामक पुस्तक का जो बारहवाँ खण्ड प्रकाशित किया है उसमें रायरीकर के दफ़्तर के उस समय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्र छपे हैं जिनमें से कुछ पत्र तो रघुनाथराव के हैं और कुछ वे हैं जो अङ्गरेज़ों के यहाँ रहने वाले रघुनाथराव के वकील ने रघुनाथराव को लिखे हैं। इन पत्रों के पढ़ने से इस बात का निदर्शन भली प्रकार हो जाता है कि अङ्गरेज़ों के आश्रय में जाने पर रघुनाथराव की स्थिति कैसी विकट हो गई थी। कलकत्ते वालों की आज्ञा से युद्ध बन्द हो जाने के कारण रघुनाथराव के कार्य में बहुत भारी धक्का लगा; परन्तु बम्बई वालों ने उन्हें पहले बहुत धीरज बँधाया और कहा कि "इसी काम के लिए यहाँ से पत्र देकर टेलर साहब को कलकत्ते भेजा है; वहाँ २० दिन में पहुँचेंगे और जाने के १॥ मास बाद फिर युद्ध करने की आज्ञा लेकर पत्र लिखेंगे।" इस तरह पहले धीरज बँधाया। उस समय रघुनाथराव के वकील ने लिखा था कि "जनरल साहब ने श्रीमन्त का जो हाथ पकड़ा है उसे वे कभी नहीं छोड़ेंगे। श्रीमन्त का पक्ष अवश्य सिद्ध होगा। श्रीमन्त चिन्ता न करें। बम्बई वालों को अपने स्वाभिमान-रक्षा की चिन्ता पड़ी हुई है। नवीन जनरल विलायत से रवाना हो चुका है। वह पन्द्रह-बीस दिन में बम्बई आ पहुँचेगा। तब श्रीमन्त की ओर से जो लाभ होगा वह नये जनरल साहब को होगा, यह देख कर वर्तमान जनरल साहब दुखी हैं। सारांश यह कि अपना काम विलायत से ही होगा यहाँ से न होगा।" रघुनाथराव को यह झूठी आशा भी दिलाई गई कि "किसी चतुर मनुष्य को खुश्की के रास्ते

से विलायत भेजा जाय, तो आठ दस माह में सब पक्का प्रबन्ध हो जायगा"। इधर यह जनश्रुति फैली थी कि गङ्गाबाई के जो लड़का हुआ था वह तो मर गया है; परन्तु उसके स्थान पर दूसरे बनावटी लड़के को रखकर सवाई माधवराव के जन्म होने की घोषणा की गई है गङ्गाबाई के साथ अन्य और पाँच गर्भवती स्त्रियाँ इसी आशा से रक्खी गई थीं। इन बातों से रघुनाथराव का हक़ गादी पर और भी अधिक होगया है, यह कहने का आधार अङ्गरेजों को मिल गया और इससे अङ्गरेज़ों का साथ करने का फल व्यर्थ नहीं जायगा, ऐसी आशा रघुनाथराव को होने लगी; परन्तु फिर दिन पर दिन यह आशा कम भी होने लगी; क्योंकि एक तो रघुनाथराव के पास स्वतः अपना पैसा बिलकुल नहीं रहा था, दूसरे गायकवाड़ से जो वसूली होती थी उसका भी निकाल अङ्गरेज नहीं करते थे। वे तो कभी गोविन्दराव और कभी फतहसिंह से मिल कर अपना वसूली करने का काम निकाल लिया करते थे। गुजरात प्रान्त में जो परगने दिये थे उन्हें भी वे लेकर बैठ गये थे; परन्तु रघुनाथराव के खर्च का कुछ प्रबन्ध नहीं करते थे। अपने पास की सेना के बल बड़ौदा शहर को लेने का विचार रघुनाथराव ने किया, तो इसमें भी लोग आड़े आगये। अब यदि उनसे लड़ाई छेड़ी जाती, तो आगे की लड़ाई घर में छिड़ जाती। वेतन न मिलने से सेना के कुछ लोग भी जाने की तैयारी करने लगे। उधर कलकत्ते से आश्विन के अन्त तक युद्ध फिर प्रारम्भ करने के समाचार आनेवाले थे; परन्तु कार्तिक समाप्त होने पर भी पत्र का कहीं पता नहीं था। नर्मदा के तीर पर कहीं सुभीते की जगह देख कर रघुनाथराव ने रहने

का विचार किया; परन्तु कर्नल कीटिङ्ग वह भी नहीं करने देते थे। वे सेना के सहित जाने का आग्रह करते थे। रघुनाथराव ने एक पत्र में लिखा है कि "नर्मदा-तट पर रहने नहीं देते ऐसी अधबीच की स्थिति में आ पड़ा हूँ। जनरल लोग भीतर ही भीतर उन्हें क्या लिखते हैं यह भी समझ में नहीं आता, तो भी जनरल आदि चालाक और हमारे हितैषी हैं यह जानकर मैं रवाना होता हूँ। फिर ईश्वरेच्छा बलीयसी।" आधा मार्गशीर्ष मास चला गया; परन्तु कलकत्ते से कोई उत्तर नहीं आया। तब बम्बई वालों से रघुनाथराव के वकील ने कहा कि "यदि बङ्गाल वाले तुम्हारी नहीं सुनेंगे तो फिर तुम क्या करोगे? हमें तुम्हारे विश्वास पर धोखा तो नहीं खाना पड़ेगा?" परन्तु बम्बई वाले सिर्फ़ एक यही उत्तर देते थे कि "बङ्गाल वाले सुनेंगे क्यों नहीं? अवश्य सुनेंगे। चिन्ता मत करो।" वे इस प्रकार आश्वासन देते रहते थे; परन्तु ये आश्वासन शीघ्र ही निष्फल सिद्ध हुए, क्योंकि फाल्गुन मास के लगभग बङ्गाल वालों के वकील साहब ने पूना पहुँच कर बारह भाई से सन्धि कर ली और उसके समाचार बम्बई वालों के पास भेज दिये। इस सन्धि की मुख्य शर्त रघुनाथराव को बारह भाई के अधीन करने की थी। जब यह शर्त बम्बई वालों ने जानी होगी तब रघुनाथराव से प्रगट करते समय उन्हें कैसी कठिनाई पड़ी होगी इसका अनुमान पाठक स्वयम् कर लें। रघुनाथराव भी यही समझने लगे कि बम्बई वालों ने हमसे विश्वासघात किया और उनके मुँह से यह उद्गार सहज में निकले कि "अङ्गरेज़ों के घर रहते हुए हमें ये बारह भाइयों के अधीन कर क़ैद करवाते हैं, इसलिए यह बात अङ्गरेज़ों के लिए अभि-

मानपूर्ण नहीं है।" रघुनाथराव अङ्गरेज़ों से पूछने लगे कि तुमसे कुछ नहीं होता तो न सही; पर चुपचाप तो बैठो और कहो कि इस तरह तटस्थ रहने का क्या लोगे ? वे विचारने लगे कि वर्ष दो वर्ष गुजरात में व्यतीत कर अपने उद्योग से जो मिलेगा उसी पर निर्वाह करेंगे। एक बार यह भी विचार किया कि भड़ौंच के पास रणगढ़ में नर्मदा-तट पर रह कर वर्ष दो वर्ष स्नान-सन्ध्या में व्यतीत करूँ और इस बीच में विलायत तथा भारत में बारह भाई के शत्रुओं से कुछ राजनैतिक झगड़े करवाकर अपने भाग्य की परीक्षा करूँ; परन्तु वहाँ रहना सम्भव नहीं था; क्योंकि कलकत्ते वालों की आज्ञा से सन्धि हो जाने पर रघुनाथराव को सेना के साथ गुजरात में अपना आश्रित बना कर अथवा अपनी सम्मति से रहने देने का अधिकार बम्बई वालों को नहीं था और रघुनाथराव ने पूछा तब बम्बई वालों ने भी यही बात स्पष्ट रीति से कह दी थी। इस पर रघुनाथराव सिर पीट कर रह गए। उन्होंने एक जगह लिखा है कि "अङ्गरेज़ों को उदार और बलवान् समझ कर उनका आश्रय लिया था; परन्तु भाग्य ने वहाँ भी धोखा दिया। अब जनरल को क्या दोष दिया जाय। जो होना है सो होगा। सब में श्रेष्ठ अङ्गरेज़ों को शामिल कर शत्रु का प्रायः आधा पराजित भी कर दिया, तो भी जब धक्का बैठा, तो अब वैराग्य धारण करना ही उचित है।" रघुनाथराव के मन में था कि कम्पनी के अधिकार के किसी एक स्थान को देखकर वहाँ रहें, क्योंकि कोपर गाँव में रहना तो एक प्रकार से बारह भाई की क़ैद में रहने के समान था; परन्तु उनका यह विचार भी पूरा नहीं हो सकता था और इतना ही नहीं, किन्तु रघुनाथराव के जो छः लाख के जवाहिरात

अङ्गरेज़ों के पास थे उन्हें भी बारह भाइयों के देने की शर्त अप्टन साहब ने पूना दरबार से की थी। रघुनाथराव को यह तो अन्याय की परमावधि ही प्रतीत होने लगी और वे पूछने लगे कि "हमारे जवाहिरात देने वाले आप कौन हैं ?" परन्तु उन्होंने अपने आप से यह नहीं पूछा कि अङ्गरेज़ों के बारह भाई से सन्धि कर लेने पर यह प्रश्न पूछने वाले रघुनाथराव भी कौन होते हैं ? शक १६६८, चैत वदी चतुर्दशी के पत्र में निराश होकर रघुनाथराव ने इस प्रकार उद्गार निकाले हैं "सब सलाह धूल में मिल गई। एक अङ्गरेज़ों की प्रतिकूलता के कारण सब सङ्कट सिर पर आ पड़े हैं। आज तक अङ्गरेज़ों की यह ख्याति थी कि इन्होंने जिसका पक्ष लिया उसे कभी नहीं छोड़ा; परन्तु हमें तो बहुत धोखा दिया और हमारे साथ विश्वासघात, दग़ाबाज़ी और बेई-मानी की। इनके द्वारा हमारे सम्बन्ध में ऐसा दग़ा हुआ है जैसा किसी को भी न हुआ होगा।" यह ऐसा समय था कि रघुनाथराव को यही नहीं सूझता था कि कहाँ जावें और कहाँ रहें ? यदि जहाँ थे वहाँ से हट कर जाते तो मुल्की सिपाही वेतन के लिए जान खा जाते और यदि जहाँ के तहाँ रहते तो ग्याँवियर और कीटिङ्ग ने आकर यह स्पष्ट कह दिया था कि "तुम्हारे रहने के कारण सेना को परिश्रम करना पड़ता है। फड़के की सेना तुम पर आक्रमण करने वाली है। हम तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते और यदि सेना सहित तुम्हें रखते हैं तो हमें बदनामी उठानी पड़ती है, इसलिए आप यहाँ से रवाना होकर जिस तरह बने अपना बचाव करें। आप अपनी सेना को बचायें, हमारे भरोसे

न रहें। यदि आप शहर में आना चाहते हैं, तो दो सौ मनुष्य से अधिक हम नहीं आने देंगे।"

जब कर्नल अप्टन पूना जाकर कारभारियों से सन्धि की बातचीत करने लगे, तब पहले तो कारभारियों ने कर्नल साहब को सहायता नहीं दी और यही कहा कि बम्बई वालों ने निष्प्रयोजन हमसे झगड़ा किया है, इसलिए साष्टी और उसके साथ में लिया हुआ सब प्रदेश हमें दो और रघुनाथ-राव का पक्ष बिना किसी प्रकार की शर्त के छोड़ो, तब हम सन्धि करेंगे। परन्तु, अङ्गरेज़ों का वकील इन शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं था, अतः पहले तो सन्धि होने की आशा छोड़ दी गई और तारीख़ ७ मार्च, १७७६ को कलकत्ते वालों ने मराठों से युद्ध करने की आज्ञा बम्बई वालों को देने का निश्चय किया; परन्तु यहाँ इससे छः दिन पहले ही अर्थात् १ मार्च को सब शर्तें ठहर कर पुरन्दर में सन्धि पर हस्ताक्षर भी हो गये। इस सन्धि की मुख्य मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं:—

(१) अङ्गरेज़ों ने जो साष्टी द्वीप ले लिया है सो उन्हींके पास रहे और यदि कभी वे देने को तैयार हों, तो पेशवा अङ्गरेज़ों को तीन लाख की आमदनी का प्रान्त बदले में दें।

(२) भड़ौंच शहर और उसके चहुँओर का जो प्रदेश पेशवा के अधिकार में है वह अर्थात् लगभग ३ लाख की आय वाला प्रदेश, मराठे अङ्गरेज़ों को दें।

(३) अङ्गरेज़ रघुनाथराव का पक्ष छोड़कर उनके पास से अपनी सेना हटा लें और रघुनाथराव भी अपने फ़ौज-फांटे के साथ कोपर गाँव में जाकर रहें; उन्हें २५ हज़ार रुपये मासिक ख़र्च के लिए दिये जायँगे।

इस सन्धि के अनुसार मराठों का लगभग छः लाख वार्षिक आमदनी वाला प्रान्त अङ्गरेज़ों के अधिकार में चला गया; परन्तु गृह-कलह मिटाने और अपने राजनैतिक कार्यों में जो दूसरे के प्रवेश होने का भय था उसे दूर करने के अभिप्राय से उन्होंने यह छः लाख रुपये का प्रान्त देकर सन्तोष धारण किया; पर अङ्गरेज़ों को इस सन्धि से सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें छः लाख की आमदनी का प्रान्त प्राप्त करने की अपेक्षा मराठों से लड़ने के कारणभूत रघुनाथराव को अपने हाथ में रखने की इच्छा अधिक थी। वे पुरन्दर की सन्धि के अनुसार तीन लाख का प्रान्त भी लेना चाहते थे और रघुनाथराव को भी आश्रय देने के लिए तैयार थे। उन्होंने रघुनाथराव को पेशवा के अधीन न कर दस हज़ार रुपये मासिक वेतन देकर बम्बई में रक्खा और गुजरात में अपनी फ़ौज भी तैयार रक्खी। स्वयम् गवर्नर जनरल वारन-हेस्टिङ्ग्ज़ को यह सन्धि स्वीकृत नहीं थी और इधर बम्बई वालों ने भी कलकत्ते वालों के विरुद्ध इङ्गलैंड के राजा के पास नियमानुसार अपील करने का मार्ग रघुनाथराव को सुझाकर खलबली मचा दी थी। रघुनाथ-राव ने इङ्गलैंड के राजा को जो पत्र लिखा था उसका आशय इस प्रकार था:—

"मेरा पक्ष सत्य है और यही देखकर बम्बई के अङ्गरेज़ों ने मुझे सहायता देने का वचन दिया था। कर्नल कीटिङ्ग की वीरता के कारण हमने गुजरात में पाँच छः लड़ाइयों में विजय प्राप्त की और वर्षा-ऋतु के समाप्त होते ही हम पूना पर चढ़ाई करने वाले थे; परन्तु इतने में ही कलकत्ते वालों ने युद्ध रोक दिया। अङ्गरेज़ों की सर्वत्र यही रीति है कि

एक गवर्नर के कोई काम शुरू करने पर दूसरे गवर्नर उसे सहायता देकर कार्य सिद्ध कर लेते हैं; परन्तु मालूम होता है कि वारन हेस्टिङ्ग्ज़ को यहाँ की स्थिति का पूर्ण अनुभव नहीं हुआ है, इसीलिए उन्होंने युद्ध बन्द करने की घोषणा की होगी। यहाँ अङ्गरेज़ों की न्याय-प्रियता बहुत प्रसिद्ध है, इसलिए बम्बई वालों के और मेरे बीच में जो सन्धि हुई है उसे पूरी करना उचित है। मेरे ऊपर आप का जो प्रेम है उसे ध्यान में लाकर मुझे पूना की गादी प्राप्त करने के कार्य में बम्बई और कलकत्ते वालों को सहायता देने के लिए आप कृपा कर आज्ञा दें।"

इस पत्र का प्रत्यक्ष में कोई परिणाम नहीं हुआ। इधर पुरन्दर की सन्धि के अनुसार अङ्गरेज़ों को काम करते हुए देख और रघुनाथराव को आश्रय देने के कारण, रघुनाथराव-सम्बन्धी मुख्य शर्त पूर्ण होने तक, पूना वालों ने गुजरात प्रान्त का जो तीन लाख की आमदनी वाला प्रान्त देना स्वीकार किया था वह नामन्ज़ूर कर दिया और एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि न तो युद्ध ही होता था और न सन्धि की शर्तें ही पूरी होती थीं; परन्तु कलकत्ता-कौंसिल ने यह सन्धि स्वीकार कर ली थी; इसलिए अङ्गरेज़ उसे एकाएक तोड़ने में असमर्थ थे और उधर नाना फड़नवीस भी यह चाहते और प्रयत्न करते थे कि पुरन्दर की सन्धि के अनुसार काम हो। रघुनाथराव भी उधर चुप नहीं बैठे थे। वे अङ्गरेज़ों से स्पष्ट कह रहे थे कि या तो सूरत की सन्धि के अनुसार काम करो या मुझे तुम्हारे आश्रय की आवश्यकता नहीं है, मुझे जैसा सूझेगा वैसा करूँगा। बम्बई वालों के लिए भी यह एक लाभदायक ही बात हुई, क्योंकि रघुनाथ-

राव के आश्रित होकर रहने से उन्हें जो ख़र्च करना पड़ता वह बच गया।

दूसरे वर्ष एक नई बात पैदा हो गई। वह यह कि फ्रेञ्चों ने अपने वकील सेण्ट ल्यूबिन के द्वारा पूना दरबार से बात-चीत करना प्रारम्भ किया। अङ्गरेज़ों के समान महाराष्ट्र में व्यापार बढ़ाने और पेशवाई की राजव्यवस्था में प्रवेश करने की इच्छा फ्रेञ्चों की भी थी। उस समय अङ्गरेज़ों और फ्रेञ्चों की वैराग्नि धधक रही थी और जिस तरह अमेरिका में फ्रेञ्चों ने अङ्गरेज़ों के विरुद्ध वहाँ के निवासियों को भड़-काया था, उसी तरह यहाँ भी पेशवा को अङ्गरेज़ों के विरुद्ध सहायता देने का फ्रेञ्चों का विचार था। पेशवा ने भी अङ्गरेज़ों के रघुनाथराव-सम्बन्धी व्यवहार के बदले में फ्रेञ्चों को हाथ में लेना उचित समझा और इसीलिए अङ्गरेज़ों का दिल जलाने के लिए जानबूझ कर उनके वकील का ख़ूब सत्कार किया। यदि उस समय फ्रेञ्चों और पेशवा की स्थायी सन्धि हो जाती तो उसका परिणाम क्या होता यह अनुमान करना बहुत कठिन है। कदाचित् फ्रेञ्चों की सहा-यता से पेशवा ने अपनी कवायद करने वाली पल्टनें तैयार कर ली होतीं और पेशवा की सहायता से फ्रेञ्चों ने पूना में एक छोटी मोटी कोठी खोल कर बम्बई के आसपास कोई बन्दर प्राप्त किया होता; परन्तु यह सन्धि नहीं हो सकी। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय यह जनश्रुति फैली थी कि नानाफड़नवीस और सेण्ट ल्यूबिन की परस्पर में सन्धि हो गई है तथा यह भी ख़बर थी कि एक दिन नानाफड़नवीस के घर सेण्ट ल्यूबिन और अन्य मुख्य मुख्य अधिकारी एक-त्रित हुए थे और उन सबके सामने ल्यूबिन ने बाइबिल की

और नाना ने गाय की शपथ ले कर सन्धि निश्चित की थी। उस सन्धि के अनुसार ये ठहराव हुए थे कि "पेशवा, फ्रेञ्चों को चौल बन्दर दें और फ्रेञ्च अङ्गरेज़ों से लड़ने के लिए पेशवा को सहायता दें।" जिस समय फ्रेञ्च वकील आता था उसे लेने के लिए हाथी भेजा जाता था और स्वयम् नानाफड़नवीस और सखारामबापू उसका स्वागत करने के लिए डेरे से बाहर आते थे; परन्तु जब अङ्गरेज़ों का वकील आता था तब उसे लेने के लिए कोई एक दूसरी श्रेणी का सरदार भेजा जाता था। इस प्रकार भेद-पूर्ण व्यवहार अङ्गरेज़ों के ध्यान में न आया हो यह बात नहीं थी; किन्तु यह बहुत सम्भव है कि उनके ध्यान में लाने ही के लिए नाना० ने यह प्रपञ्च किया हो। कुछ भी हो, अन्तिम परिणाम देखने पर यही प्रतीत होता है कि पेशवा और फ्रेञ्चों की मैत्री बहुत काल तक न टिकी।

कितने ही अङ्गरेज़ ग्रन्थकारों का यह मत है कि यदि इस समय पूना के दरबार में फ्रेञ्चों के पैर जम गये होते, तो मराठों ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार कर लिया होता। उस समय के बम्बई के अधिकारियों को यह भय होने लगा था कि कारोमण्डल किनारे पर जैसी घटना हुई वैसीही कहीं फ्रेञ्चों के षड्यन्त्र से यहाँ भी न हो अर्थात् जिस तरह उस किनारे पर से फ्रेञ्चों के कारण अङ्गरेज़ों को हटना पड़ा उसी तरह बंबई को भी न छोड़ना पड़े। उनका यह भय उस समय के कागज़-पत्रों में भी देखने को मिलता है; परन्तु पूना में फ्रेञ्चों का पैर जम न सका, क्योंकि एक तो अङ्गरेज़ों ने लगातार एक सौ वर्षों से बम्बई प्रान्त में अपने पूरे पैर जमा रक्खे थे; दूसरे समुद्र-किनारे पर सुरक्षित

रीति से जमने के लिए फ्रेञ्चों को अधिक स्थान नहीं था। नाना० भी यह बात जानते थे। उन्होंने अङ्गरेज़ों पर प्रभाव जमाने और धाक उत्पन्न करने के लिए ही फ्रेञ्चों की ओर ऊपरी मन से अधिक सहानुभूति दिखलाई होगी। पोर्तुगीज़ों और अङ्गरेज़ों का तो उन्हें पूरा अनुभव था ही, अब तीसरे फ्रेञ्चों के आजाने से दुःखों के कम होजाने की आशा भी नहीं थी; परन्तु एक का भय दूसरे को दिखाने की यह नीति, उस समय आवश्यक और चतुराई भरी होने से उन्होंने स्वीकार की होगी। एक बार तो अङ्गरेज़ों के वकील ने बम्बई को लिखा था कि नाना० कहते हैं कि "हम पूना से सब यूरोपियनों को निकाल देंगे। यदि किसी को वकील के तौर पर दरबार में आने जाने वाले मनुष्य की ज़रूरत होगी तो एक कर्मचारी रख देना बहुत होगा"।

उस समय पूना दरबार में प्रवेश होने की स्पर्द्धा जिस तरह यूरोपियनों में थी उसी तरह दुर्दैव से पूना दरबार के दो कारभारियों में भी थी; अतः रघुनाथराव के पक्षपातियों ने उन्हें पूना लाने के लिए बम्बई के अङ्गरेज़ों से बातचीत चलाई। इस काम में सखाराम बापू, मोरोबा फड़नवीस, बजाबा पुरन्दरे और तुकोजी होलकर शामिल थे और ये चारों ही प्रभावशाली पुरुष थे; पर सखाराम बापू का प्रभाव और भी बढ़कर था; क्योंकि यह पूना दरबार का मुख्य कारभारी था और पुरन्दर के सन्धि-पत्र पर पहले हस्ताक्षर इसीके हुए थे, नाना० के तो उनके नीचे थे। उसी सखाराम बापू ने जब रघुनाथराव को पूना लाने की बातचीत छेड़ी, तो अपने स्वार्थ के लिए अङ्गरेज़ इसका यह मतलब लगाने लगे कि जब पुरन्दर

को सन्धि करने वाला हो यह बातचीत चलाता है, तो हम यही समझते हैं कि पूना-दरबार ही पुरन्दर की सन्धि तोड़ने का प्रारम्भ करता है और ऐसा करने के लिए हमें निमन्त्रण देता है। अङ्गरेज़ों ने अपने सुभीते के लिए यह भी विश्वास जमा लिया कि सन्धि तोड़ने का दूसरा कारण फ्रेञ्चों के साथ पेशवा का बातचीत चलाना है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि नाना० के सिवा अन्य सब कारभारी रघुनाथराव के पक्ष में होंगे। विलायत से आने वाले पत्रों में भी कम्पनी के मुख्य अधिकारियों ने रघुनाथराव के प्रति अपनी अनुकूलता प्रगट की। उधर विलायत से एक बहुत बड़ा अङ्गरेज़ी जंगी जहाज़ों का बेड़ा भी आरहा था जिससे भी लाभ उठाया जा सकता था। इन सब बातों पर ध्यान देकर बम्बई के अङ्गरेज़ों ने पूना में रहने वाले अपने वकील को सखारामबापू से गुप्तरीति से बातचीत चलाने के लिए लिखा। इनके कार्य में विघ्न डालने वाली केवल एकही बात दीखती थी। वह यह कि सवाई माधवराव को ही नारायणराव के सच्चे और सत्पुत्र होने के कारण गादी का स्वामी मानने में महाराष्ट्र-प्रान्त में किसी को आपत्ति नहीं थी, यहाँ तक कि स्वयम् रघुनाथराव के पक्षपाती भी इसके विरुद्ध बोलने को तैयार नहीं थे। यह देखकर अङ्गरेज़ों ने यही उचित समझा कि रघुनाथराव को गादी पर बैठाने की अपेक्षा सवाई माधवराव के वयस्क होने तक उन्हींको कारभारी बनाया जाय; क्योंकि ऐसा करना अच्छा और न्याय-पूर्ण प्रतीत होगा; अतः अङ्गरेज़ों ने अपने वकील को इसी आशय की सूचना दी। अङ्गरेज़ों को दोनों बातों से लाभ की ही आशा थी। रघुनाथराव को गादी पर बैठाने से उन्हें

जितना लाभ था उससे उसके कारभारी होजाने से कुछ कम न था, क्योंकि गादी के स्वामी के अल्प-वयस्क होने से अधिकार कारभारी का ही होता। इसलिए रघुनाथराव को गादी पर बैठाने में साक्षात् अन्याय का पक्ष लेकर, अपना काम बिगाड़ना अङ्गरेज़ों ने उचित नहीं समझा।

पुरन्दर की सन्धि होजाने पर भी बम्बई वालों के इस षड्यन्त्र को कलकत्ते वाले अङ्गरेज़ों ने भी अपनाया। कलकत्ता-कौन्सिल के केवल दो सभासद फ्रान्सिस और ह्वीलर इस षड्यन्त्र के विरुद्ध थे; परन्तु अब वारन हेस्टिङ्ग्ज के विचार बदल गये थे। पहले उन्हें मराठों के झगड़े में पड़ कर पेशवाई से वैर करना उचित नहीं दिखता था; परन्तु अब उसे इसमें कम्पनी-सरकार का हित दिखलाई देता था। उसे यह आशा थी कि इन झगड़ों में पड़ने से पूना दरबार में हमारा प्रभाव स्थायी रूप से जम जायगा और इस आशा से बिगाड़ करने का कार्य अन्यायपूर्ण होने पर भी उसे सुभीते का दीखने लगा। वारन हेस्टिङ्ग्ज़ ने बम्बई के गवर्नर को लिखा कि जब पुरन्दर की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले एक मुख्य कारभारी ने सन्धि की शर्त तोड़ने की सूचना स्वयम् की है तो उस सन्धि के विरुद्ध रघुनाथराव को पूना ले जाना आवश्यक है, और इस कार्य्य के लिए बम्बई वालों को दस लाख रुपयों की सहायता देने का ठहराव करके उन्होंने कर्नल लेस्ली को सेना के सहित बम्बई को रवाना किया। इधर नानाफड़नवीस ने विद्रोही दल के मोरोबा फड़नवीस को क़ैद करके क़िले में रक्खा। बम्बई के अङ्गरेज़ों को गुप्त समाचारों से यही पता लगा कि मराठा-शाही में इस समय बहुत अव्यवस्था है, अतः उन्होंने रघुनाथ-

राव को पूना लाने का विचार पक्का कर लिया और कलकत्ते से आने वाली फ़ौज की प्रतीक्षा न कर तारीख़ २४ नवम्बर, सन् १७७८ को रघुनाथराव से नवीन सन्धि की और दूसरे ही दिन कर्नल एगर्टन को पाँच सौ गोरे और दो हज़ार देशी सैनिक देकर बम्बई बन्दर से रवाना भी कर दिया तथा आवश्यकता पड़ने पर राजनैतिक बातचीत करने के लिए जानकार नाक तथा टामस मास्टिन नामक दो सिविल अधिकारियों को अपने प्रतिनिधि बनाकर सेना के साथ भेजा।

कर्नल एगर्टन की यह सेना पनवेल में उतरकर और वहाँ से घाटियों में से होती हुई २५ दिनों में खण्डाले तक आ पहुँची। नाना० को अङ्गरेज़ों के समाचार प्रतिक्षण मिला करते थे। इस समय उन्होंने अपना सब भरोसा सिन्धिया पर रखकर और उन्हें बुरहानपुर देना स्वीकार करके सेना के साथ अङ्गरेज़ों का सामना करने को भेजा। दशहरे के बाद सिन्धिया और होलकर की तथा रास्ते में मिलनेवाली प्रतिनिधियों आदि की सेना मिलकर चालीस हज़ार के लगभग तैयार हो गई। इस समय अङ्गरेज़ों से जो घोरतर लड़ाई होने की आशा थी; अतः तोपखाने का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया गया और यह त्र्यम्बक राव पान की अधीनता में रणक्षेत्र को भेजा गया। अङ्गरेज़ों की सेना को तेज़ी से बढ़े चले आते देख मराठी सेना कुछ पीछे हट गई और उन्हें बराबर अपने ऊपर आने दिया और यह निश्चय कर लिया कि आवश्यकता पड़ने पर तलेगांव को भस्म कर देंगे और फिर निःसंशय और पूना भी जला देंगे। जनवरी के प्रारम्भ में कर्नल एगर्टन अस्वस्थ होने के

कारण अपना पदत्याग कर जाने को तैयार हुए; परन्तु यह देखकर कि मराठों ने कोंकन के रास्ते बंद कर दिये हैं वह फिर से तलेगाँव तक आया। कर्नल वाण लगकर खंडाले में जखमी हुआ और कार्ले के मुकाम पर तोप के गोले से कप्तान स्टुअर्ट की मृत्यु हुई। मिस्टर मास्टिन बीमार पड़े और उनकी भी मृत्यु हुई। घाट चढ़कर आते ही राघोबा के पक्ष के मराठे सरदार हमको मिलेंगे ऐसी आशा अङ्गरेज़ों को थी; परन्तु वह निष्फल हुई। यह देखकर कि न तो आगे बढ़ सकते और न पीछे जा सकते अङ्गरेज़ी सेना तलेगाँव का आश्रय लेकर ठहर गई; परन्तु उसने देखा कि तलेगाँव में अनाज, घास आदि मिलना कठिन है। यह मौक़ा पाकर मराठी फ़ौज ने ४ मील के अन्तर से उसे घेर लिया। ऐसी अवस्था में आगे बढ़कर पूना को जाना तो असंभव था; परन्तु लूटमार करते पीछे हटने से शायद वही मार्ग खुला हो ऐसा समझ कर ता० ६ जनवरी को अङ्गरेज़ी सेना खंडाले की तरफ चली। जब मराठों को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने तोपों की मार शुरू की। एक रात्रि में ३००-४०० अङ्गरेज़ मारे गये और ५ तोपें, २ गर्नला और २००० बन्दूकें मराठों के हाथ लगीं। अङ्गरेज़ी सेना बड़ी कठिनाई से हटते हटते २-३ मील पीछे जाकर बड़गाँव में घुसी; परन्तु वहाँ भी मराठों की तोपों की मार बराबर शुरू रही और सवार और पैदल दोनों फ़ौजों ने आक्रमण किया।

तारीख १४ को अङ्गरेज़ों ने मिस्टर फार्मर नामी अपना वकील मराठा लश्कर में सन्धि की बातचीत करने को भेजा। उन्हें नाना फ़ड़नवीस ने पहली शर्त यह सुनाई कि राघोबा को हमारे अधिकार में करो। सुलह तुमने तोड़ी अर्थात्

पहले की सन्धि अब रद्द हो गयी; इसलिए साष्टी, उरण, जंबुसर आदि पेशवे और गायकवाड़ के जो जो देश पहले तुमने लिये हैं उन सबको लौटाना होगा और पहले श्रीमंत नाना० साहब तथा माधवराव पेशवे के साथ की हुई संधि के अनुसार देश पाने की आशा छोड़ो और केवल मित्र-भाव से रहने को तैयार होओ। ये शर्तें बड़ी कठिन समझ अङ्गरेज़ों के वकील ने सिंधिया से बातचीत शुरू की; परन्तु उसने ज़रा भी ध्यान न दिया। ये शर्तें स्वीकार करने की अपेक्षा जितना नुकसान हो उसे सहकर घाट उतरने का प्रयत्न करने का विचार फिर से हुआ; परन्तु अङ्गरेज़ अधिकारियों में उसके शक्य या अशक्य होने के विषय में मतभेद हुआ। फिर से सिंधिया से बातचीत शुरू की गई और उनसे अङ्गरेज़ वकील ने कहा कि "यदि आज हम निरुपाय होकर यह सन्धि स्वीकार करलें तो उसके करने का हमें पूर्ण अधिकार न होने से सम्भव है कि कलकत्ते वाले उसे स्वीकार न करें।" सिन्धिया ने उत्तर दिया कि "जब पुरन्दर की सन्धि तोड़ने का तुम्हें अधिकार था तब सन्धि करने का भी तुम्हें अधिकार होना ही चाहिए और यदि रघुनाथराव को हमारे अधीन करने में तुम्हें बहुत कष्ट होता है, तो तुम स्वयम् यह मत करो, उसे हम स्वतः कर लेंगे; परन्तु नानाफड़नवीस की दूसरी शर्तें तो तुम्हें माननी ही पड़ेंगी। यदि नहीं मानोगे तो इसका फल बहुत बुरा होगा। हम तुम्हें एक डग भी आगे नहीं बढ़ने देंगे।" तब लाचार होकर अङ्गरेज़ों को नाना० की शर्तें माननी ही पड़ीं और सन् १७६२ से साष्टी के सहित जो जो प्रदेश ले रक्खे थे वे सब लौटाने को तैयार हो गये और यह स्वीकार किया कि "कलकत्ते से जो कर्नल गाडर्ड सेना ले

साथ आ रहा है उसे लौटाने को लिख देंगे और रघुनाथराव को तुम्हारे अधीन कर देंगे; फिर सिन्धिया उनका चाहे जो प्रवन्ध करे तथा रघुनाथराव से आज तक जो दस्तावेज़, संधि-पत्र आदि लिये हैं वे सब तुम्हें लौटा देंगे। इस संधि के अनुसार काम करने की जमानत के तौर पर कप्तान स्टुअर्ट तथा फार्मर मराठों के पास रहेंगे।" यह सन्धि करा देने में, सहायता करने के उपलक्ष में, अङ्गरेज़ों ने सिन्धिया को भड़ोंच और चार लाख रुपये देना स्वीकार किया।

ऊपर के अनुसार संधि हो जाने पर रघुनाथराव तीन सौ सवार, हज़ार-बारह सौ सिपाही, कुछ तोपें आदि सामान के साथ सिंधिया के पड़ाव में आये। रघुनाथराव के पड़ाव के चारों ओर, परन्तु दूर दूर, सिन्धिया की चौकियाँ थीं। रघुनाथराव यद्यपि नज़रक़ैद थे; परन्तु उनका सब प्रवन्ध सिन्धिया के हाथ में होने के कारण उनकी देखरेख, दूर से ही क्यों न हो, किन्तु बड़ी सावधानी से सिन्धिया को करनी पड़ती थी। रघुनाथराव के अन्य साथियों को यह सुभीते नहीं दिये गये थे। चिन्तोविट्ठल रायरीकर और खड्गसिंह इतर क़ैदियों के समान रक्खे गये थे। नानाफड़नवीस ने रघुनाथराव से मिलना भी अस्वीकार किया और सिन्धिया के द्वारा उनसे यह लिखवा लिया कि "अब हम पेशवा की गादी पर किसी प्रकार का अपना हक़ न जमायँगे।" औरों के समान सखाराम बापू को भी इस समय ठीक कर देना उचित था; क्योंकि नानाफड़नवीस के पास उसके विद्रोही होने का लिखित प्रमाण था; परंतु सिंधिया ने इस समय यह बात दबा दी थी। अङ्गरेज़ों के चक्के

जाने पर रघुनाथराव के सहित सिंधिया की सेना एक माह तक तलेगाँव में और पड़ी रही। अन्त में रघुनाथराव को झाँसी में रखना निश्चित हुआ और उनके ख़र्च के लिए पाँच-सात लाख रुपये वार्षिक तथा उनपर देखरेख रखने के ख़र्च के लिए सिंधिया को उतने ही रुपये देना नानाफड़नवीस ने स्वीकार किया। तब सिंधिया ने अपने सरदार हरिबाबाजी की नज़रक़ैद में रघुनाथराव को झाँसी के लिए रवाना किया। इतनी व्यवस्था हो जाने के बाद सखाराम बापू को उसीके हाथ का लिखा हुआ विद्रोही पत्र दिखाया गया और इस अपराध में सिंधिया द्वारा क़ैद करवाकर उसे सिंहगढ़ में रक्खा।

मराठों और अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध के पूर्वरङ्ग का यह प्रकरण समाप्त करने के पहले यहाँ वह पत्र उद्धृत करना हम उचित समझते हैं, जो पेशवा ने इङ्गलैंड के राजा को लिखा था। इस पत्र में रघुनाथराव के षड्यन्त्र का दोष अङ्गरेज़ों पर लगाया गया है। यहाँ उस पत्र के कठिन उर्दू शब्दों की जगह हिन्दी शब्द डाल दिये गये हैं। मूल पत्र मराठी भाषा में है और "ऐतिहासिक लेख-संग्रह" में प्रकाशित हो चुका है। इस पत्र में नानाफड़नवीस ने जो मराठों तथा अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध के पूर्वरङ्ग की अशान्ति का पाठ दिया है वह बहुत ही मनोरञ्जक है।

सवाई माधवराव का विलायत के बादशाह को पत्र।

"बहुत समय व्यतीत हुआ। आप की ओर से मैत्री का कोई पत्र न आने के कारण चित्त खेद में विचलित हो रहा

है। मित्रता के व्यवहार में यह होना उचित नहीं। सदा पत्र-व्यवहार का होना ही ठीक है। संसार में मित्रता के सिवा उत्तम वस्तु अन्य नहीं है। हम यही चाहते हैं कि पहले के क़रारों के अनुसार चलकर दोनों ओर से मित्रता की वृद्धि दिन पर दिन होती रहे। पहले हमारे राज्य में पोर्तुगीज़ और डच लोग व्यापार करते थे। उस समय बम्बई एक छोटा सा स्थान था और अङ्गरेज़ थोड़े से लोगों के साथ बम्बई में विलायत से आते जाते थे। तब बम्बई के जनरल ने स्वर्गीय बाजीराव साहब पेशवा से मित्रता की सन्धि की। उस समय कहा जाता था कि सब टोपी वालों में अङ्गरेज़ बादशाह बहुत अच्छे स्वभाव के, सत्यवादी, वचन के पक्के, न्याय-निष्ठ और क़ौल-क़रार के अनुसार चलने वाले हैं। इसी बात पर ध्यान देकर बम्बई वालों से सन्धि की गई और उसके अनुसार पोर्तुगीज़ तथा डच लोगों का व्यापार बन्द कर अपने राज्य में अङ्गरेज़ों को व्यापार करने की आज्ञा दी गई। यह सन्धि स्वर्गीय नानासाहब ने भी स्वीकार की; परन्तु उस समय हमारी सरकार के क़रारों के अनुसार आँग्रे अङ्गरेज़ों से व्यवहार नहीं करता था, उलटा उनसे शत्रुता और झगड़ा करता था; अतः आँग्रे को यहाँ से लिखा गया; पर उसने सरकारी आज्ञा नहीं मानी। तब सरकार की ओर से रामाजी महादेव को आज्ञा देकर आँग्रे के विजयदुर्ग आदि क़िलों पर घेरा डलवा दिया गया। इन्हीं दिनों अङ्गरेज़ों के सैनिक जहाज़ ने सूरत के क़िले पर अधिकार कर लिया। तब रामाजी महादेव ने अङ्गरेज़ों की सहायता लेकर विजयदुर्ग प्रभृति स्थान ले लिये। उस समय अङ्गरेज़ों से यह क़रार हो गया था कि

भीतर के सब सामान सहित क़िला हमारे सुपुर्द करना होगा; परन्तु अङ्गरेज़ों ने उसके भीतर का सामान हमें न दे कर ख़ाली क़िला हमारे सुपुर्द किया। क़रार के अनुसार क़िले की सामग्री हमको मिलनी चाहिए थी; परन्तु हमने मित्रता के लिहाज़ से अङ्गरेज़ों से कुछ नहीं कहा। पश्चात् नाना साहब की मृत्यु हो गई और माधवराव साहब राज्याधिकारी हुए। उन्होंने भी पहले के क़रारों को मञ्जूर किया और जिस तरह मैत्री पहले से चली आ रही थी चलाई। उस समय विलायत से आपका पत्र ले कर टामस मास्टीन माधवराव साहब की सेवा में उपस्थित हुए। उस पत्र में लिखा था कि मास्टीन को "श्रीमान् अपनी सेवा में सदा रक्खें। यदि कोई अङ्गरेज़ कुव्यवहार करेगा तो मास्टीन उसे ताक़ीद कर देंगे जिसमें दोनों पक्षों की मित्रता में कमी न हो।" अङ्गरेज़ों से पहले से ही दोस्ती चली आ रही थी। उसमें भी जब श्रीमान् का पत्र और आया, तो बहुत प्रसन्नता हुई और अङ्गरेज़ों के वकील को दरबार में रखने का नियम न होने पर भी मास्टीन साहब को केवल आपके पत्र पर से सम्मान के साथ पूना में रक्खा। मास्टिन साहब पाँच-सात वर्षों तक दरबार में रहे। कुछ दिनों बाद माधवराव साहब स्वर्गवासी हुए और तीर्थस्वरूप नारायणराव साहब जो कि राज्य के अधिकारी थे, राज्य करने लगे। उनके साथ रघुनाथराव ने भाई-बन्द होने पर भी, विश्वासघात किया। उनका यह काम लोकरीति के विरुद्ध था और हिन्दू-धर्म के अनुकूल भी नहीं था तथा मुसलमान और टोपीवालों के धर्म के भी विरुद्ध होगा, यह जानकर राज्य के कारभारी, इनगाव, सरदार और कर्मचारियों ने मिलकर रघुनाथराव को अधि-

कारभ्रष्ट और पदच्युत किया। उस समय हमारे कारभारी लड़ाई पर गये हुए थे; अतः बम्बई वालों ने छिद्र पाकर अपनी दृष्टि बदल दी और सब शर्तों को तोड़ कर साष्टी द्वीप ले लिया; फिर रघुनाथराव को आश्रय दिया। पाँच वर्षों से युद्ध प्रारम्भ है। इन दिनों में फ्रेञ्च आदि टोपी वाले अपना वकील भेजकर हमसे मैत्री करने की बहुत उत्कण्ठा दिखलाते रहे; परन्तु दूर-दृष्टि से हमने यह सोचा कि आप कहेंगे कि पहले हमें सूचना देना उचित था जिसमें हम बम्बई वालों को तुम्हारी शर्तों के अनुसार चलने के लिए बाध्य करते। इसी विचार के अनुसार और पहले के क़ौल-क़रारों पर ध्यान रखकर यह पत्र आपको भेजा जाता है। आप पूछेंगे कि बम्बई वालों के द्वारा कौन सा व्यवहार अनुचित हुआ? उसीके उत्तर में आपको स्पष्ट और पूर्ण-रीति से उनके अनुचित व्यवहार यहाँ लिखे जाते हैं ताकि आप अच्छी तरह जान लें और आपको विश्वास हो जाय।

"नाना साहब के स्वर्गवास के पश्चात् राज्य के अधिकारी माधवराव और नारायणराव थे। माधवराव साहब की भी मृत्यु हो गई, तब तीर्थस्वरूप नारायणराव राज्य करने लगे। उस समय हमारे कुटुम्बी रघुनाथराव ने दग़ा कर राज्य करने के इरादे से तीर्थस्वरूप नारायणराव का खून किया। यह बात हिन्दू-धर्म के बहुत विरुद्ध थी और राज्य का अधिकार भी हमारा था। अतः कारभारी और सब अमीर-उमरावों ने रघुनाथराव को अधिकार से च्युत किया और कारभारी लोग सेना आदि के साथ रघुनाथराव को रोकने के लिए गये। यह अच्छा मौक़ा देख कर टामस मास्टीन ने बम्बई वालों को लिखा और हमारी सरकार के

साष्टी आदि चार द्वीप ले लिये। वहाँ हमारी सरकार का शासन था और सरकार की तथा प्रजा की बहुत मालियत थी। वह सब अङ्गरेज़ों ने ले ली। इस तरह दूर-दृष्टि रख कर और सब क़ौल-क़रार तोड़कर अङ्गरेज़ों ने यह झगड़ा खड़ा कर दिया। टामस मास्टीन श्रीमान् का पत्र लेकर दरबार में रहने को आये थे। उसमें लिखा था कि "कोई अङ्गरेज़ बेअदबी करेगा, तो उसे ताक़ीद कर दोस्ती निबाही जायगी।" विजय-दुर्ग में आँग्रे की जो करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति थी उसे हमारे सुपुर्द करने का क़रार था, सो उसे देना तो दूर रहा, उलटा मास्टीन ने यह नया खेल और खेला और स्वयं बे-अदबी करने लगा। अब आपही सोचिए, बादशाही हुक्म और क़ौल-क़रार कहाँ रहे?

"स्वर्गीय बाजीराव के समय से क़रीब चार-पाँच बार अङ्गरेज़ों से सन्धियाँ हुईं जिनमें अङ्गरेज़ों ने क़रार किया कि सरकार के शत्रुओं को और राज्य के या घर के किसी मनुष्य को न तो हम आश्रय देंगे और न उनकी सहायता करेंगे; किन्तु उन्हें सरकार के अधीन कर देंगे। यह क़रार होते हुए भी अङ्गरेज़ों ने रघुनाथराव को आश्रय दिया और उसके सहायतार्थ जनरल कीटन प्रभृति अङ्गरेज़ों ने सेना सहित गुजरात प्रान्त में आकर करोड़ों रुपयों का प्रदेश ख़राब कर दिया और चालीस-पचास लाख रुपये भी वहाँ से वसूल कर लिये। उनका सामना करने को जो हमारी सेना गई थी उसमें भी करोड़ों रुपयों का ख़र्च हुआ। हमारे और अङ्गरेज़ों के बीच जो वचन हुए थे उनको भी उन्होंने तोड़ डाला और साष्टी ले लेने के बाद हमें लिखा कि उसे पोर्तुगीज़ लेने वाले थे, अतः हमने ले लिया। भला, यह कहाँ का न्याय है?

"कर्नल कीटन ने रघुनाथराव को साथ लेकर गुजरात प्रान्त में धूम मचाना शुरू किया; इसलिए उनका सामना करने को सरकारी फ़ौज और सरदार गये। एक दो युद्ध हुए और युद्ध चल ही रहा था कि इतने ही में कलकत्ते के जनरल तथा कौंसिल ने पत्र लिखा कि "अङ्गरेज़ों को किसी का राज्य नहीं चाहिए और अङ्गरेज़ बादशाह तथा कम्पनी यह चाहती है कि किसी को सैनिक सहायता देकर झगड़ा न किया जाय। बम्बई वालों ने जो बीच में यह झगड़ा खड़ा कर दिया है, उसके लिए उन्हें यहाँ से लिखा गया है कि झूठा झगड़ा मत करो, सेना को वापिस बुलालो। दोनों ओर से मैत्री की वृद्धि करने के लिए एक प्रतिष्ठित वकील यहाँ से भेजा जाता है। सरकार भी अपने सरदार और फ़ौज को युद्ध न करने के लिए आज्ञा दे दे।" कलकत्ता वालों को बादशाह और कम्पनी के मुख़्तार समझकर और उनका लिखना उचित, न्यायानुमोदित और मैत्री के अनुकूल होने से सरकार ने अपनी सेना को तथा सरदारों को लौट आने के लिए आज्ञा दे दी। उसके अनुसार सरकारी सेना लौट आई। कर्नल कीटन ने इस समय मैदान ख़ाली देखकर तथा हमारी फ़ौज का डर न रहने के कारण कलकत्ता वालों की बात पर ध्यान न देकर रघुनाथराव के साथ हमारी सरकार के सरदार फतेसिंहराव गायकवाड़ पर चढ़ाई कर दी और उनसे पैसा तथा बहुतसा प्रदेश ले लिया। इतने ही में कलकत्ता के वकील कर्नल जानहापून कलकत्ता से हुज़ूर में आये। उन्होंने प्रगट किया "सम्पूर्ण हिन्दुस्थान और दक्षिण के सम्पूर्ण बन्दरों की देखभाल के लिए कलकत्ते की

नामा लेकर हम आये हैं, अतः हम जो सन्धि करेंगे वह बन्दरों पर रहने वाले सब अङ्गरेज़ों को मान्य होगी।" उस समय सरकार के मन्त्री ने कहा कि "सब झगड़े की जड़ बम्बई वाले हैं। कलकत्ता वालों के सूचना दे देने पर भी जब कर्नल कीटन ने झगड़ा शुरू कर दिया, तो तुम्हारी फिर मुख्तारी कहाँ रही, अतः पहले बम्बई वालों की ओर से किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को लाओ तब सन्धि हो सकेगी।" इसका उत्तर उक्त कर्नल ने इस प्रकार दिया कि "अङ्गरेज़ों का यह नियम है कि मुख्तार की बात सब मानते हैं, इसलिए बम्बई वालों की क्या मजाल है कि वे कलकत्ता वालों के ठहराव के विरुद्ध कुछ करें।" फिर उसने कम्पनी की मुहर लगा हुआ मुख्तारनामा दिखाया। तब सरकार और अङ्गरेज़ों की सन्धि हुई और उसके अनुसार उक्त कर्नल ने कलकत्ता की कौंसिल के हस्ताक्षर सहित कम्पनी की मुहर लगा हुआ सन्धिपत्र सरकार में दाखिल किया और सरकारी इक़रारनामा लिया। कर्नल जान हापून ने सन्धि की सूचना बम्बई वालों को दी और बम्बई वालों ने भी अपने शहर में सन्धि होने की डुंडी पिटवा कर कर्नल ज़ान हापून को लिख दिया कि हमने आपकी की हुई सन्धि को स्वीकार किया है तथा इक़रारनामे के अनुसार कर्नल हापून ने और बम्बई वालों ने कर्नल कीटन को लिख दिया कि तुम रघुनाथराव का साथ छोड़ दो; परन्तु कीटन दो महीने तक टालमटोल करते रहे और अन्त में सूरत चले गये और रघुनाथराव को अपने पास बुला लिया। सरकारी फ़ौज जब हमारे पास आ गई तब रघुनाथराव को सूरत से खुश्की के मार्ग से बम्बई भेज दिया। उस समय सरकार के सरदारों

को रघुनाथराव ने मार्ग में हानि पहुँचाई, अतः फिर सरकारी फ़ौज रघुनाथराव पर भेजी गई; परन्तु बम्बई वालों ने जहाज़ भेजकर उनको बम्बई बुला लिया। यह सब स्थिति सरकार ने कलकत्ते को लिखी, तब कलकत्ता वालों ने उत्तर दिया कि "हमने बम्बई वालों को लिख दिया है, अब वे कम्पनी की ओर से रघुनाथराव को आश्रय नहीं देंगे"। परन्तु, बम्बई वालों ने फिर भी कलकत्ता वालों का कहना नहीं माना और रघुनाथराव को अपने आश्रय में रखकर सरकारी राज्य में उत्पात मचाना शुरू किया। नवीन सन्धि का भी जब यह फल हुआ तो फिर सदा के सरलतापूर्ण व्यवहार को तो पूछता ही कौन है?

"कलकत्ता वालों ने लिखा था कि "अङ्गरेज़ किसी का राज्य नहीं चाहते और किसी की सहायता करना भी बादशाह तथा कम्पनी को स्वीकार नहीं है। कम्पनी के मुख्तार हम हैं।" उनके इस लिखने को प्रामाणिक समझकर और अङ्गरेज़ बादशाह न्यायी हैं, अतः उनके कर्मचारी भी न्यायी होंगे ऐसा जान कर बम्बई वालों ने जो दुर्व्यवहार और अन्याय किया था उसका न्याय करने का काम कलकत्ते के गवर्नर जनरल और कौंसिल को दिया गया; परन्तु उन्होंने कुछ नहीं किया। उन्होंने स्वार्थ को देखकर, बम्बई वालों के लिये हुए साष्टी आदि स्थान सरकार के सुपुर्द करने की आज्ञा बम्बई वालों को नहीं दी। ऐसी दशा में मुख्तारी और न्यायप्रियता कहाँ रही?

"कोकन प्रान्त में समुद्र के किनारे पर कुछ विद्रोहियों ने झगड़ा शुरू किया था। उन्हें दबाने के लिए सरकारी फ़ौज भेजी गई। तब विद्रोही लोग कुछ माल लेकर साष्टी

को भाग गये। वहाँ उन्हें आपके आदमियों ने स्थान दे दिया। कोकन की लाखों रुपये की मालियत विद्रोहियों के पास ही रह गई। विद्रोही लोग जहाज़ में बैठकर जब बम्बई जाने लगे तब राघोजी आँग्रे ने उन्हें क़ैद कर लिया। इस पर बम्बई के अङ्गरेज़ों ने आँग्रे को लिखा कि "तुमने बम्बई को आते हुए विद्रोहियों को क्यों क़ैद किया ? उन्हें हमारे पास भेज दो, नहीं तो हम तुम पर चढ़ाई करेंगे।" भला, सन्धि हो जाने के बाद ऐसी चाल चलना और विद्रोहियों को आश्रय देना किस राज-नियम के अनुसार है ?

"फ्रान्स के बादशाह ने स्वयम् अपने वकील को हमारे श्रीदरबार में भेजा था; परन्तु हमने उन्हें अपने यहाँ अङ्गरेज़ों की मैत्री का ध्यान रखकर नहीं रक्खा। यद्यपि हम रख सकते थे; क्योंकि कर्नल हापून द्वारा जो अङ्गरेज़ों से सन्धि हुई थी उसमें यह शर्त नहीं थी कि "फरासीसी वकील को हम न रख सकेंगे और उससे राज-नैतिक व्यवहार नहीं कर सकेंगे।" इस पर आप ध्यान दें।

"फतेसिंहराव गायकवाड़ सरकार के सरदार हैं। इनके चिखली आदि ताल्लुके अङ्गरेज़ों ने ले लिये हैं। इस सम्बन्ध में कर्नल अपटन से बातचीत की, तो उन्होंने कहा कि यदि फतेसिंहराव गायकवाड़ पत्र द्वारा हमें यह लिखें कि ताल्लुका आदि देने का अधिकार रावपन्त प्रधान को है, हमको नहीं, तो हम लिये हुए स्थान आपको लौटा देंगे।" हमने गायकवाड़ का पत्र भी मँगवा दिया है, तो भी हमें ताल्लुके नहीं सौंपे गये। क्या यह कार्य उचित है ?

"सरकार ने सन्धि के अनुसार सब शर्तें पालन की हैं; परन्तु बम्बई वालों की ओर से एक भी शर्त पूरी नहीं की

गई, प्रत्युत अङ्गरेज़ी सेना के साथ रघुनाथराव को लेकर बम्बई वाले कोंकन प्रान्त के सरकारी ज़िलों में आये और वहाँ से कम्पनी के मुहर किये हुए पत्र रघुनाथराव की ओर से सरकारी सरदारों और मन्त्रियों को भेजे, जिनमें लिखा था कि "रघुनाथराव को गादी पर बैठाने की सलाह कौन्सिल की, कलकत्ते के गवर्नर की और हमारी सिलेक्ट कमेटी की है।" यह पत्र सरकार में ज्यों के त्यों मौजूद हैं। आप इसकी जाँच करें कि ऐसा लिखने का क्या कारण है और इन्हें क्या अधिकार था ?

"सम्पूर्ण शर्तों को एक ओर रखकर रघुनाथराव को साथ में ले फ़ौज के साथ कारनेक आदि अङ्गरेज़ घाटियों पर चढ़कर पूना के पास तलेगाँव तक आये। सरकारी कर्मचारी और सरदार अपनी फ़ौज के साथ सामना करने को तैयार हुए। जहाँ न्याय है वहाँ जय होती ही है। यहाँ भी यही सर्वमान्य सिद्धान्त सत्य ठहरा। अङ्गरेज़ों ने ये समाचार आपको लिखे ही होंगे। उस समय कारनेक आदि अङ्गरेज़ों ने फिर सन्धि की और कम्पनी सरकार की ओर से युद्ध तथा सन्धि करने के अधिकार का अपने नाम का मुख्तारनामा बतलाया और कहा कि "कम्पनी की मुहर हमारे पास मौजूद है, हम जो करेंगे वह सबको मान्य होगा।" इस सन्धि के अनुसार साष्टी, जम्बूसर, गायकवाड़ के परगने, और भड़ोंच लौटाने की प्रतिज्ञा अङ्गरेज़ों ने की और रघुनाथराव का प्रदेश भी लौटाना स्वीकार किया। कर्नल हापून की मार्फ़त जो सन्धि हुई वह भी बम्बई वालों की ओर से अमल में नहीं आई, इसलिए वह सन्धि भी रद्द हो गई। फिर एक इक़रारनामा लिखा गया जिसपर मुहर

लगाई गई। इसके अनुसार यह ठहराव हुआ कि—'पहले की सन्धि के अनुसार दोनों पक्ष काम करें और साष्टी प्रभृति द्वीप, जम्बूसर आदि परगने और भड़ोंच का शासन हमारे अधीन कर दिया जाय।' इस शर्त के पूरे होने तक चार्ल्स स्टुअर्ट और फारमार नामक अङ्गरेज़ों को दर्नार ज़ामिन ये पूना दरबार में रक्खा और फारनेक आदि अङ्गरेज़ों को मार्ग में रक्षा के लिए सेना साथ देकर बम्बई पहुँचाया। रघुनाथराव अङ्गरेज़ों के यहाँ से निकल हमारे सरदारों के पास आये। इतना होने पर भी अङ्गरेज़ों ने शर्तों के अनुसार काम नहीं किया, किन्तु इसके विरुद्ध कलकत्ते के अङ्गरेज़ों से सैनिक सहायता माँगी। कलकत्ते वालों ने भी बम्बई वालों के लिखने पर लेस्लीन नामक सरदार को सेना के सहित रवाना किया। पहले से यह नियम चला आता है कि अङ्गरेज़ लोग समुद्री जल-मार्ग से आवागमन कर सकते हैं, स्थल-मार्ग से नहीं। अतः कलकत्ते वालों को सरकार की ओर से लिखा गया कि खुश्की के रास्ते से सेना भेजने का कारण क्या है? उन्होंने उत्तर दिया कि "बम्बई वालों ने सेना मँगाई है, इसलिए वहाँ के बन्दरों पर प्रबन्ध करने को भेजी गई है।" कर्नल लेस्लीन की मृत्यु रास्ते ही में हो गई, अतः कर्नल गाडर मुख्तार और सरदार होकर सेना सहित सूरत आये और वहाँ से सरकार को लिखा कि "किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को सन्धि करने के लिए भेज दीजिए, हम प्रतीक्षा कर रहे हैं अथवा स्थान नियत कीजिए जो हम स्वयम् भेंट करने को आ जायँ।" यह लिखना विश्वास-योग्य समझकर सरकार की ओर से प्रतिष्ठित पुरुष सूरत को रवाना किये गये। इतने में रघुनाथ-

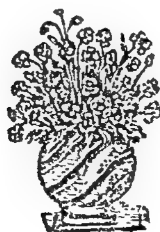
राव ने सरकारी सरदारों की फ़ौज में उपद्रव खड़ा कर दिया और आप सूरत चला गया। कर्नल गाडर ने भी अपनी निगाह बदल दी, वे सवाल कुछ और जवाब कुछ देने लगे। हमारे वकीलों को लौटा दिया। फिर कलकत्ते वालों का पत्र आया कि स्नेह (इसके आगे के शब्द नक़ल करने वाले ने छोड़ दिये हैं ऐसा मालूम होता है)।

"कर्नल गाडर सेना के सहित सूरत से रवाना होकर गुजरात के सरकारी ज़िलों में उपद्रव कर रहे हैं। मार्ग में और भी दूसरे स्थानों को हानि पहुँचाई है, इसलिए उनका साम्हना करने को सरकारी फ़ौज और सरदार भेजे गये हैं, युद्ध जारी है। बम्बई वालों ने भी कोकन प्रान्त में झगड़ा खड़ा कर दिया है। उनका बन्दोबस्त करने के लिए भी सरकारी सेना भेजी गई है। इस समय दुहरी लड़ाई हो रही है। सरकार की ओर से पहले कोई बात शर्तों के विरुद्ध नहीं की गई। बम्बई और कलकत्ता वालों के साथ हमने सन्धि के अनुसार ही व्यवहार किया; परन्तु उनका लिखना कुछ और, और करना कुछ और था। बम्बई वाले कहते हैं कि कलकत्ता वालों का करना हमें स्वीकार नहीं है। कलकत्ता वाले कहते हैं कि बम्बई वालों ने सन्धि करने में भूल की है, हम उसे मन्जूर नहीं कर सकते। दोनों एक दूसरे पर डालते हैं। एक दूसरे से सहमत तो नहीं दीखते हैं; परन्तु दोनों के काम करने की पद्धति भीतर से एक है। अब हमें क्या समझना चाहिए? राज्य में सबसे बड़ी बात वचन पर दृढ़ रहना है। यदि उसमें भिन्न भिन्न झगड़े खड़े हों और ठहरी हुई शर्तें न पाली जायँ तो फिर लाचारी है। आपके ध्यान में सब बातें आ जायँ; इसलिए सब

बातें साफ़ साफ़ लिखी गई हैं। आप जैसा उचित समझें वैसा प्रवन्ध करें।

"जब कलकत्ता वालों ने सेना भेजी तब हमें लिखा था की फरासीसी गड़बड़ मचा रहे हैं; उनके प्रबन्ध के लिए भेजी जाती है, अतः सेना जाने दी जाय।" तब यहाँ से लिखा गया कि "सरकारी खुश्की रास्ते से आने की हमारी आपकी शर्त नहीं है।" उन्होंने लिखा कि "अब हम सेना को लौटा नहीं सकते।" बम्बई वाले अपने को मुख्तार बताते थे और जब कारनेक ने सन्धि की, तब गाडर को लिख दिया था कि तुम लौट जाओ तथा सरकारी तौर पर भी यहाँ से लिखा गया था; परन्तु उन्होंने नहीं माना और लिखा कि 'हम बम्बई वालों के अधीन नहीं हैं'। उन पर सेना भेजने का विचार था; परन्तु स्नेह पर ध्यान देकर स्थगित कर दिया गया। कर्नल गाडर सेना सहित सूरत चले गये। इन उदाहरणों पर से बन्दरों में रहने वाले अङ्ग-रेज़ों की चालें आपके ध्यान में आ जावेंगी। बङ्गाल प्रान्त तीन करोड़ रुपयों की आमदनी का है और वह कलकत्ते वालों के अधीन है। वहाँ सरकारी फौज भेजकर लूट-मार आदि करने से पैसे की आमदनी उन्हें नहीं रहेगी और यह करना कोई बहुत कठिन भी नहीं है; पर अभी तक शर्तों पर ध्यान रखकर यह विचार हमने नहीं किया और भोंसले प्रभृति की सेना को बङ्गाल पर आक्रमण करने से मना करते रहे हैं। अङ्गरेज़ों ने जितनी बेअदबी की उसका बदला सर-कार से लिया गया। बन्दर वालों ने आपको जो कुछ भी लिखा है; परन्तु उनकी बातें बहुत सूक्ष्म रीति से आप ध्यान में लावें। भारतवर्ष में लूट, खण्डनी, परीक्षा करने

वाले, न्यायनिष्ठ, दृढ़-निश्चय होने के सम्बन्ध में चारों ओर आपकी ख्याति है, इसलिए दूरदर्शी होकर आप बम्बई और कलकत्ते वालों को स्वर्गीय रावपन्त प्रधान से जो क़रार हुए हैं उनके अनुसार चलने के लिए तथा अशिष्ट और छली व्यवहार न करने के लिए बाध्य करें। यदि बन्दर वाले आपकी आज्ञा में न हों और नौकरी के विरुद्ध काम करने की उनकी रीति हो, तो फिर आपका वश ही क्या है? परन्तु ऐसा होने पर आप हमें तुरन्त उत्तर दें जिसमें दूसरा प्रबन्ध किया जाय। राज्य देना ईश्वराधीन है और यह बात सब धर्मों में प्रसिद्ध है कि जहाँ न्याय और नियमितता है, वहीं ईश्वर है। इसके बाद जो घटना होगी वह सामने ही आवेगी, उत्तर दें। हम उत्तर की प्रतीक्षा में रहेंगे। यह पत्र विलायत के अङ्गरेज़ बादशाह को सरकार के नाम से दिया जाता है। अङ्गरेज़ों ने जगह जगह विश्वास और वचन देकर और फिर उन्हें भङ्ग कर कितनों ही के राज्य ले लिये हैं। नौ दस करोड़ रुपयों की आमदनी का देश अधीन कर लिया है, इसलिए न्याय-अन्याय की खूब छान-बीन करें।"



प्रकरण चौथा।

मराठे और अङ्गरेज़।

उत्तर रङ्ग।

वडगाँव की अपमानास्पद सन्धि को बम्बई वालों ने हृदय से स्वीकार नहीं किया और कलकत्ता वालों का भी यही हाल हुआ। अतः उन्होंने तुरन्त ही कर्नल गोडर्ड को पूना पर आक्रमण करने की आज्ञा दी और कह दिया कि यदि पुरन्दर की सन्धि को फिर से दुहराने की तथा फ्रेञ्चों को किसी भी प्रकार से सहायता न देने की शर्त कारभारी स्वीकार करें, तो नवीन सन्धि करने और यदि यह न हो सके, तो युद्ध करने का पूर्ण अधिकार तुम्हें दिया जाता है। परन्तु कारभारी भी बड़गांव की सन्धि रद्द करने के लिए तैयार नहीं थे, अतः कर्नल गोडर्ड बुन्देलखण्ड होकर पहले सूरत आया। वहां से खम्भात जाकर उसने गायकवाड़ से गुजरात का बँटवारा करने की सन्धि की। फिर अहमदाबाद पर चढ़ाई करने को गया। गायकवाड़ से की गई नवीन सन्धि के अनुसार अहमदाबाद पेशवा से छीन कर फतेसिंहराव गायकवाड़ को देना था, अतः अहमदाबाद पर घेरा डालकर और धावा करके गोडर्ड

ने उसे छीन लिया। इतने ही में उसे समाचार मिला कि सिन्धिया और होलकर चालीस हज़ार सेना के साथ मुझ पर चढ़े चले आते हैं तब वह बड़ोदा पर आक्रमण करने को निकला। गोडार्ड को आते देख सिन्धिया ने बड़गाँव की सन्धि के अनुसार जो दो अङ्गरेज़ ज़ामिन बना कर रक्खे थे उन्हें छोड़ दिया और अपना वकील साथ में देकर गोडर्ड के पास भेज दिया और यह बात चीत शुरू की कि "रघुनाथ-राव, ठहराव के अनुसार गादी का सब हक़ छोड़ देवें और उनके लड़के बाजीराव को पेशवा का दीवान नियत कर सब कारभार हमारी देखरेख में चलाना स्वीकार करें तो बड़गाँव की सन्धि का संशोधन करने का विचार हम कर सकते हैं।" परन्तु, गोडर्ड ने यह स्वीकार नहीं किया, अतः दोनों ओर से युद्ध करने का ही विचार ठहरा। उस समय बम्बई वालों की सम्मति थ कि कर्नल गोडार्ड, सिन्धिया और होलकर पर चढ़ाई न कर पहले बसई का प्रबन्ध पक्का करलें तो अच्छा हो; परन्तु कर्नल गोडर्ड ने उनकी सम्मति पर ध्यान न दिया तथा कर्नल हार्टले को बम्बई की सेना के साथ बसई भेजा और वर्षाऋतु आ जाने के कारण अपनी सेना का सब प्रबन्ध करके छावनी डाल कर रहने लगा। वर्षाऋतु के कारण अधिक हलचल होने की सम्भावना न देख सिन्धिया और होलकर भी अपने अपने स्थान को लौट गये। इसी समय समाचार आये कि हैदरअली ने साठ हज़ार सेना के साथ कर्नाटक पर चढ़ाई की है, अतः कर्नल गोडर्ड को कलकत्ता से आज्ञा मिली कि पूना की तरफ़ का काम बहुत शीघ्र पूरा करो। दिसम्बर में गोडर्ड ने बसई ले ली और उसी शीघ्रता से पूना पर चढ़ाई करने के लिए

१७८१ के फरवरी मास में वह बोरघाट आ पहुँचा। वहाँ उसे मालूम हुआ कि आगे बढ़ने में बड़ा धोखा है। इधर बम्बई वालों ने कल्याण को लौट आने और वर्षा ऋतु में बम्बई में सेना की छावनी रखने का आग्रह किया था; अतः उसने अपना मोर्चा फिराया और कल्याण का रास्ता पकड़ा; परन्तु रास्ते में मराठों की फ़ौज ने छापे मार मार कर उसे जर्जर कर दिया। इस काम में हरिपन्त और परशुराम भाऊ मुखिया थे। इस तरह पूना पर का यह सङ्कट टल गया। जिस समय गोडर्ड पूना की ओर चला आ रहा था उस समय यह देख कर कि मराठों की बड़ी भारी सेना होते भी गोडर्ड घाटियों तक आ पहुँचा है पूनावाले बड़े घबड़ाये और भाग भी गये; परन्तु अन्त में ऊपर लिखे अनुसार गोडर्ड को ही लौट जाना पड़ा। तारीख १६, २८ और २९ मार्च तथा फिर तारीख २० और २३ अप्रैल को दोनों ओर से भयंकर मारकाट हुई, जिस में अङ्गरेज़ों की भारी क्षति हुई और बम्बई से रसद आने का रास्ता भी भयपूर्ण हो गया; परन्तु इतने कष्ट सहकर अन्त में गोडर्ड पनवेल पहुँच ही गया।

इसी समय उत्तर-हिन्दुस्थान में अङ्गरेज़ों और सिन्धिया के बीच युद्ध छिड़ गया था। मार्च मास में सिन्धिया तथा कमेक और कर्नल मूर की सेना में मारकाट हुई। यद्यपि इस युद्ध में अङ्गरेज़ों को थोड़ी बहुत सफलता मिली तथापि अभी तक सिन्धिया हाथी पर छावनी डाले हुए पड़ा ही था; और इधर हैदरअली के सिर उठाने के कारण अङ्गरेज़ और मराठों का युद्ध धीरे धीरे शिथिल होने लगा था। हिन्दुस्थान भर के अङ्गरेज़ों से युद्ध करने के लिए निज़ामअली, हैदरअली तथा भोंसले आदि मराठों ने निश्चय किया था; परन्तु निज़ाम-

अली ने कुछ भी नहीं किया। भोंसले ने बङ्गाल पर चढ़ाई करने का बहाना कर अन्त में, अपनी सन्धि अलग कर ली। रह गये हैदरअली और मराठे, सो ये दोनों लड़ रहे थे और इन दोनों में से भी मराठों का झगड़ा बहुत कुछ मिटने पर आया था, क्योंकि पहले के युद्ध में अङ्गरेज़ों ने मराठों से हार, रघुनाथराव का पक्ष छोड़ कर, सन्धि कर ली थी; परन्तु उत्तर-हिन्दुस्थान को जाते समय रघुनाथराव ने सिन्धिया के सरदार हरिबाबाजी को मारकर उसका पड़ाव लूट लिया और फिर सूरत जाकर वह कर्नल गोडर्ड से मिल गया। अङ्गरेज़ों ने भी उसे ५०००) रुपये मासिक देना ठहरा कर अपने आश्रय में रख लिया। इसीलिए कर्नल गोडर्ड ने पूना के कारभारी की सन्धि की बात-चीत की उपेक्षा की और कहने लगे कि पहले साष्टीप्रान्त और रघुनाथराव को हमारे अधीन करो तब हम सन्धि करेंगे। इस प्रकार उत्तर मिलने पर फिर युद्ध प्रारम्भ हुआ और ऊपर कहे अनुसार किसी को भी उसमें जय नहीं मिली, किन्तु वह बढ़ता ही गया और उसमें शाखाएँ फूटने लगीं। इसी समय अकेले हैदरअली ने सिर उठाकर अङ्गरेज़ों को पराजित किया और आर्काट प्रान्त ले लिया। फिर पूना के कारभारी को यह सँदेशा भेजा कि "अब मद्रास के अङ्गरेज़ों का भय न रहने के कारण मैं बड़ी भारी सेना के साथ बम्बई के अङ्गरेज़ों से युद्ध करने के लिए तुम्हें सहायता देने को आने वाला हूँ।"

यह सब स्थिति ध्यान में लाकर मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के अङ्गरेज़ों ने विचार किया कि इस समय हैदर-अली को बलवान् होने देना उचित नहीं है और इसके लिए

यदि मराठों से जो युद्ध चल रहा है उसे बन्द करना पड़े और रघुनाथराव का पक्ष छोड़ना पड़े, तो भी कुछ हानि नहीं; अतः इन तीनों ने फिर ज़ोर-शोर से कारभारी से सन्धि करने की बात-चीत चलाई। नागपुर के भोंसले भी अङ्गरेज़ों से सन्धि कर ही चुके थे; अतएव इस सन्धि के लिए मध्यस्थी करने लगे; परन्तु अङ्गरेज़ लोगों को आज तक के अनुभव से यह बात अच्छी तरह विदित हो गई थी कि कारभारी से बात-चीत करने के लिए महादाजी सिन्धिया के समान प्रभावशाली और वज़नदार मनुष्य दूसरा नहीं है; अतः उन्होंने अन्य प्रयत्नों को छोड़ कर सिन्धिया से अदब-पूर्वक बात-चीत करना प्रारम्भ किया और इसलिए उसके प्रान्तों में तथा मालवा प्रान्त में उन्होंने जो धूमधाम मचा रक्खी थी उसे बन्द करना ठीक समझा। अङ्गरेज़ों ने कर्नल मूर को आज्ञा दी कि तुम युद्ध बन्द करो जिससे कि सिन्धिया को सन्धि करने का अवसर मिले, अतः वे यमुना उतर पार चले गये। सन १७८१ के दिसम्बर मास में अङ्गरेज़ों की ओर से मिस्टर डेविड अण्डरसन और महादाजी सिन्धिया के द्वारा सन्धि का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ और अन्त में तारीख़ १७ मई सन १७८२ को सालबाई गाँव में अङ्गरेज़ और पेशवा की सन्धि होगई। इसमें ये ठहराव हुए कि पुरन्दर की सन्धि के पश्चात् अङ्गरेज़ों ने मराठों से जो स्थान लिये हों वे उन्हें वापिस दिये जायँ, और हैदरअली ने अङ्गरेज़ों के पास से जो स्थान ले लिये हों वे अङ्गरेज़ों को लौटा दिये जायँ और मराठों के राज्य में अङ्गरेज़ों और पोर्तुगीज़ों के सिवा दूसरे यूरोपियन राष्ट्रों के मनुष्य न रहने पावें। सिन्धिया को सन्धि कराने में तथा सन्धि की शर्तें पालन

करने के बदले की तौर पर भड़ोंच दिया जाय और अङ्गरेज़ रघुनाथराव का पक्ष सदा के लिए छोड़ दें तथा रघुनाथराव २५०००) रुपये मासिक लेकर गोदावरी के किनारे जहाँ उनकी इच्छा हो, वहाँ रहें। इस सन्धि पर तारीख़ २४ फरवरी सन् १७८३ तक पेशवा के हस्ताक्षर नहीं हुए थे; परन्तु तारीख़ ७ दिसम्बर १७८२ के दिन हैदरअली के मरने के समाचार आने के कारण मालूम होता है कि इससे अधिक समय लगाना उन्होंने उचित नहीं समझा होगा। तारीख़ १० फरवरी सन् १७८३ के दिन पूना में सवाई-माधवराव का विवाह बहुत धूमधाम से हुआ। इस समय श्रीमन्त महाराज छत्रपति आदि महाराष्ट्र प्रान्त के मुख्य मुख्य पुरुष पूना आये थे। सालबाई की सन्धि हो जाने के कारण इस आनन्दोत्सव में बहुत विशेषता उत्पन्न हो गई थी।

सालबाई की सन्धि हो जाने पर भी रघुनाथराव, कारभारी के अधीन रहना स्वीकार नहीं करते थे; परन्तु सन्धि हो जाने के कारण उन्हें अपने राज्य में रहने देना अथवा उन्हें मासिक वृत्ति देते रहना शक्य नहीं था, अतः अपने राजनैतिक कार्यों के लिए अतिशय उपयोगी और स्नेही रघुनाथराव से अङ्गरेज़ों को स्पष्ट कह देना पड़ा कि अब तुम सूरत छोड़कर अन्यत्र चले जाओ। यद्यपि सिन्धिया ने रघुनाथराव को लिखा था कि यदि तुम पूना दरबार के राज्य में नहीं रहना चाहते हो, तो मेरे राज्य में रहो, मैं तुम्हें आश्रय देने को तैयार हूँ; परन्तु रघुनाथराव ने यह भी नहीं माना और गोदावरी के तट पर स्नान-सन्ध्या में समय व्यतीत करते हुए रहना स्वीकार किया। पश्चात् वे परशुराम भाऊ, हरिपन्त फड़के तथा तुकोजी होलकर से अलग अलग

लिखित आश्वासन और शपथ लेकर तापी नदी के किनारे होते हुए खानदेश आये और कोपरगाँव में रहने लगे। परन्तु इतनी चिन्ता और अपमानपूर्ण वृत्ति का उपभोग करने के लिए वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। कोपरगाँव में रहने के बाद नवम्बर में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और तारीख़ ११ दिसम्बर सन् १७८३ के दिन उनकी मृत्यु हुई। इस समय उनके अमृतराव नामक दत्तक पुत्र तथा बाजीराव नामक औरस पुत्र जिसका जन्म धार में सन् १७७५ में हुआ था मौजूद थे और तीसरा पुत्र चिमाजी आपा गर्भ में था।

उनकी मृत्यु के बाद दो वर्ष कारभारियों के लिए शान्ति से व्यतीत हुए, क्योंकि इन वर्षों में अङ्गरेज़ों को अवकाश न होने के कारण इनमें और अङ्गरेज़ों में कोई झगड़ा नहीं हुआ। अङ्गरेज़ों को अवकाश न मिलने का कारण यह था कि हैदरअली का देहान्त हो गया था और उसके पुत्र टीपू ने अपने पिता का अनुकरण कर अङ्गरेज़ों से युद्ध चालू रक्खा था। पहले तो अङ्गरेज़ों ने उसके बहुत से स्थान ले लिये थे; परन्तु तुरन्त ही उसने एक लाख सेना तथा तोपख़ाने के साथ उन पर चढ़ाई की और जनवरी सन् १७८४ तक समुद्र के किनारे तक का प्रदेश जो अङ्गरेज़ों ने जीत लिया था अपने अधीन कर लिया।

सालबाई की सन्धि के तीन वर्ष बाद अङ्गरेज़ों का विचार पेशवा के दरबार में सदा के लिए अपना वकील रखने का हुआ। अङ्गरेज़ों को यह विश्वास था कि यह काम बिना सिन्धिया के द्वारे से होना कठिन है, अतः उन्होंने पहले इस विषय में सिन्धिया से ही बातचीत करना उचित समझा और इसके लिए पेशवा दरबार के भावी वकील

मिस्टर चार्ल्स मेलेट तारीख़ १५ मार्च सन् १६८५ को सूरत से रवाना हो कर उज्जैन और ग्वालियर होते हुए आगरा गये और वहाँ से मथुरा जाकर सिन्धिया से मिले। उस समय यहाँ पर मुग़ल बादशाह शाहआलम भी ठहरे हुए थे। मेलेट ने उनसे भी भेट की; परन्तु पोशाक़ और नज़राना देने लेने के सिवा मुग़ल बादशाह से मेलेट का कोई काम नहीं था, क्योंकि इस समय मुग़ल बादशाह की सब सत्ता सिन्धिया के हाथों में आ गई थी। मेलेट साहब की और सिन्धिया की इस मुलाक़ात से पूना में अङ्गरेज़ों का वकील रखने का काम पूरा नहीं हुआ, क्योंकि सिन्धिया इसके विरुद्ध थे। सिन्धिया के दरबार में कलकत्ता वालों का वकील रहता ही था, अतः सिन्धिया नहीं चाहते थे कि अङ्गरेज़ों का वकील पूना में रहे और अङ्गरेज़ों से जो व्यवहार चल रहा है वह दुमुंही हो जाय। परन्तु, बम्बई के अङ्गरेज़ों को पूना में वकील रखना इष्ट था, क्योंकि उनका काम पूना से था और जिसके द्वारा काम हो वह रहे पूना से सैकड़ों मील की दूर पर, यह वे कब पसन्द कर सकते थे? सम्भव है कि पेशवा को भी यह बात प्रिय न रही हो कि अङ्गरेज़ों का वकील पूना में न रहकर सिन्धिया के दरबार में रहे। इधर सिन्धिया ने दिल्ली के बादशाह से इसी समय पेशवा के नाम पर वकील उल्मुतलक़ की सनद लेली थी, अतः इस दुतन्त्री कारबार में और भी अधिक उलझनें पैदा हो गई थीं। क्योंकि सिन्धिया पूना दरबार में अङ्गरेज़ वकील रखने के विरोधी थे और उन्होंने बादशाह से जो सनदें प्राप्त की थीं उसके कारण बङ्गाल में जो बादशाही प्रदेश अङ्गरेज़ों के अधीन था उसकी चौथाई वसूल करने का अपना हक़ सिन्धिया बत-

लाने लगे थे; अतः अङ्गरेज़ों का महत्व भी पेशवा की अपेक्षा सिन्धिया से ही अधिक था और उनके दरबार में कलकत्ते वालों का वकील रहता ही था। इन कारणों से कलकत्ता वाले पूना में वकील रखने की बम्बई वालों की सूचना को व्यवहार में लाने के लिए तैयार न थे। मैलेट से मिलकर महादाजी ने इधर उधर की बातचीत करके उसे रास्ता लगाया और कहा कि "इस सम्बन्ध में मुझे पूना के कारभारी से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि मुझे यह मालूम नहीं है कि अङ्गरेज़ों के वकील रखने की योजना उन्हें पसन्द है या नहीं"। इतना कहकर सिन्धिया ने उन्हें रवाना किया। मैलेट साहब आगरा होकर कानपुर गये। कई मास बाद सिन्धिया की स्वीकृति मिलने पर गवर्नर जनरल की ओर से मैलेट साहिब को अङ्गरेज़ वकील का अधिकार पत्र दिया गया।

सालबाई की सन्धि के बाद कुछ वर्षों तक मराठों और अङ्गरेज़ों में खूब हेल-मेल रहा। सन् १७८६ ई० में पेशवा ने टीपू पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई में उन्हें निज़ाम, भोंसले वग़ैरह की सहायता थी। अङ्गरेज़ों को भी इस चढ़ाई में शामिल होने के लिए नाना० ने बहुत प्रयत्न किये थे। परन्तु अङ्गरेज़ों ने कहा कि टीपू से हमारी सन्धि हाल ही में हुई है; अतः उसे तोड़कर अपनी बदनामी करवाने को हम तैयार नहीं हैं। अङ्गरेज़ों ने उस समय केवल अपनी पाँच पलटनें निज़ाम और पेशवा की सीमा पर उनकी कुमक के बहाने भेजना स्वीकार किया था। परन्तु पेशवा ने यह सहायता लेना स्वीकार नहीं किया और टीपू को यह प्रगट करने के लिए कि अङ्गरेज़ों को तथा हमारा वैर है; अतः अङ्गरेज़ों

से सहायता की आशा करना व्यर्थ है, नानाफड़नवीस पूना दरबार के अङ्गरेज़ वकील सर चार्ल्स मेलेट को अपनी छावनी में जो कि वदामी में थी लाये और अपनी सेना के साथ उन्हें भी रक्खा। ता० २० मई को मराठी फ़ौज ने वदामी क़िले पर धावा किया और उसे टीपू के सरदार के हाथ से छीन लिया। निज़ाम वदामी लेने के पहले ही लौट गये थे और फिर नाना०, परशुरामभाऊ तथा भोंसले भी लौट गये। केवल हरिपन्त फड़के ने ७५ हज़ार सेना सहित युद्ध का काम चालू रक्खा। होलकर आदि सरदार ४० हज़ार सेना के साथ सावनूर-हुवली की ओर थे। इस लड़ाई में तलवार बहादुर टीपू ने मराठों को अपना सैनिक कौशल बहुत दिखलाया। उसने अनेक छापे डालकर मराठों को बहुत हानि पहुँचाई। उसके एक छापे में तो होलकर की सेना के साथ जो पण्ढारी लोग थे उन्होंने यह समझ कर कि लूटने का यह बहुत बढ़िया अवसर है, स्वयम् अपनी ही फ़ौज को—मराठी फ़ौज को—लूटा। इसके सिवा सन्धि करने का होलकर को विश्वास दिलाकर उसने कई बार फँसाया और अनेक स्थान ले लिये। अन्त में, १७८७ के अप्रैल मास में दोनों ओर से सन्धि होकर यह ठहरा कि टीपू मराठों को ४८ लाख रुपये, कुछ राज्य और क़िले देवे। इस युद्ध में मराठों का सवा करोड़ रुपया ख़र्च हुआ था। इस दृष्टि से मराठों को हानि ही उठानी पड़ी। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि टीपू का पल्ला ज़बरदस्त होने पर भी उसने सन्धि क्यों की? इसका उत्तर यही है कि उसे यह पक्के समाचार मिले थे कि मुझ पर चढ़ाई करने के लिए अङ्गरेज़ तैयारी कर रहे हैं।

इस समय के दो ही वर्ष बाद मराठे और निज़ाम ने मिलकर टीपू पर फिर चढ़ाई की। इस समय उन्हें अङ्गरेज़ों की प्रत्यक्ष सहायता थी। किम्बहुना, यह भी कहा जा सकता है कि यह युद्ध कराने में मुखिया भी वे ही थे। अङ्गरेज़ वकील का यह आग्रह था कि स्वयम् पेशवा युद्धक्षेत्र में जावें; परन्तु अन्त में, परशुरामभाऊ को ही भेजना निश्चित हुआ और यह ठहरा कि एक दूसरे की सहायता से जो प्रदेश अधिकृत होगा उसे हम तीनों—मराठा, अङ्गरेज़ और निज़ाम बराबर बराबर समानता से बाँट लेंगे। इस त्रिपुटी में से मराठों को फोड़ने का यत्न टीपू ने किया था; परन्तु वह सिद्ध न हो सका। नानाफड़नवीस ने मीठे बोल बोलकर टीपू से गत सन्धि के अनुसार जितनी मिल सकी उतनी खण्डणी वसूल की। सन् १७९० के मई-जून मास में बम्बई से अङ्गरेज़ों की फ़ौज जयगढ़ की खाड़ी में से होकर सङ्गमेश्वर घाट से अम्बाघाट के ऊपर चढ़कर तासगाँव आई। कप्तान लिटिल उस समय अढ़ाई हज़ार सेना का प्रधान अधिकारी था। इसके साथ परशुरामभाऊ आगस्त मास में लड़ाई करने को निकले। मलप्रभा नदी उतर जाने पर पहले ही धारवाड़ पर घेरा डाला गया। सम्बल भी सरकार भेजे गये। धारवाड़ के युद्ध में अङ्गरेज़ों ने खूब वीरता प्रगट की और तोपों की मार अच्छी रखकर मराठों ने धन्यवाद प्राप्त किया। किले में लड़नेवाले, टीपू के सरदार, बद्रीउज़्ज़मान ने बड़े धैर्य्य का काम किया; पर परिणाम कुछ नहीं निकला। तारीख ५ अप्रैल सन् १७९१ के दिन सात मास तक युद्ध करने के पश्चात् उसे किला छोड़ना पड़ा। धारवाड़ ले लेने के पश्चात् मराठा और अङ्गरेज़ श्रीरङ्गपट्टन की ओर

रवाना हुए। मई मास में हरिपन्तफड़के सेना के साथ आ रहे थे। उनकी और भाऊ की सेना मिल गई। लार्डकार्नवालिस निज़ाम की सेना के साथ तीसरी ही ओर से आ रहे थे। इस प्रकार सबों ने मिलकर चारों ओर से टीपू को घेर लिया और उसे हानि पहुँचाई। अन्त में, टीपू को सन्धि करके श्रीरङ्गपट्टण का घेरा उठाना पड़ा। टीपू ने ३० करोड़ रुपये और आधा राज्य देना स्वीकार किया। इसके अनुसार प्रत्येक के हिस्से में चालीस चालीस लाख रुपयों की आमदनी का प्रदेश आया। मराठों ने वर्धा तथा कृष्णा नदियों के बीच का प्रान्त तथा सोंडूर आदि स्थान लिये, अङ्गरेज़ों ने डिण्डिगल, कुर्ग, मालावार आदि स्थान और गुत्ती, कड़ापा, कोपल, आदि कृष्णा तथा तुङ्गभद्रा के बीच का प्रान्त निज़ाम को दिया गया। अङ्गरेज और मराठों को यह चढ़ाई सहकारिता-पूर्वक हुई थी। इसमें भी थोड़ा बहुत मनमुटाव हुआ; परन्तु अन्त में किसी तरफ का बिगाड़ न होकर दोनों ने काम पूरा किया। लार्डकार्नवालिस ने परशुराम भाऊ को जाते समय १७ तोपें नज़र की। परशुरामभाऊ की सेना को आते समय मार्ग में बहुत कष्ट उठाने पड़े और अङ्गरेज़ों की सेना जहाज़ों पर बैठकर बम्बई को चली गई।

टीपू पर तीसरा आक्रमण करने के समय फिर इस सहकारिता का योग नहीं आया। इसी बीच में सवाई माधवराव की भी मृत्यु हो गई थी और बाजीराव गादी पर बैठा था, पर वह दौलतराव सिन्धिया के पंजे में पूरी तरह से था। सन् १७९८ में निज़ामअली ने अङ्गरेजों से नवीन सन्धि की जिसके अनुसार निज़ाम ने अपनी कवायदी सेना को तोड़कर अङ्गरेज़ों की छः हज़ार सेना और तोपख़ाना

अपने यहाँ रखना और उसके ख़र्च के लिए २४ लाख रुपये देना स्वीकार किया। निज़ाम चौथाई तथा सरदेशमुखी का कर अब तक मराठों को देते थे। उसे न देने के लिए ही अङ्गरेज़ों से यह मैत्री की गई थी, क्योंकि निज़ाम जानता था कि इस कार्य में अङ्गरेज़ों के सिवा दूसरे से यह काम नहीं हो सकता। अङ्गरेज़ों का काम भी मुफ़्त में बन गया, क्योंकि निज़ाम की इस सन्धि से सेना का ख़र्च निज़ाम के सिर था और फ़ौज अङ्गरेज़ों के अधीन थी तथा निज़ाम, अङ्गरेज़ों के शत्रु मराठों के आश्रय से सदा के लिए निकल जाने वाला था। इस तरह अङ्गरेज़ों का चारोंओर से लाभ ही था। इन्हीं शर्तों पर अङ्गरेज़ों ने पेशवा से भी सन्धि करने का निश्चय किया था; परन्तु दौलतराव सिन्धिया और नाना० ने इस प्रकार की सन्धि न करने की सम्मति दी, अतः वह न हो सकी; परन्तु बाजीराव ने टीपू के विरुद्ध युद्ध करने में सहायता देने का वचन अङ्गरेज़ों को दिया और पहले के अनुसार परशुराम-भाऊ को सेना के साथ अङ्गरेज़ों के सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया। साथ में रास्ते, विञ्चूरकर आदि सरदारों को भी भेजने का नाना० ने विचार किया; परन्तु दौलतराव सिन्धिया ने इस विषय में यह आग्रह किया कि टीपू के साथ युद्ध करने में मराठों को प्रत्यक्ष में शामिल होना उचित नहीं है। कहा जाता है कि टीपू ने सिन्धिया द्वारा पेशवा को तेरह लाख रुपये दिये थे। यह सच है या झूठ यह तो नहीं कह सकते; पर इतना अवश्य हुआ कि बिलकुल मौके पर बाजीराव पेशवा ने अङ्गरेज़ों को सहायतार्थ सेना भेजना रोक दिया। इससे नाना० को भी बहुत आश्चर्य हुआ। सच है, अङ्गरेज़ों को अपने दल पर

श्रीरङ्गपट्टन पर चढ़ाई करनी पड़ी। टीपू से मित्रता कर निज़ाम पर चढ़ाई करने का दौलतराव सिन्धिया और बाजीराव पेशवा का विचार था; परन्तु अङ्गरेज़ों के साथ की गई श्रीरङ्गपट्टन की लड़ाई में उसे असफलता हुई और उसकी मृत्यु भी होगई; अतः बाजीराव का विचार जहाँ का तहाँ रह गया। टीपू की मृत्यु के समाचार सुनकर बाजीराव ने प्रगट किया और तुरन्त ही मुँह फेर कर अङ्गरेज़ों के कान में यह भर दिया कि आपके सहायतार्थ सेना न भेजने देने के कारण नाना० ही थे। टीपू की मृत्यु के पश्चात् जब मैसूर के राज्य का बटवारा करने का समय आया, तो अङ्गरेज़ों ने थोड़ा हिस्सा मराठों को देने के लिए भी निकाला; परन्तु उसके लिए यह शर्त डाली कि निज़ाम के समान हमारी सेना अपने आश्रय में रखने की जो सन्धि पहले नहीं हो सकी थी वह अब मान्य की जाय; परन्तु नाना० अच्छी तरह जानते थे कि यह शर्त बहुत हानिकारक और घातक है; अतः इसे अस्वीकार करने में बाजीराव को नाना० की सहायता मिली। तब मराठों को देने के लिए निकाला हुआ प्रान्त भी अङ्गरेज़ और निज़ाम ने आपस में बाँट लिया। फिर निज़ाम और अङ्गरेज़ों में एक सन्धि और हुई जिसके अनुसार सन् १७०२ और सन् १७६६ में निज़ाम के बाँटे में जो टीपू का प्रदेश आया था वह अङ्गरेज़ों को मिला और उसके बदले में अङ्गरेज़ों की आठ हज़ार की सेना आत्मरक्षणार्थ निज़ाम को अपने गले में बाँधनी पड़ी। सारांश यह है कि मराठों और अङ्गरेज़ों की सच्ची सहकारिता से एक ही चढ़ाई हुई और वह टीपू पर सन् १७६१ में की गई थी।

नाना० और बाजीराव को फिर शीघ्रही अङ्गरेज़ों से सहायता लेने की आवश्यकता हुई; परन्तु यह सहायता नहीं थी, यह तो अपने ही हाथों से दूसरी बार अपनी गृह-कलह में अङ्गरेज़ों को घुसाना था। पहली बार और इस बार में अन्तर दिखाई देता था कि पहले अपयश रघुनाथराव ने अपने सिर पर लिया था और उस समय सब लोगों ने इसके लिए उन्हें नाम भी रक्खा था; परन्तु फिर समय ही ऐसा आया कि रघुनाथराव के स्वयम् प्रतिपक्षी और राजनीतिज्ञ नाना० को यह बात करनी पड़ी। नाना० और महादाजी सिन्धिया में यद्यपि परस्पर स्पर्द्धा थी, तो भी दोनों ही अपने अपने ढङ्ग से राज्य के स्तम्भ थे। महादाजी की मृत्यु से नाना० का दाहिना अर्थात् अस्त्र धारण करने वाला हाथ ही टूट गया था और उत्तर हिन्दुस्थान में नाना० की कार्य-पद्धति संकुचित होते होते दिल्ली से मराठों के पाँव उखड़ने लगे थे; परन्तु महादाजी की मृत्यु के दूसरे ही वर्ष खर्डा की लड़ाई जीत कर नाना० ने जगत् को यह दिखला दिया था कि मराठों का तेज, वह चाहे दक्षिण तक ही क्यों न हो, पर अभी तक क़ायम है। खर्डा की लड़ाई ने नाना० के वैभव-मन्दिर पर मानो कलश चढ़ा दिया; परन्तु इसके दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की अपमृत्यु होजाने से और नाना० के शत्रु बाजीराव के गद्दीपर बैठने का प्रसङ्ग आने से सब उलट-पुलट होगया। बाजीराव से नाना० को दो प्रकार का भय था। एक तो यह कि शायद यह अपने पिता का बदला लेने के लिए कहीं दे घात करे और दूसरा, जो कि पहले से भी अधिक था वह था कि ऐसे बुद्धिहीन पुरुष के गद्दी पर बैठने से कहीं न कहीं उसको पिछड़ना हुए

बिना न रहेगी। इन विचारों के कारण नाना० ने बहुत शीघ्रता से सब बड़े बड़े सरदारों को पूना बुलाया और उन्हें यह सब समझाया कि बाजीराव के गादी पर बैठने से अङ्गरेज़ों का हाथ किस प्रकार दरबार के राजकाज में घुसेगा। परशुराम भाऊ और पटवर्धन तो नाना० के अनुकूल ही थे; किन्तु बाहर के बड़े बड़े सरदारों में से होलकर ने भी नाना० की पद्धति पसन्द की। यद्यपि सिन्धिया के कारभारियों और नाना० में मतभेद था, तो भी उन्होंने यह निश्चय किया कि हमारे स्वामी दौलतराव सिन्धिया के अल्पवयस्क होने के कारण होलकर के समान वयोवृद्ध मराठे नीतिज्ञ जो करेंगे वह सिन्धिया को भी मान्य होगा। इस प्रकार सबने मिलकर यह निश्चय किया कि सवाई माधवराव की विधवा स्त्री की गोद में कोई दत्तक देकर गादी चलाई जाय और बाजीराव को क़ैद में ही रक्खा जाय। जब ये समाचार बाजीराव को मालूम हुए तब उसने सिन्धिया के कारभारी बालाजी ताँत्या को वश कर नाना० के निश्चय को धूल में मिलाने का प्रयत्न किया। विकल्प शुरू होते पर अनेक प्रकार के कारण खड़े होने लगे। बहुतों को यह बात विचारणीय दीखने लगी कि बालाजी विश्वनाथ का वंश मौजूद होते हुए भी दूसरे घराने का लड़का गोद में क्यों लिया जाय? इधर बाजीराव ने सिन्धिया को चार लाख का प्रान्त और गादी पर बैठाने में जो ख़र्च पड़े वह सब देने का लोभ दिखाया; अतः इस प्रश्न को और भी अधिक महत्व प्राप्त हो गया।

नाना० को जब यह सब समाचार विदित हुए तो उन्होंने परशुरामभाऊ को तुरन्त पूना बुलाया और सलाह कर यह निश्चय किया कि सिन्धिया अपनी सेना के बल जैसे बनेगा

वैसे बाजीराव को गद्दी पर बैठावेंहीगा; अतः यहां काम यदि हम कर डालें तो सिन्धिया भी एक ओर रह जायगा और सम्भव है कि बाजीराव भी उपकार के भार से दबकर अपने हाथ में आ जाय। इस निश्चय के अनुसार परशुराम-भाऊ ने शिवनेरी जाकर बाजीराव को बन्धन-मुक्त किया और परशुराम ने जब शपथपूर्वक यह कहा कि यह कपट नहीं है तब बाजीराव अपने छोटे भाई चिमाजी आप्पा के साथ पूना आकर नाना से मिला। ऊपरी ढङ्ग से दोनों के दिल की सफ़ाई हो गई और नाना० को बाजीराव ने लिख दिया कि "जो बातें हो चुकी हैं उन्हें सब भूल जावें। मैं राज-काज तुम्हारे ही हाथ में रक्खूँगा और तुम्हारी सलाह से ही सब काम करूँगा।" बाजीराव गद्दी पर बैठाये गये; परन्तु यह समाचार सुनकर बालोबा तात्या (सिन्धिया के कारभारी) को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसकी सलाह से दौलतराव सिन्धिया अपना गोदावरी के तट पर की सेना लेकर पूना पहुँच गया। सिन्धिया का सैन्य-समुदाय देख कर नाना० मन में डरे कि इसके आगे अपनी कुछ नहीं चलेगी। परशुराम भाऊ ने नाना० को बहुत धीरज बँधाया और समझाया कि आवश्यकता पड़ने पर हम लोग सिन्धिया से युद्ध कर सकेंगे। उसकी क्या मजाल जो हमसे लड़े! परन्तु बालोबा तात्या के भय और बाजीराव पेशवा के इस अविश्वास से कि न मालूम किस समय यह क्या कर डाले, नाना० ने कारबार छोड़ कर पूना से चले जाने का ही विचार किया। बाजीराव के विश्वासघात के कारण सिन्धिया इस से अप्रसन्न था ही और इस विश्वासघात के प्रायश्चित्त में उसे गद्दी से उतारना चाहता था। इस षड्-यन्त्र में यह

परशुराम भाऊ को शामिल करने का प्रयत्न करने लगा। इधर नाना० भाऊ को फँसाकर पूना से चले गये; अतः भाऊ की स्थिति निःसहाय सी हो गई। इसलिए अकेले सिन्धिया से शत्रुता करने की अपेक्षा उनके षड्-यन्त्र में शामिल हो जाना ही उन्होंने उचित समझा। बाजीराव को गादी से च्युत कर चिमाजी आप्पा को सवाई माधवराव की विधवा स्त्री की गोदी में बिठलाकर गादी पर बैठाने के लिए यह षड्-यन्त्र रचा गया था। इस नये पेशवा का कारभारी परशुराम भाऊ को नियत करना निश्चित हुआ था। परशुरामभाऊ ने नाना० से बिना पूछे इस षड्-यन्त्र में शामिल होने की स्वीकृति नहीं दी; परन्तु अन्त में नाना०, परशुराम भाऊ और बालोबा का एक विचार हो जाने पर बाजीराव के क़ैद होने का फिर मौक़ा आया।

नानाफड़नवीस पहले पूना से पुरन्दर गये और फिर वहाँ से वाई जाकर वहाँ रहने लगे। वहाँ उन्होंने यह विचार कर कि सतारा के महाराज को बन्धन-मुक्त कर राजकाज चलाने से मराठा सरदारों के एकत्र होने और सत्ता के एकमुखी होने की सम्भावना होगी, इसके लिए प्रयत्न किया; परन्तु वह सफल न हो सका। इधर चिमाजी आप्पा का दत्तविधान हो गया था; अतः इन नये पेशवा के लिए वस्त्र लेने को नाना० स्वयम् सतारा गये और वहाँ से पेशवाई के वस्त्र प्राप्त किये। पहले यहाँ यह निश्चय हुआ कि नये पेशवा के कारभारी का काम परशुरामभाऊ करें; परन्तु फिर यह विचार उत्पन्न हुआ कि कारभारी नाना० ही रहें और सेनापति का काम भाऊ करें। अतः इस विचार के अनुसार नाना० से पूना आने के लिए बातचीत की गई; परन्तु बाजीराव के कहने से नाना० को

भी क़ैद में रखने का सिन्धिया का विचार है ऐसी ख़बर सुनते ही नाना० पूना न आकर पहाड़ की ओर चले गये और रायगढ़ से लड़ने का उन्होंने प्रयत्न किया। इस प्रकार आकस्मिक रीति से बाजीराव और नाना० पर, समदुःखी होने से एक विचार करने का अवसर आ पड़ा और बालोबा कुञ्जर की मध्यस्थता में इन दोनों का पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। तुकोजी होल्कर की सेना की सहायता नाना० को सिंधिया के विरुद्ध मिल सकती थी। इसके सिवा नाना० ने बालोबा तात्या (सिन्धिया का कारबारी) के प्रतिस्पर्धी रायाजी पाटिल के द्वारा सिन्धिया को दश लाख रुपये की आमदनी का प्रान्त, अहमदनगर का क़िला, परशुराम भाऊ की जागीर और घाटगे की सुन्दरी कन्या देना क़बूल किया। नानाजी फाकड़े इसी दृष्टि से सिन्धिया की सेना भर्ती करने का काम कर रहा था; परन्तु बाजीराव के कुछ कार्यों से यह षड्यन्त्र प्रगट हो गया। अतः बालोबा तात्या ने बाजीराव को उत्तर भारत की ओर रवाना किया; परन्तु बाजीराव ने आगे सर्जेराव घाटगे को मिला लिया और उसे सिन्धिया की दीवानगिरी तथा सिन्धिया को २ करोड़ रुपये देना स्वीकार कर पूना ही में मुकाम करवाया। इधर नाना० ने रघुजी भोंसले को अपने पक्ष में मिला लिया और नाना० सेना सहित पूना आये तथा बाजीराव को नाशिक लाकर ४ दिसम्बर सन् १७९६ में फिर गद्दी पर बैठाया और अपने हाथ में सब कारबार लेकर शास्त्रियों के द्वारा चिमाजी आप्पा का दत्तक विधान शास्त्र-विरुद्ध ठहरा दिया।

इतना कार्य पूरा होने न होने पाया कि उधर। तुकोजीराव होल्कर की मृत्यु हो गई और नाना० ने मिश्रित ;

को जो वचन दिये थे उन्हें बाजीराव ने पूरा करना स्वीकार नहीं किया; अतः निज़ाम भी नाराज़ हो गये तथा बाजीराव ने यह विचार किया कि बन जाय तो सिन्धिया और नाना को एक ओर रख अपनी मनमानी करूँ; परन्तु उसके इस विचार के अनुसार सिर्फ़ नाना० ही के विरुद्ध षड्-यन्त्रों ने अधिक ज़ोर पकड़ा। तारीख ३१ दिसम्बर के दिन नाना सिन्धिया से मिलने गये। उसी समय सिंधिया के सेनापति मायकेल फिलोज़ ने अपनी सेना के पड़ाव में ही नाना को क़ैद कर लिया और सर्जेराव घाटगे ने अपने नौकरों को भेजकर शहर में नाना० का वाड़ा और उनके पक्ष के लोगों को लुटवाया। इसके बाद पूना में कितने ही दिनों तक धर-पकड़ और खून-ख़राबी के सिवा और कुछ दीखता ही न था। यदि किसी को बाहर निकलना होता तो कई लोगों के साथ हाथ में ढाल-तलवार लेकर निकलना पड़ता था। जब नाना० क़ैद कर अहमदनगर के क़िले में भेज दिये गये तब बाजीराव, सिन्धिया का प्रभाव नष्ट करने के उद्योग में लगे। यह सुनकर सिन्धिया ने अपनी फ़ौज का बीस लाख रुपया मासिक ख़र्च देने का अड़ङ्गा बाजीराव के पीछे लगाया; परन्तु बाजीराव इतना ख़र्च देने में असमर्थ थे, अतः उन्हें यह शर्त मान्य करना पड़ी कि घाटगे, बाजीराव का कारभारी होकर रहे और वह जिस मार्ग से चाहे रुपये वसूल करे। इस समय घाटगे ने पूना में जो कुहराम मचाया था और प्रतिष्ठित आदमियों की जिस प्रकार इज़्ज़त ली थी उसका स्मरण करते ही आज भी रोमाञ्च हो आता है। इस अत्याचार के कारण सिन्धिया पूना में अप्रिय हो गये। इस बात से लाभ उठाते हुए बाजीराव ने अमृतराव की सहायता से अङ्ग-

रेज़ों के हाथों-तले सेना तैयार कर सिन्धिया को क़ैद करने का विचार किया और सिन्धिया को दरबार में बुलाकर भय भी दिखलाया; परन्तु अन्त में उसे क़ैद करने का साहस बाजीराव को न हो सका।

सिन्धिया, यह कहकर कि अब मैं लौटा जाता हूँ दरबार से चला आया; परन्तु उसने पूना नहीं छोड़ा। तो भी चारों ओर से विशेषतः गृह-कलह के कारण उसकी इतनी बेइज़्ज़ती हो गई थी कि अन्त में उसे अङ्गरेज़ों से सहायता और मध्यस्थी के लिए याचना करनी पड़ी। इसके पहले बाजीराव ने स्वतः कर्नल पामर की मार्फ़त सिन्धिया से मैत्री की बात-चीत छेड़ी थी; परन्तु उस समय सिन्धिया ने उस बात को भिड़कार दिया था। अब इस बार उसे स्वयम् सहायता माँगनी पड़ी। उसने यह विचार भी किया कि अपनी सेना लेकर यहाँ से स्वदेश को चले जायँ, परन्तु सेना बिना वेतन लिए कैसे जा सकती थी? अतः सिन्धिया ने विचार किया कि नाना० को बन्धन-मुक्त करने से द्रव्यलाभ अवश्य होगा और बाजीराव पर भी प्रभाव पड़ेगा। अतः वह नाना को पूना लाया और उससे दश लाख रुपये लेकर अपना काम निकाल लिया। नाना को बन्धन-मुक्त करने में अङ्गरेज़ों की सहायता लेनी पड़ी और इससे उन्होंने लाभ भी तुरन्त उठाया। मराठों से मैत्री करके अङ्गरेज़ों को टीपू के नाश करने का निश्चय था; पर वे जानते थे कि यह काम तब होगा जब सिन्धिया पूना से चले जायँ और नाना शक्तिहीन हो जायँ; अतः अङ्गरेज़ों ने बाजीराव से यह कहना शुरू किया कि "सिन्धिया को जाने दो; तुम्हारी रक्षार्थ हम सेना देंगे; चिन्ता मत करो।" परन्तु अङ्गरेज़ जैसे बार बार

कहते थे वैसे वैसे बाज़ीराव को यह सन्देह अधिक होता जाता था कि कहीं यह नाना० का ही षड्-यन्त्र न हो और वे सिन्धिया को दूर कर अङ्गरेज़ों को घर में घुसेड़ना न चाहते हों? बस, ऐसी कल्पना उत्पन्न होते ही उसके षड्-यन्त्र के चक्र फिर उलटे फिरने लगे और सिन्धिया से लौट जाने के लिए कहने की अपेक्षा वह भीतर ही भीतर यह कहने लगा कि "अभी रहो, जाओ मत" और इधर नाना० से मिला और कहा "तुम मेरे पिता के समान हो; तुम जो कहोगे मैं वही करूँगा" ऐसा कहकर उसने नाना० के पैरों पर पगड़ी रख क़सम खाई और नाना को फिर काम-काज सम्हालने में लगाया; परन्तु उसी समय वह नाना० को क़ैद करने के लिए सिन्धिया से बातचीत भी करने लगा।

नाना० ने ऊपरी दिखाऊ ढङ्ग से काम हाथ में ले लिया; परन्तु भीतर से वे उदास ही थे; क्योंकि उस समय किसी का भी विश्वास नहीं किया जा सकता था। उन्होंने मन में यही निश्चय किया कि इस समय अङ्गरेज़ों से सहायता लेने की आवश्यकता होने के कारण यदि उनका विश्वास करना ही पड़े तो उसके करने में कोई हानि नहीं है और आपत्ति-काल में सहायता भी उन्हींकी लेना ठीक है; परन्तु इसी स्थिति में दो वर्ष व्यतीत हो गये और अन्त में १३ मार्च सन् १८०० के दिन नाना० की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से बाजीराव और सिन्धिया की स्थिति तो नहीं सुधरी; किन्तु उनका एक मुख्य आधार-स्तम्भ टूट गया। अब सिन्धिया को अपना प्रदेश छोड़कर पूना में रहना कठिन हो गया था; क्योंकि यशवन्तराव होलकर ने अमीरख़ाँ से मैत्री कर सिन्धिया के प्रदेश को लूटने का धावा शुरू कर दिया था।

तब सन् १८०० के नवम्बर में सिन्धिया ने पेशवा से ४७ लाख रुपये लेकर पूना में घाटगे की अधीनता में कुछ सेना रख दी और आप उत्तर हिन्दुस्थान के लिए रवाना हो गया।

नाना० की मृत्यु हो जाने और सिन्धिया के अपने स्थान को चले जाने पर बाजीराव को शान्ति से दिन व्यतीत करने चाहिए थे; परन्तु ऐसा न कर उसने अपने पिता रघुनाथराव के विरुद्ध रहने वाले सरदारों से बदला लेना शुरू किया। सरदार रास्ते को क़ैद में डाला और विठोजी होलकर को हाथी के पाँवों से मरवा डाला। सिन्धिया के उत्तर भारत में आने पर उससे थोड़ी बहुत खटपट कर यशवन्तराव होलकर ने फिर दक्षिण का रास्ता पकड़ा और विठोजी होलकर के खून का बदला लेने के लिए पूना को भस्म करने का उद्देश्य प्रगट करते हुए वह खानदेश आ पहुँचा; अतः बाजीराव को फिर सिन्धिया और अङ्गरेज़ों की सेना की सहायता माँगने की आवश्यकता हुई; परन्तु अङ्गरेज़ों की शर्तें कड़ी होने के कारण सिन्धिया की सेना पर ही उसे अवलम्बित होना पड़ा। इस समय पटवर्धन प्रभृति सरदारों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी; परन्तु सरदार रास्ते से सरदारों को लूटने का प्रारम्भ करने के कारण सब सरदार अपने अपने स्थानों पर उदासीन और सशङ्कित-चित्त से रहते थे। ता० २३ अक्टूबर को यशवन्तराव होलकर, हड़पसर के पास आ पहुँचा। इधर सिन्धिया की सेना कोरेगाँव के समीप पड़ी हुई थी; अतः तारीख २५ अक्टूबर को दोनों में बड़ी भारी लड़ाई हुई जिसमें सिन्धिया को हारना पड़ा और उसकी सेना का सामान लूट लिया गया। तब बाजीराव ७,००० सेना के साथ भागकर सिंहगढ़ पर चला गया और

वहाँ से कर्नल क्लोज़ की मार्फ़त अङ्गरेज़ों से सहायतार्थ बात-चीत करने लगा।

अङ्गरेज़ बाजीराव को सहायता देने के लिए सदा तैयार थे। भला, जिन अङ्गरेज़ों ने नानाफड़नवीस के जीवन-काल में और पेशवा का ऐश्वर्य-सूर्य जिस समय मध्याह्न में था उस समय रघुनाथराव को सहायता देकर मराठों से युद्ध छेड़ा था, वे अङ्गरेज़ गादी पर बैठे हुए बाजीराव को, जब कि वह निराश्रित होकर स्वयम् सहायता माँग रहा है और नाना० भी जीवित नहीं है क्यों न सहायता दें? वरन उनका तो बहुत दिनों से यही प्रयत्न था कि बाजीराव हमारी सहायता लें और लार्ड-कार्नवालिस बहुत ज़ोर से इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि निज़ाम के समान सब राजे-रजवाड़े हमारी सेना की सहायता लेना स्वीकार करें; परन्तु एक भी मराठा सरदार अङ्गरेज़ों की इस प्रकार की सहायता लेने को तैयार नहीं होता था। महादाजी सिन्धिया, नानाफड़नवीस और दौलतराव सिन्धिया ने तो इस भूठी सहायता को अस्वीकार करने के लिए पेशवा को पहले ही सलाह दी थी और स्वयम् बाजाराव को भी इस सहायता का भीतरी पेंच समझ सकने की बुद्धि थी। अतः उसने भी जहाँ तक बन सका इसका विरोध ही किया था। अङ्गरेज़ अधिकारियों के अधिकार में रहने वाली अङ्गरेज़ी सेना को अपने राज्य में रख उसके ख़र्च के लिए अङ्गरेज़ों को कुछ प्रदेश दे देना और आवश्यकता पड़ने पर अपनी रक्षा के लिए अङ्गरेज़ों का मुँह ताकना, भला, कौन समझदार स्वीकार कर सकता था? यह व्यवस्था निज़ाम को भले ही सुभीते की जँची हो; क्योंकि दक्षिण भर में वह अकेलाही था और दूसरे

किसी की भी सहायता न थी; परन्तु मराठों को अङ्गरेज़ों की आज्ञा में चलने वाली इस प्रकार की भाड़ेनू सेना की सहायता की आवश्यकता नहीं थी; पर गृह-कलह के कारण अन्त में उन्हें भी हुई और पहले बार बार जिस बात को फिड़कार दिया था वही बात बाजीराव को निरुपाय होकर करनी पड़ी।

सवाई माधवराव की मृत्यु के बाद से पूना के दरबार में जो गड़बड़ मचनी शुरू हुई उसे अङ्गरेज़ों के वकील मेलेट साहब सङ्गम-तट पर बैठे हुए बड़े ध्यान से देख रहे थे। सिन्धिया, होल्कर और पटवर्धन आदि सरदार, नाना, परशुराम भाऊ आदि नीतिज्ञ और बाजीराव पेशवा इनमें परस्पर झगड़ा चलने के कारण अङ्गरेज़ों को भयभीत होने का कोई कारण नहीं था। इस गृह-कलह के कारण अङ्गरेज़ों की ओर विरुद्ध दृष्टि से देखने का न तो किसी को अवसर ही था और न कोई कारण; प्रत्युत अवसर पड़ने पर सहायक होने के कारण अङ्गरेज़ों की सम्मति सबके काम में आती थी और अङ्गरेज़ों की सैनिक सहायता की आकांक्षा भी सब रखते थे। पेशवा की राजधानी में यद्यपि छः वर्षों से धूमधाम मच रही थी, पर सङ्गम पर अङ्गरेज़ों के अथवा उनके आश्रित लोगों के मार्ग में कभी कोई बाधा नहीं आती थी। सङ्गम से थोड़ी दूर पर सिन्धिया और होल्कर की सेना का युद्ध हुआ; पर उस समय अङ्गरेज़ रेज़िडेण्ट कर्नल क्लोज़ सङ्गम में एक ऊँचा झण्डा अङ्गरेज़ी निशान लगाकर आनन्द में थे; क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस निशान को कोई हाथ से स्पर्श न करेगा। दूसरे दिन यशवन्तराव होल्कर ने कर्नल क्लोज़

को अपने डेरे में बुला कर सिन्धिया, पेशवा और होलकर का झगड़ा मिटाने में मध्यस्थ बनने की विन्ती की।

होलकर पूना पर चढ़ आया था और उसकी सेना ने जय भी प्राप्त की थी, तो भी पहले उसने पूना में अपनी सेना को पाँव भी नहीं रखने दिया। उसने अपने पत्र-व्यवहार में बाजीराव से नम्रता का ही व्यवहार रक्खा और सिंहगढ़ से पूना आने के लिए विन्ती की थी। परन्तु बाजीराव डर रहे थे, इसलिए वे सिंहगढ़ से रायगढ़ चले गये और वहां से महाड़ जाकर अङ्गरेज़ों को लिखा कि जहाज़ और आदमी भेजकर मुझे बम्बई बुलालो। इधर जब होलकर ने देखा कि बाजीराव नहीं आते तब उन्हें पकड़ने के लिए उन्होंने अपनी सेना कोंकन को भेजी। तब बाजीराव अङ्गरेज़ों के आदमियों के आने की प्रतीक्षा न कर स्वयम् सुवर्णदुर्ग होकर खेदएड को गये और वहाँ से अङ्गरेज़ों के जहाज़ में बैठकर तारीख ६ दिसम्बर को वसई पहुँचे।

इधर होलकर ने पूना से बहुत खण्डनी वसूल की और जुन्नर से अमृतराव को लाकर गादी पर बैठाया। तब नाना फडनवीस के और बाजीराव के शत्रु चतुरसिंह भोंसले बावी वाले ने अपने प्रभाव को काम में लाकर सतारा के महाराज से अमृतराव को पेशवाई के वस्त्र दिलवाये। अमृतराव के गादी पर बैठते ही होलकर ने पूना-निवासियों की जो दुर्दशा की थी उसे आँख खोलकर देखने का काम इन पेशवा को करना पड़ा। पहले तो इतना ही था कि ज़रा भय का कारण उपस्थित होते ही लोग भागकर अपनी रक्षा कर लेते थे; पर होलकर ने तो शहर की नाकेबन्दी पहले से कर के फिर लोगों को कष्ट देना प्रारम्भ किया था।

बाजीराव को पूना छोड़कर चले जाने पर रेज़ीडेन्ट कर्नल क्लोज़ भी बसई को गये। होलकर ने रेज़ीडेन्ट से ठहरने के लिए बहुत कहा; परन्तु उन्होंने होलकर से संधि करने की अपेक्षा अपने हाथ में आये हुए पेशवा से संधि करना अधिक लाभदायक और सुभीते की बात समझी और उसके द्वारा अङ्गरेज़ों और बाजीराव के बीच में तारीख़ ३१ दिसम्बर सन् १८०२ के दिन संधि हुई। संधि की मुख्य शर्त अङ्गरेज़ी सेना अपने यहाँ रखने के सम्बन्ध में थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस संधि के अनुसार अङ्गरेज़ों की ६००० पैदल सेना पेशवा के राज्य में रखना स्थिर हुआ और युद्ध के समय पेशवा की रक्षा के लिए एक हजार सेना बाजीराव के पास रहना स्थिर किया गया। इसके ख़र्च के लिए पेशवा ने अङ्गरेज़ों को छब्बीस लाख की आमदनी का प्रदेश देना स्वीकार किया तथा सूरत पर से पेशवा के अपना अधिकार उठा लेने, गायकवाड़ और निज़ाम पर का दावा अङ्गरेज़ों की मध्यस्थता में निपटा लेने, अन्य रजवाड़ों से जो युद्ध, सन्धि अथवा अन्य कार्य हो वह बिना अङ्गरेज़ों को मालूम हुए न होने देने और दूसरे यूरोपियन लोगों को आश्रय न देने की शर्तें भी इस सन्धि में रक्खी गई। इस सन्धि पर ग्रेंटडफ ने अपने ये निन्दापूर्ण उद्गार निकाले हैं कि "बाजीराव ने अपने स्वातन्त्र्य को मूल्य के रूप में देकर अपने शरीर की रक्षा कर ली थी"। इस सन्धि के कारण सिंधिया बहुत अप्रसन्न हुआ और उस ने बाजीराव की रक्षार्थ अपनी सेना भेजी; परन्तु उसने सन्धि करने के पहले सिंधिया और दूसरे हितचिन्तक रघुजी भोंसले से एक शब्द भी नहीं कहा। इस सन्धि के

कारण पेशवा तो अङ्गरेज़ों के हाथ के खिलौने हो गये और सिन्धिया, होलकर इत्यादि सरदारों और पेशवा के परस्पर सम्बन्ध के सब सूत्र अङ्गरेज़ों के हाथ में चले गये। इस सन्धि से मालिक को मालिकी चले जाने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना दुःख सेवकों को सेवकाई चले जाने का हुआ। बाजीराव ने अपने साथ साथ दूसरे की स्वतन्त्रता भी नष्ट कर दी और अङ्गरेज़ों ने भी इस सन्धि को करने की शीघ्रता में दूसरों की ओर झाँका तक नहीं। जो सिन्धिया सालबाई की सन्धि के समय अङ्गरेज़ों के ज़ामिनदार थे उन से यह सन्धि करते समय पूछा तक नहीं। यह देखकर कि जब समय का लाभ उठाकर सब ही स्वतन्त्र व्यवहार कर रहे हैं, तो सिन्धिया ने भी वसई की सन्धि स्वीकार नहीं की और नागपुर के भोंसले ने भी इस सन्धि के लिए कान पर हाथ रख कर मना कर दिया।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर होते ही बाजीराव को गादी पर बैठाने का प्रयत्न करना अंङ्गरेज़ों के लिए आवश्यक हुआ; अतः उन्होंने हैदराबाद, मैसूर आदि की ओर की सेना जनरल वेलस्ली की अधीनता में एकत्रित करना प्रारम्भ किया। पटवर्धन, गोखले, निपाणीकर, विञ्चूरकर आदि मराठे सरदार भी अङ्गरेज़ों के सहायतार्थ आ पहुँचे। तब होलकर के द्वारा गादी पर बैठाये हुए अल्पकालीन-पेशवा अमृतराव ने पूना शहर को जलाकर अपनी निराशता का बदला चुका लेने का विचार किया; परन्तु बाजीराव और अङ्गरेज़ों की सेना के आने के समाचार सुन वह पूना से भाग गया और होलकर रास्ते में लूटपाट मचाने और गाँवों को जलाते हुए औरङ्गाबाद होकर मालवा को चले गये। अमृतराव ने भी

नासिक तक यही क्रम जारी रक्खा; पर अन्त में जनरल वेलस्ली से सन्धि कर और कुछ दिनों तक उनकी सेना के साथ में रह ८ लाख रुपये वार्षिक की जागीर लेना स्वीकार किया और वह काशी में जाकर रहने लगा। ता० १३ मई १८०८ के दिन बाजीराव पूना आये और फिर गादी पर बैठे।

लौटते समय सिन्धिया अङ्गरेज़ों का पतन करने का विचार करने लगा। भोंसले ने भी उसे सहायता देने का वचन दिया। तब दोनों ने मिलकर होल्कर को शामिल करने के लिए प्रयत्न किया, क्योंकि उसके शामिल होजाने की स्वाभाविकतया आशा थी; परन्तु उस समय इस मित्र-संघ में शामिल होने की बुद्धि होल्कर को नहीं हुई। अतः दोनों ने मिलकर मुग़लाई की सीमा पर एक लाख सेना एकत्रित की। इधर अङ्गरेज़ों ने सब प्रान्तों से बुलाकर ५० हज़ार सेना एकत्रित की। जनरल वेलस्ली ने अहमदनगर का क़िला अधिकृत कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सन् १८०३ में उसने दिल्ली लेकर बादशाह शाह-आलम को अपने हाथ में ले लिया और आगरा से लासवारी में युद्ध हुआ, जिसमें सिन्धिया का पराभव हुआ और चम्बल नदी के उत्तर का सिन्धिया का सब देश अङ्गरेज़ों के हाथ लगा।

सन् १८०३ के मई मास की २०वीं तारीख़ को पूना के रेज़ीडेन्ट कर्नेल क्लोज़ को कलकत्ता के गवर्नर ने जो ख़रीता भेजा था उसमें उन्होंने अङ्गरेज़ों की दृष्टि से मराठी राज्य की उस समय की स्थिति की परीक्षा की है। इसे जानना आवश्यक समझ ख़रीते के कुछ अंशों का अनुवाद यहाँ दिया जाता है। गवर्नर लिखते हैं कि—

"टीपू का राज्य नष्ट होजाने से अब मराठों के सिवा हमारा

दूसरा कोई प्रतिपक्षी नहीं रहा है और उनसे भी, जब तक उन्हें किसी यूरोपियन राष्ट्र की सहायता न मिले, तब तक हमें भय नहीं है। कोई केन्द्रिक शक्ति यदि अन्य राज्यकर्ताओं को मिला कर सङ्घ-निर्माण करे तो यह हमारे लिए अवश्य भय का कारण होगा; परन्तु ऐसे सङ्घ से भी बहुत अधिक भय करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, ऐसे प्रयत्न अवश्य होने चाहिए जिससे सङ्घ-निर्माण न होने पावे। इसका सब से उत्तम उपाय यही है कि मराठों के मुख्य मुख्य राजाओं से अपना स्नेह हो और वह भी इस तरह का कि उन पर हमारा प्रभाव रहे और वे हमारी सेना पर अवलम्बित रहें। बाजीराव से बसई की सन्धि करने में भी हमारा यही प्रयोजन था। इस सन्धि से यद्यपि पेशवा को गादी मिलेगी, तथापि पूना दरबार में हमारा इतना प्रभाव जम जायगा कि इतर मराठे सरदारों को अपनी हित-रक्षा का कार्य हमारे द्वारा ही कराना होगा। ऐसा कोई काम—विशेष कर अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी—मत करना जिससे पेशवा के स्वाभिमान में धक्का लगे और वह उसे अपमान-पूर्ण प्रतीत हो; किन्तु तुम उन्हें यह समझाने का प्रयत्न करो कि तुम्हारे ही प्रजा-जन, नौकर और माण्डलिकों ने जो झगड़े खड़े किये थे और तुम्हारा अपमान किया था वह हमने निवारण कर दिया है और सिन्धिया, होलकर, भोंसले और बेईमान अमृतराव के कारण तुम्हें जो सन्मान तथा शान्ति कभी न मिलती, वह हमने तुम्हें मिला दी है। देखो, हमारे आश्रय में आजाने से निज़ाम को कितना लाभ हुआ है। बसई की सन्धि का एक मुख्य हेतु यह भी है कि फ्रेञ्च लोगों का पाँव मराठी राज्य में जमने न पावे, इसलिए फ्रेञ्चों को दर-

चार से निकालने के प्रयत्न में तुम तुरन्त लग जाओ। सन्धि के अनुसार अपने काम के लायक़ फ़ौज रखकर बाक़ी लौटा दो और फ़ौज के व्यय के लिए जो प्रदेश अपने को देने कहा है वह तुरन्त अपने अधिकार में कर लो। राज-काज में तुमसे जो सलाह लेवें सो खुशी से दो; परन्तु पेशवा के कार्य में विशेष उथल-पुथल करने की ज़रूरत नहीं है। हाँ, बिना थोड़ी उथलपुथल के कार्य चलेगा भी नहीं, क्योंकि जागीरदारों की मध्यस्थता का काम हमने लेना स्वीकार किया है।

"बाजीराव विश्वास-योग्य नहीं है और न उससे जागीर-दारों के हित की रक्षा होनी ही सम्भव है। अतः तुम जो उथल-पुथल करो उसके सम्बन्ध में पेशवा के मन में यह जमाओ कि हम यह सब न्याय के लिए ही करते हैं। काम लायक़ सेना, इससे भी अधिक पूना में रहे तो और भी अच्छा है; परन्तु इसका ध्यान रखना कि उससे पेशवा अथवा अन्य मराठे सरदारों के मन में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न न होने पावे और न पेशवा को यह मालूम पड़े कि हम जो हेतु ऊपर प्रदर्शित करते हैं उसके सिवा हमारा कोई अन्य हेतु है। दौलतराव सिन्धिया पूना पर सब सेना ले कर चढ़ाई करना चाहता है; परन्तु हम भी सामोपचारों से उसके इस विचार को छुड़ा देने के प्रयत्न में हैं। बिना भोंसले और होल्कर की सहायता के सिन्धिया को भी युद्ध करने का साहस नहीं होगा। यद्यपि अङ्गरेज़ों के नाम के भय से तो शत्रु-शक्ति मिलित न हो सकेगी; परन्तु शत्रु बनने की बातें तो बाज़ार में बहुत उड़ रही हैं। सम्भव है कि ये हमें डराने के लिए ही उड़ाई जाती हों। ऐसी झूठी बातों से न डरो

देने का प्रयत्न करना उचित है। यदि हमारे कार्यों से यह दीख पड़ा कि हम डर गये, तो यह सङ्घ न बनता होगा, तो बन जायगा और मराठों में साहस आजायगा। हम सिन्धिया और भोंसले को परस्पर भिड़ा रहे हैं और यदि सिंधिया और होलकर के बीच परस्पर मनमुटाव रहा, तो फिर चिन्ता का कोई कारण नहीं है। हम यह देखते हैं कि इन दोनों का यदि मिलाप भी रहा तो भी होलकर, निज़ाम या पेशवा के विरुद्ध उठते हैं या नहीं? पेशवा ने हमें जो प्रदेश देने को कहा है उससे अधिक सुभीते का प्रदेश कोंकन या बुन्देलखण्ड में हमें प्राप्त हो सकता है या नहीं, इसका हम विचार कर रहे हैं। पर तुम, इस बीच में, उन्होंने जो प्रदेश देना स्वीकार किया है, उसे तुरन्त अपने अधिकार में ले लो और यदि पेशवा देने में देरी करें तो उसकी नुक़सानी भी उनसे माँगो।"

इस ख़रीते के तीन ही दिन बाद गवर्नर ने जो ख़रीता सिंधिया-दरबार के रेज़ीडेन्ट कर्नल कालिन्स को लिखा था उसका आशय इस प्रकार है "तुम जिस तरह से भी हो सके सिंधिया को नर्मदा उतर कर उत्तर की ओर आनेके लिए कहो और उसे इस बात पर राज़ी करो। सिंधिया को इस प्रकार समझाओ कि सिंधिया मराठी साम्राज्य के माण्डलिक हैं। उन्हें पहले ही यह चाहिए था कि होलकर से पेशवा का बचाव करते; परन्तु जब उन्होंने ऐसा नहीं किया तब उन्हें पूना जाने का अब कोई कारण ही नहीं रहा है। तुम से सिन्धिया ने यह पहले कह ही दिया है कि बसई की सन्धि हमें मान्य है; परन्तु अब उसके विचार कुछ भिन्न दिखाई देते हैं, तो भी उसे समझाओ कि बसई की सन्धि से हमारा

प्रयोजन किसी का स्वातन्त्र्य हरण करने का नहीं है; किन्तु सबके न्यायपूर्ण अधिकारों की रक्षा का है । किसी के कारबार में हाथ डालने का हमारा प्रयोजन नहीं है । हम केवल इतना ही चाहते हैं कि पेशवा की आज्ञा दूसरे दरबार मान्य करें और माण्डलिक होने के नाते सिन्धिया का हेतु भी यही होगा । यद्यपि सिन्धिया को यह खटकेगा कि पूना दरबार में मेरा प्रभाव कम हो गया; पर तुम उसे यह समझाओ कि यह प्रभाव बसई की सन्धि के कारण कम नहीं हुआ है; किन्तु जब होलकर ने पूना में सिन्धिया पर जो विजय प्राप्त की थी और सिन्धिया ने बीच-बचाव करने के लिए अङ्गरेज़ों से विनय की थी उसी समय से कम हो गया है । सिन्धिया को यदि यह भ्रम हो कि पेशवा, सिन्धिया से बिना पूछे सन्धि नहीं कर सकते, तो उसका यह भ्रम निकाल डालो । सालबाई की सन्धि के समय अङ्गरेज़ों ने महादाजी सिन्धिया को मध्यस्थता और जमानत मञ्जूर की थी, वह वंश-परम्परा के लिए नहीं थी । वह समय गया और वे मनुष्य भी गये । अब उसके उदाहरण का प्रयोजन नहीं । इतना ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मराठाशाही के मुखरूप पेशवा ने जो सन्धि की है उसे उनके माण्डलिकों को भी मानना उचित है और वह उन्हें अपने लिए बन्धन-कारक समझना चाहिए । मराठाशाही की पुरानी रचना अब नहीं रही है । महादाजी और दौलतराव सिन्धिया ने यद्यपि अपने अड़ोसी-पड़ोसी राजाओं से युद्ध और सन्धि की है; परन्तु उन्होंने पेशवा की गादी का अधिकार कभी अस्वीकार नहीं किया । बरार के भोंसले के सम्बन्ध में कदाचित् यह नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि भोंसले कहते हैं कि

शाहू महाराज का अधिकार हमें मिला है; परन्तु श
महाराज के प्रतिनिधित्व की वंश-परम्परा पेशवा च
रहे हैं; अतः पेशवा की स्वतन्त्रता कम करने का अधिक
भोंसले को नहीं है। पेशवा, भोंसले से उच्च माने ज
अथवा भोंसले स्वतन्त्र माने जायँ; पर इन दोनों अ
स्थाओं में भी भोंसले को यह अधिकार नहीं हो सक
कि वे पेशवा से यह पूछें कि तुमने अमुक सन्धि क्यों
और यही बात सिन्धिया के सम्बन्ध में भी समझनी चाहि
तो भी सिन्धिया का पेशवा अथवा होलकर से किसी वि
सम्बन्ध में झगड़ा हो, तो सिन्धिया हम से कहें; हम उन
मध्यस्थता करने को तैयार हैं।"

इसी दिन गवर्नर जनरल लार्ड वेलस्ली साहब ने दौल
राव सिन्धिया को भी एक पत्र लिखा, जिसमें स्पष्ट रीति
ये समाचार लिखे थे कि—"तुमसे स्नेह-भाव रखने की हम
पूर्ण इच्छा है; परन्तु जो व्यवस्था हो चुकी है उसमें यदि
कुछ अदल-बदल करना चाहोगे, तो वह हमें सहन नहीं ह
और हम उसका यथा-शक्ति प्रतिकार करेंगे।"

अङ्गरेज़ों से खुले मैदान सिन्धिया और भोंसले का
कर अपना पराभव करालेना होलकर को पसन्द नहीं था
उनका कहना था कि यदि दाव-पेंच की लड़ाई दोनों
तो उसका अन्तिम परिणाम इस प्रकार नहीं होता; प
होलकर की इस चतुरता का उपयोग मराठों के कार्य
हो सका; क्योंकि सिन्धिया और भोंसले के युद्ध करते स
होलकर स्वयम् उनसे अलग रहा था और इतना ही
किन्तु अपने ही देशभाइयों के राज्य में उसी समय
लूटपाट भी मचा रक्खी थी। होलकर को आशा थी

सिन्धिया का पराभव हो जाने से हमारा और सिन्धिया का दर्जा समान हो जायगा और फिर हमारा प्रभाव भी बढ़ेगा; परन्तु उसकी यह आशा सफल न हो सकी। सिन्धिया का पराभव हो जाने पर जब सिन्धिया और अङ्गरेज़ों की सन्धि हो गई, तब होलकर को अङ्गरेज़ों से युद्ध करने की स्फूर्ति हुई और अङ्गरेज़ों से सिन्धिया की जो सन्धि हो चुकी थी उसे तोड़ने की सम्मति वह सिन्धिया को देने लगा और राजपूत, रोहिले, सिक्ख, प्रभृति की सहायता मिलने के लिए भी खूब प्रयत्न करने लगा। सिन्धिया का थोड़े ही समय में पराभव कर देने के कारण अङ्गरेज़ों में भी युद्ध करने की उत्तेजना हो आई थी और होलकर से युद्ध करना उन्हें लाभदायक भी था। होलकर की शर्तें भी कठिन थीं। अतः १८०४ में होलकर और अङ्गरेज़ों का युद्ध प्रारम्भ होगया। पहले तो होलकर ने अङ्गरेज़ों को खूब हानि पहुँचाई और उनकी बहुत सी तोपें छीन लीं; परन्तु अन्त में 'डीग' में होलकर की हार हुई। दक्षिण के बहुत से होलकर के क़िले और मालवा के भी क़िले तथा इन्दौर शहर अङ्गरेज़ों के अधिकार में चले गये। इधर भरतपुर के क़िले को भी अङ्गरेज़ों ने घेर लिया था; अतः उस प्रान्त में भी होलकर के आश्रय-योग्य स्थान न होने के कारण वह पञ्जाब चला गया। अब कहीं सिन्धिया के मन में भी होलकर से मिलने के विचार उत्पन्न हुए; क्योंकि गोहद के राजा को स्वतन्त्र स्वीकार करने के लिए अङ्गरेज़ सिन्धिया को दबाते थे और सिन्धिया को यह स्वीकार नहीं था; परन्तु अब वह कुछ कर नहीं सकता था; क्योंकि देरी बहुत हो चुकी थी। इतने में ही अङ्गरेज़ों ने सिन्धिया और होलकर से सन्धि करने का

प्रयत्न किया, क्योंकि इस समय कम्पनी सरकार पर ऋण बहुत हो गया था। इसीलिए लार्ड वेलस्ली की सैनिक पद्धति विलायत में नापसन्द हुई और लार्ड कार्न-वालिस, यहाँ गवर्नर-जनरल बना कर फिर भेजे गये। उन्होंने सन्धि के काम को पूर्ण किया और सन १८०५ के लगभग सिन्धिया, होलकर, भोंसले और गायकवाड़ से सन्धि होकर मराठा-सङ्घ सदा के लिए नष्ट हो गया और एक बड़ा युद्ध होने से रुक गया।

सालबाई की सन्धि से तो मराठी सत्ता के नाश का प्रथम भाग अङ्गरेज़ों को मिला था और इस सन्धि से दूसरा भाग भी उन्हें मिल गया। इस समय किसी भी मराठे राजा में अङ्गरेज़ों से युद्ध करने की यद्यपि वास्तविक शक्ति नहीं रही थी; तो भी इस स्थिति-परिवर्तन का क्रोध सबके मन में मौजूद था। पर जब कि मिल कर काम करने की मराठों की पद्धति ही नहीं, इच्छा भी नष्ट हो चुकी थी, तब उन्हें अङ्गरेज़ों पर क्रोध करने की अपेक्षा अपने आप पर ही क्रोध करना बहुत उचित था। इस समय अङ्गरेज़ों का भाग्य अवश्य अच्छा था, इसीसे उन्होंने केवल चार पाँच वर्षों में ही इतना राज्य-विस्तार कर लिया था कि विलायत के अङ्गरेज़ उसके प्राप्त होने की आशा ही नहीं कर सकते थे। इधर होलकर, सिन्धिया और भोंसले के अधीन इतना कम राज्य रह गया कि ख़र्च वग़ैरह जाकर साठ लाख रुपये वार्षिक की भी आमदनी उससे नहीं हो सकती थी। राज्य कम होने के कारण इन्हें सेना भी तोड़ देनी पड़ी। अकेले होलकर को ही २० हज़ार सवार कम करने का मौक़ा आया। पहले तो ये वेतन न मिलने के कारण होलकर के दरवाज़े

पर धरना दे कर बैठे और जब वेतन मिल गया तो इन्हें उदर-निर्वाह के लिए उद्योग करने की चिन्ता हुई। क्योंकि इन्हें फ़ौजी नौकरी का अभ्यास था। खेती-बाड़ी करना भूल गये थे और कितनों के पास खेती भी नहीं थी। इधर शस्त्र न रखने का क़ानून बनने वाला था। यह तो होल्कर के सिपाहियों की दशा थी। उधर सिन्धिया ने यद्यपि सेना तोड़ी नहीं थी; परन्तु राज्य की आमदनी कम होने के कारण कुछ न कुछ काम निकाल कर सेना को उस काम पर भेज देते थे और उनकी लूट-खसोट की ओर ध्यान नहीं देते थे। अथवा जिन छोटे मोटे राजाओं की रक्षा करने की स्वीकृति अङ्गरेज़ों ने नहीं दी थी उनसे अपना पुराना दावा उगाहने का एक काम रहा था, उसे सेना की मार्फ़त कराते थे। परन्तु यह सब काम बहुत दिनों तक न पूर सके और अन्त में पहले से जो बेकार पिंडारे थे उनमें सिंधिया के बहुत से सैनिकों के मिल जाने पर उनकी संख्या खूब बढ़ गई और पहले होल-कर, सिन्धिया आदि की सेना के नाम से काम करने वाले पिण्डारियों को जब दूसरों का आश्रय न रहा तब वे अपने ही नाम से उदर-निर्वाह करने लगे। उनके लिए मानों कोई बन्धन न होकर दशों दिशाएं खुली थीं। पर इनका अधिक ज़ोर चम्बल नदी से कृष्णा नदी तक ही था। इन लोगों ने शान्तिप्रिय और सुखी गृहस्थों को बहुत दुःख दिया। इनलोगों को दबाने में अङ्गरेज़ों को भी बहुत कष्ट उठाना पड़ा। क्योंकि कभी इन पिण्डारियों की सेना २०,२५ हज़ार तक पहुँच जाती थी और कभी सौ पचास मिलकर ही बड़े बड़े धावे कर देते थे। पिण्डारियों में प्रायः मुसलमान ही अधिक थे और उनके अगुवा भी मुसलमान ही थे। इनमें मराठे नाम-

मात्र को ही थे। क्योंकि मराठों के पास वंशपरम्परा से प्राप्त भूमि आदि थी तथा वे मुसलमानों के समान नंगे नहीं हो गये थे। उनमें प्रतिष्ठा की थोड़ी बहुत चाह भी थी। पिण्डारियों में प्रत्येक हज़ार में चार सौ सवार थे और ६०.६५ लोगों के पास बन्दूकें होती थीं। शेष लोगों के पास भाला अथवा चाकू, हंसिया वगैरह होते थे। ऐसे लोगों ने ब्रिटिश सत्ता को कुछ न गिन दस वर्षों तक सैकड़ों मील के प्रदेश में मनमाना राज्य किया। परन्तु उनका घर सदा अपनी पीठ पर ही रहता था। मराठेशाही की सैनिक वृत्ति की निर्मल नदी सूख गई थी और पिण्डारियों का यह दुर्गन्ध-पूर्ण नाला मात्र बह रहा था। पिण्डारियों ने कोई भी अपराध करने में कसर नहीं की थी; परन्तु यहाँ उनके चरित्र से हमें कोई प्रयोजन न होने से उस सम्बंध में अधिक चर्चा करना उचित नहीं है।

उत्तर भारत में इस प्रकार बहुत अशान्ति थी; पर बाजीराव पेशवा को इस समय सब प्रकार से शान्ति थी और अङ्गरेज़ों की सहायता से उन्होंने महत्व भी प्राप्त कर लिया था; परन्तु उन्होंने अपनी इस शान्ति और महत्व का उपयोग अपने शत्रुओं से बदला लेने में किया। लोग बाजीराव से नहीं डरते थे, किन्तु उनके रक्षार्थ जो ६,००० अङ्गरेज़ी सेना सदा तैयार खड़ी रहती थी, उस से डरते थे। पहले ही तो सन् १८०४ के भयङ्कर दुष्काल के कारण महाराष्ट्र में हाहाकार हो रहा था, उस पर बाजीराव ने फिर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। अतः बहुत से मराठे उस समय पूना छोड़ कर उत्तर भारत में सिन्धिया के आश्रय में रहने को चले गये। बाजीराव ने शत्रु-पक्ष के सरदारों की जागीर को तो

जप्त किया ही, किन्तु उन लोगों के जो उससे सरलतापूर्वक व्यवहार करते थे गृह-कलह में भी बिना कारण अपना हाथ डाल कर बैठे बैठे एक को भागने और दूसरे को पकड़ने को कहने की नीति से काम लेना प्रारम्भ किया। स्वयम् ग्रांट-डफ साहब कहते हैं कि "यदि बाजीराव के इस उथला-पुथल करने वालों और आश्रित जनों को दुःख देने के कार्य को अङ्गरेज़ों ने उस समय रोका होता, तो लोग भी सुखी होते और बाजीराव का राज्य भी कुछ अधिक दिनों तक रहता। परन्तु अङ्गरेज़ लोगों ने तो पहले से ही राजनीतिक कार्यों में अपनी पद्धति इस कहावत के अनुसार रक्खी थी कि "बिना बिके फूल तोड़ना नहीं और कच्चा फोड़ा फोड़ना नहीं"। इधर सरदारों की जागीर ज़प्त करते समय बाजीराव ने अङ्गरेज़ रेज़ीडेन्टों से अपना व्यवहार बहुत अच्छा कर लिया था। बाजीराव के मित्र-मण्डल की तो बात ही क्या पूछना है? उसमें तो नादान दोस्तों ही की भरमार थी। हरिदास, पनभरे, आदि सबको उसने अपने मित्र-मण्डल में एकत्रित किया था। उनके काम यही थे कि हँसी-मज़ाक़ करना, लोगों को ठगना और समय पड़ने पर सरकारी राज-काज में उथला-पुथल कर डालना। बाजीराव के समय में कर्नलक्लोज़ी, हेनरी रसेल और एल्फिंस्टन इस प्रकार तीन बृटिश रेज़ी-डेन्ट आये और उसने अपनी मीठी बोली से तीनों को वश कर लिया। रेज़ीडेन्ट के जितने जासूस पेशवा के दरबार में रहते थे पेशवा के उतने ही जासूस रेज़ीडेन्सी में थे। इस कारण से दोनों ओर के गुप्त विचार दोनों को मालूम हो जाते थे। परन्तु पेशवा की ओर के समाचारों का उपयोग करने की जितनी बुद्धि रेज़ीडेन्सी में थी उतनी बाजीराव में नहीं थी।

यद्यपि अङ्गरेज़ों की सहायता से बाजीराव ने जागीरदारों पर अपना दबदबा बैठा लिया था; परन्तु राज्य-रक्षा के कार्य के उपयोग में सदा आने वाले सरदार उससे बहुत अप्रसन्न हो चुके थे। बाजीराव ने अपने आश्रय में एक भी सरञ्जामदार न रख, स्वतंत्र नई वैतनिक पैदल सेना बनाने और उस पर अङ्गरेज़ अधिकारी नियत करने का विचार किया। यह काम अङ्गरेज़ों के लिए तो लाभदायक ही था। क्योंकि एक तो पहले ही सरदारों की जागीरें ज़प्त करने के कार्य में रोकटोक न कर बाजीराव के सिर पर अपने उपकार का भार लाद अङ्गरेज़ों ने पेशवा और सरदारों का सम्बन्ध सदा के लिए तुड़वा दिया था। दूसरे, उक्त सेना सम्बन्धी कार्य से बाजीराव के पूर्ण रीति से अङ्गरेज़ों पर अवलम्बित हो जाने की सम्भावना थी। बाजीराव की नयी सेना पर केप्टन जान फ़ोर्ड साहब अधिकारी नियत किये गये। इस सेना में मराठों की भर्ती न कर परदेशियों ही की भर्ती की गई और भर्ती होते समय उक्त अङ्गरेज़ सरदार ने तथा अन्य सैनिकों ने राजभक्ति की शपथ ली। इस शपथ में भी एक पुछल्ला जोड़ा गया। शपथ इस प्रकार ली जाती थी कि "हम बाज़ीराव के साथ ईमान से तब तक व्यवहार करेंगे जब तक बाजीराव का व्यवहार अङ्गरेज़ों से ईमानदारी का रहेगा"। इस प्रकार की शपथ के भरोसे पर अवलम्बित होकर अपने पैसे से सेना रखने वाले राजा का उदाहरण महाराष्ट्र के सिवा अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सकेगा। इस नवीन सेना की छावनी पूना से वायव्य की ओर चार मील की दूरी पर डाली गई।

बाजीराव के समान दूसरे किसी पेशवा को इतनी शान्ति नहीं मिली; परन्तु वे इस शान्ति का उपयोग राज्य की सुव्यवस्था करने में न कर सके। निकम्मेपन में जैसी खराब बातें सूझती हैं, वैसी ही दशा बाजीराव की हुई। न तो वह स्वयम् राजकार्यों को देखता था और न दूसरों को ही देखने देता था। वह ठेके से कार्य्य-भार समाप्त करने देता और जो आमदनी होती उसमें से बहुत सा हिस्सा अपने पास रख लेता था तथा राज्य के और निज के द्रव्य का उपयोग नैतिक अनाचार और धार्मिक अत्याचारों के कामों में करता था। अपने आश्रित सरदारों की अप्रतिष्ठा आदि करने में ही उसकी बुद्धि का व्यय अधिक होता था और इस कार्य से जो कुछ बुद्धि बच जाती थी उसका उपयोग दुष्ट सलाहगीरों के कहे अनुसार दरबार के कार्यों को खेल समझकर उनके करने में होता था। अन्त में, इन्हीं खेलों में से हाथ से राज्य निकल जाने का निमित्त उत्पन्न हुआ।

एल्फिन्स्टन साहब ने अपने स्थान पर बैठे ही बैठे गुप्तचरों के द्वारा यह जान लिया था कि पूना तथा महाराष्ट्र की प्रजा बाजीराव पर मन से अप्रसन्न है; परन्तु उनकी अप्रसन्नता के कारण बाजीराव को गद्दी पर से हटा देने और प्रजा का कल्याण करने की इच्छा एल्फिन्स्टन साहब को होती ही न थी और यदि उनके मन में इस काम के करने की इच्छा आई भी होती तो भी बाजीराव और अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध पर विचार करने से विदित होता है कि केवल प्रजा की अप्रसन्नता के आधार पर बाजीराव को राज्यच्युत करना अङ्गरेज़ों से हो नहीं सकता था। क्योंकि सन्धि के अनुसार बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के समान उस पर

उन्हें टिकाये रखने के लिए भी अङ्गरेज़ सरकार विवश थी। अङ्गरेज़ सरकार की सन्धि बाजीराव से हुई थी, प्रजा से नहीं। ऐसे मनुष्य के हाथ से पेशवा-राज्य लेने का मार्ग अङ्गरेज़ों के लिए एक यही था कि वे यह सोचें कि बाजीराव प्रजा के साथ बेईमानी का व्यवहार करते करते भूल से अङ्गरेज़ों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करने लगे। अङ्गरेज़ों ने उसे अपने इच्छानुसार चलने की स्वतन्त्रता तो दी थी; परन्तु यह स्वतंत्रता दूसरों ही तक परिमित थी। ज्यों ही उसने अपनी स्वतंत्रता का उपयोग अङ्गरेज़ों के साथ किया त्यों ही अङ्गरेज़ों ने उसे घेर कर औंधा दे मारा।

इस कार्य में अङ्गरेज़ों को बाजीराव के एक मित्र की सहायता मिल गई। इसका नाम त्र्यम्बकजी डेंगला था। वास्तव में त्र्यम्बकजी अत्यन्त शूर, साहसी, हाज़िरजवाब, कल्पनाशील और कार्यदक्ष पुरुष था। यदि उसे अङ्गरेज़ों से शत्रुता रखने का चसका न लगा होता और वह नाना फड़नवीस सरीखे नीतिज्ञों के आश्रय में रहा होता, तो इतिहास में उसने बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त की होती। उसे पेशवा-गादी की इतनी अप्रतिष्ठा सहन नहीं होती थी और वह अङ्गरेज़ों को ही इसका कारण समझता था। पहले सिन्धिया और होलकर ने मराठेशाही को अङ्गरेज़ों के पास से निकालने का जिस प्रकार विचार किया था वही महत्वाकांक्षा त्र्यम्बक को भी थी। यद्यपि किसी राज्य का स्वामी न होने से त्र्यम्बक कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं था, तो भी उसका मन होलकर और सिन्धिया के समान ही विशाल था। परन्तु उसने इस बात का विचार नहीं किया कि ऐसी दशा में जब कि मराठाशाही अङ्गरेज़ों के पाश में बहुत कुछ फँस चुकी

है, उसके स्वामी डरपोक और नादान हैं और आश्रित सरदारों का मन प्रतिकूल है, अङ्गरेज़ों को महाराष्ट्र से निकाल देना कहाँ तक सम्भव है ? वह समझता था कि प्रयत्न करने पर सिन्धिया, होलकर और भोंसले फिर सम्मिलित हो सकेंगे; परन्तु यह उसका भ्रम था। उसकी महत्वाकांक्षा को कोई महत्व ही नहीं देता था। क्योंकि एक तो वह स्वयम् उच्चकुल का नहीं था, तिस पर भी स्वभाव तीखा और तेज़ था। उसे न्याय-अन्याय की पर्वाह नहीं थी, कर्तव्य का विवेक भी नहीं था और ओछा होने के कारण ब्राह्मण और मराठे सरदारों में भी उसकी प्रतिष्ठा नहीं थी। केवल हँसी-मज़ाक़ करने और भीतरी सलाहगीर होने के कारण बाजीराव पर उसका बहुत प्रभाव था। परन्तु बाजीराव, इतना नादान था कि वह त्र्यम्बक के साहस में भी विघ्न उपस्थित करने से नहीं चूकता था। अतः इन दोनों ने अपने नाश के साथ साथ छत्रपति शिवाजी महाराज की स्थापित मराठाशाही का भी नाश किया।

त्र्यम्बकजी के कारण अङ्गरेज़ों और बाजीराव में बहुत दिनों से मन-मुटाव चल रहा था। अङ्गरेज़ रेज़ीडेन्ट अच्छी तरह जानते थे कि त्र्यम्बकजी अङ्गरेज़ों का पक्का द्वेषी है; परन्तु प्रगट रीति से उस पर यह दोषारोपण करने का उन्हें साहस नहीं होता था और केवल द्वेष का प्रमाण भी क्या हो सकता है ? अतः अङ्गरेज़ भीतर ही भीतर त्र्यम्बकजी के नाश की इच्छा करते थे और किसी अवसर की बाट जोहते थे। दैवयोग से उन्हें यह अवसर गायकवाड़ी प्रसंग के कारण अकस्मात् मिल गया।

गायकवाड़ और पेशवा में खण्डनी के सम्बन्ध में बहुत दिनों से झगड़ा चल रहा था। पेशवा ने गायकवाड़ पर अपना बहुत सा कर्ज़ा निकाला था; परन्तु गायकवाड़ उलटा कहता था कि पेशवा पर हमारा कुछ कर्ज़ा निकलता है। अतः पेशवा से झगड़ा तोड़ने के लिए गायकवाड़ ने गङ्गाधर शास्त्री पटवर्धन नामक अपना एक कारभारी अङ्गरेज़ों की मार्फ़त सन् १८१४ में भेजा। शास्त्री यद्यपि बड़ोदा का दीवान था; परन्तु उसके जीवन का बहुत कुछ भाग नीचे दर्जे का काम करने में व्यतीत हुआ था। अतः ऐसे मनुष्य का वकील बन कर समानता के नाते से बातचीत करने को आना बाजीराव को पसन्द नहीं हुआ। एल्फिस्टन साहब ने एक स्थान पर इस शास्त्री का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन किया है। वे लिखते हैं:—"गङ्गाधर शास्त्री बहुत धूर्त और चतुर है। इसने बड़ोदा राज्य की व्यवस्था बहुत उत्तम कर रक्खी है। पूना में बहुत ख़र्चकर बड़े ठाठ से रहता है और अपनी सवारी इस सजधज से निकालता है कि लोगों से देखते ही बन आता है। यद्यपि वह पुराने ढंग का है तो भी ठेठ अङ्गरेज़ों के समान रहने का अभिमान करता है। जल्दी जल्दी चलता है और शीघ्रता से बोलता है। चाहे जिसे लोटकर जवाब दे देता है। पेशवा और उनके कारभारी को मूर्ख कहता है। "डेम-रास्कल" शब्द उसकी ज़बान पर रहते हैं। बातचीत में बीच बीच में अङ्गरेज़ी शब्दों का भी प्रयोग कर देता है।" गायकवाड़ की ओर से अङ्गरेज़ों के द्वारा झगड़ने को ऐसे मनुष्य का आना बाजीराव के दरबार में अप्रसन्नता का कारण होना एक सहज बात है। गङ्गाधर शास्त्री को पूना में हिसाब लेते-देते और बातचीत करते

ख़ून का सन्देह त्र्यम्बकजी पर होना और उसका बाजीराव तक पहुँचना स्वाभाविक था; परन्तु अङ्गरेज़ों ने ऊपरी दिखाऊ ढङ्ग से बाजीराव पर इसका उत्तरदायित्व न डाल कर त्र्यम्बकजी पर ही सन्देह रक्खा और यदि बाजीराव अङ्गरेज़ों के कहते ही तुरन्त त्र्यम्बकजी को उनके अधीन कर देते तो बाजीराव के प्रति अङ्गरेजों का मन निर्मल हो गया होता।

इस ख़ून पर एक दूसरी दृष्टि से और विचार करना उचित है। वह यह कि यद्यपि शास्त्री पेशवा और गायकवाड़ के विवाद को निपटाने के लिए गायकवाड़ की ओर से अङ्गरेज़ों की उत्तेजना प्राप्त करने के निमित्त आया था; परन्तु उसके निज के शत्रु भी बहुत थे। शास्त्री गर्विष्ठ और महत्त्वाकांक्षी था और उसे गायकवाड़ का पक्ष सत्य सिद्ध कर देने से ही सन्तोष नहीं था; परन्तु वह स्वयम् पेशवा का कारभार बनना चाहता था। इस सम्बन्ध में एक "बखर-लेखक" (इतिहासकार) ने लिखा है कि "आगे गङ्गाधर शास्त्री बडोदा से यहाँ आया। इस कारण कलह का प्रारंभ हुआ। दो चार माह बाद प्रभु (पेशवा) के कारभारी सदाशिव माणकेश्वर और समुद्र पार रहनेवालों (अङ्गरेज़ों) की ओर के मोदी सेठ को निकाल कर स्वयम् कारभार करने की उसकी इच्छा हुई। इस पर मोदी ने आत्महत्या करली। अतः प्रभु (पेशवा) को बहुत बुरा मालूम हुआ।" दूसरे शास्त्री अपने निज के एक झगड़े को लेकर भी पूना आया था। कहा जाता है कि इसी झगड़े के प्रतिपक्षियों ने पण्ढरपुर में इसका ख़ून किया और इसका प्रमाण बड़ोदा के पटवर्धनी दफ़्तर के बहुत से कागज़ों में मिलता है। इस सम्बन्ध में कुछ वर्षों

पहिले मराठी केसरी में एक पत्रमाला प्रकाशित हुई थी। उस समय केसरी के सम्पादक, इस ग्रन्थ के मूल लेखक, नरसिंह चिन्तामणि केलकर थे। वे विश्वासपूर्वक कहते हैं कि वे पत्र शास्त्री पटवर्धन के दफ़्तर में काम किये हुए एक पदवीधर द्वारा प्राप्त हुए थे। एल्फिंस्टन साहब के पत्र पर से भी यह बात सिद्ध होती है कि खून के पहले त्र्यम्बकजी और शास्त्रीजी में गाढ़ी मैत्री होगई थी। किम्बहुना, इस बात का प्रयत्न चल रहा था कि शास्त्री को वश में लाकर उन्हें पेशवाई के कारभारी पद का लोभ दिखाया जाय जिससे वे हिसाब में बेईमानी से गायकवाड़ की हानि और पेशवा का लाभ कर सकें तथा यह भी निश्चित किया गया था कि बाजीराव की साली के साथ नासिक में शास्त्री जी का विवाह तुरन्त कर दिया जाय। शास्त्रीजी का यह व्यवहार एल्फिंस्टन साहब को भी अखरा और उन्होंने स्पष्टता पूर्वक शास्त्रीजी से कह दिया कि तुम्हारा यह व्यवहार गायकवाड़ के वकील बनकर आना और फिर पेशवा के कारभारी हो जाना अच्छा नहीं है। अतः शास्त्री ने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इसके सिवा त्र्यम्बक जी और शास्त्री में भेद होने के और कोई उचित कारण नहीं दिखाये गये। गोविन्दराव, बंडोजी प्रभृति शास्त्री के शत्रु पूना पहुँचकर फिर वहाँ से पण्ढरपुर गये थे। उस समय शास्त्री का खून करने का हल्ला उठने से पेशवा ने उनकी रक्षा के लिए पहरे आदि का उचित प्रबन्ध किया था। ये सब बातें छिपी नहीं थीं। एल्फिन्स्टन साहब का कहना है कि शास्त्री के खून का यह हल्ला त्र्यम्बकजी ने जान बूझ कर फैलाया था और पेशवा का उस पर विश्वास

भी नहीं था; परन्तु तोभी वे ऊपरी ढङ्ग से ऐसा प्रकट करते थे मानो इसे सत्य मानते हों; परन्तु एल्फिंस्टन साहब की इस बात के सुबूत कुछ अधिक नहीं हैं।

शास्त्री के पक्षपाती और पृष्ठपोषक बापू भैराल ने शास्त्री के ख़ून के बाद जो समाचार एलिफन्स्टन को लिखकर भेजे थे, उनमें लिखा था कि "ख़ून हो जाने के दूसरे दिन शास्त्री के कर्मचारी ने त्र्यम्बक जी के पास जाकर कहा कि आप शास्त्रीजी के स्नेही और पेशवा के कारभारी हैं, अतः आपको इस ख़ून का पता लगाना चाहिए।" इसपर त्र्यम्बकजी ने उत्तर दिया कि "मैं तो प्रयत्न करता ही हूँ; पर सन्देह किस पर किया जाय, कुछ पता नहीं लगता।" कर्मचारी ने कहा कि "आपको यह मालुम ही है कि शास्त्री के शत्रु कौन कौन हैं। मालूम होता है कि इस कार्य में उन कर्नाटकवालों का हाथ रहा होगा।' त्र्यम्बकजी ने कहा—"होनहार टलती नहीं है। एक तो प्रभु सीताराम हैं और एक गायकवाड़ में से तुमने कान्होजी गायकवाड़ को कर्नाटक में रक्खा है; परन्तु इनमें से किसी एक पर सन्देह किस प्रकार किया जाय ? तोभी मैं प्रयत्न करता हूँ।" बापू भैराल की ये सब बातें रेज़ीडेण्ट ने एलिफन्स्टन साहब को लिखकर भेजी थीं; परन्तु लिखने वाले ने ऐसा ध्वनित कहीं नहीं किया है कि यह ख़ून त्र्यम्बकजी ने कराया है। बड़ोदा के बण्डोजी और भगवन्तराव पर शास्त्री के पक्षवालों का सन्देह था; परन्तु वे क़ैद नहीं किये गये और पंढरपुर में साहब के मतानुसार इस ख़ून का पता लगाने की खटपट जैसी चाहिए वैसी नहीं की गई। अतः एलिफंस्टन साहब ने इस पर से अब यही निश्चय किया कि इस अपराध में त्र्यम्बकजी का

हाथ रहा होगा और इसी सन्देह पर आगे की कार्रवाई की इमारत उठाई गई। इतिहासकार ने लिखा है—"जलचरों (अङ्गरेज़ों) ने प्रभु पेशवा) से कहा कि शास्त्री से आपके लोगों ने दग़ा किया है, इसलिए उन लोगों को हमारे अधीन करो। तब प्रभु (पेशवा) ने बहुत ही सङ्कटपूर्वक त्र्यम्बकजी डेंगल को अङ्गरेज़ों के अधीन कर दिया।" गङ्गाधर शास्त्री के ख़ून के सम्बन्ध में जो वर्णन ऊपर किया गया है वह यदि सत्य माना जाय, तो यह सहजही समझ में आजायगा कि त्र्यम्बकजी को अङ्गरेज़ों के अधीन करने में बाजीराव को क्यों कष्ट होता था। त्र्यम्बकजी अङ्गरेज़ों का द्वेषी होने के कारण एल्फिन्स्टन साहब के मन में खटकता था; परन्तु वे केवल इसी कारण से उसे अपने अधीन करने के लिए बाजीराव से नहीं कह सकते थे और यदि कहते भी तो बाजीराव भी उन्हें स्पष्ट उत्तर दे देते। राजकीय प्रतिपक्षी पर ख़ून का आरोप करना आग उभाड़ने के लिए एक उत्तम साधन है। यदि यह साधन अनायास ही कर्म-धर्म संयोग से प्राप्त होजाय, तो चतुर नीतिज्ञ उससे लाभ उठाने में नहीं चूकते। यह एक सर्वदेश और सर्वकाल की अनुभव-सिद्ध बात है। मालूम होता है कि इसी तरह की यह भी एक घटना हुई होगी; क्योंकि शास्त्रीजी के पक्षपातियों को ख़ून के सम्बन्ध में त्र्यम्बकजी पर सन्देह करने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल एल्फिन्स्टन साहब का ही उनपर सन्देह था और इसी संदेह पर अङ्गरेज़ों ने बाजीराव को चुंगल में ले लिया।

पूना-निवासियों के मतानुसार भी त्र्यम्बकजी पर बाजीराव का बहुत विश्वास था और इसीलिए उन्होंने त्र्यम्बक

जी को बड़े कष्ट से अङ्गरेज़ों के अधीन किया था। त्र्यम्बकजी ने अङ्गरेजों की क़ैद से भाग जाने का साहस-पूर्ण प्रयत्न किया। तब तो उस पर उनका और भी अधिक विश्वास होगया और वे समझने लगे कि यह परा-क्रमी पुरुष अवश्य अङ्गरेज़ों की चंगुल से हमें छुड़ा-येगा। अतः उन्होंने त्र्यम्बकजी को गुप्त सहायता देने का और सिंहगढ़, रायगढ़ आदि क़िलों पर युद्ध-सामग्री-संग्रह करने का प्रारम्भ किया। इस तैयारी को देखकर अङ्गरेज़ों का सन्देह स्वभावतः दुगुना होगया और वे कहने लगे कि त्र्यम्बक जी श्रीमन्त से फूलगांव में आकर गुप्तरीति से मिलता है और पूना के आसपास जिन पिण्डारी सवारों की टोलियाँ फिरा करती हैं वे वास्तव में त्र्यम्बक जी के आश्रित सवारों की टोलियाँ हैं तथा पिण्डारियों पर श्रीमन्त की अप्रसन्नता नहीं है।" अङ्गरेज़ों के इस आरोप के समान ही लोगों का भी विश्वास था और त्र्यम्बकजी को बाजीराव का आश्रय होने के कारण उसके आने जाने के समाचार भी लोग छिपाते थे; अतः अङ्गरेज़ों ने यही निश्चय किया कि बाजीराव पर विना शस्त्र उठाये त्र्यम्बकजी हाथ नहीं लगेगा। सन् १८१७ के मई मासके लगभग एल्फिंस्टन साहब, जनरल स्मिथ को पूना लाये और एक चिठ्ठी बाजीराव के पास भेजी कि "एक मास के भीतर त्र्यम्बकजी को हमारे अधीन करो और उसकी ज़ामिन के तौर पर रायगढ़, सिंहगढ़ और पुरन्दर के क़िले शीघ्र हमारे सुपुर्द करो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो तुमपर आक्रमण करने के लिए सेना को आज्ञा दी जायगी।" बाजीराव तो पहले से ही बड़े सोच-विचारमें पड़ा हुआ था, फिर उसके आश्रय में रहने वालों ने

स्वभाव प्रायः प्रत्येक बात के सम्बन्ध में टालमटोल करने और इस तरह समय निकाल देने का था। इसी तरह इस सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत कुछ समय तो निकाल दिया और जब मुहूर्त का एक आध दिन ही रह गया तब बाजीराव के कर्मचारी प्रभाकरपन्त जोशी और बापू फड़के ने साहब के पास एक दो बार जाकर, बाजीराव से नासमझी के कारण, झूठ ही यह कह दिया कि साहब ने विचार करने के लिए दो दिन का समय और दिया है। बाजीराव इन दो दिनों के विश्वास में थे कि उधर एल्फिंस्टन ने ता० ७ मई के प्रातःकाल तक बाजीराव के उत्तर की बाट जोही और तारीख़ ८ का उदय होते ही पूना से दो मील की दूरी पर चारों ओर सेना का घेरा डालकर नाकेबन्दी की; अतः लाचार होकर बाजीराव को त्र्यम्बक के पकड़ाने का विज्ञापन निकाल कर तीनों क़िले अङ्गरेज़ों के अधीन करने की चिट्ठी देना पड़ी। तब स्मिथ साहब ने घेरा उठाया और एल्फिंस्टन साहब अपने स्थान सङ्गम को लौट गये।

इतना सब कुछ होजाने पर भी बाजीराव को समाधान नहीं हुआ। वह पूना से बाहर निकल जाने का विचार करता और बाड़े के पास सेना को सदा तैयार रखता था। खोटी सलाह देने वाले कहते थे कि सिन्धिया, होल्कर, भोंसले और अमीरखाँ की सहायता से सरकारी सेना अङ्गरेज़ी फ़ौज के छक्के छुड़ा देगी और ये बातें भोले बाजीराव को सत्य मालूम होती थीं। परन्तु वह यह भी समझता था कि नाज़ुक काल समीप होने पर इतनी दूर से सेना की सहायता मिलना असम्भव है; अतः उसने ऊपर से सन्धि और भीतर से सेना एकत्रित करने का विचार किया।

मोरोदीक्षित के द्वारा संधि की शर्तें तय हुईं जिसमें पहले की बसई और पूने की संधियों का समर्थन करने के सिवा यह ठहराव किया गया कि "राजा, सरदार आदि के वकील आदि बाजीराव अपने दरबार में न रक्खें। इनसे जो कुछ बातचीत करनी हो, अङ्गरेज़ी वकील के द्वारा की जाय। अङ्गरेज़ों से स्नेह रखने वाले करवीरकर, सावन्तवाड़ीकर प्रभृति पर बाजीराव अपना कुछ अधिकार प्रगट न करें और सिन्धिया, होलकर प्रभृति का राज्य जो नर्मदा और तुङ्गभद्रा के बीच में हो उसपर भी बाजीराव अपना अधिकार प्रगट न कर सकें। बाजीराव को अपने यहाँ अङ्गरेज़ों के पाँच हज़ार सवार, तीन हज़ार पैदल, तोपखाना और अन्य सामान सदा रखना और उसका ख़र्च देना होगा। इस ख़र्च के लिए जो ३४ लाख की आमदनी का प्रदेश और उसके क़िले अलग निकाल दिये हैं, उन पर पेशवा सरकार का कुछ हक़ न होगा। अहमदनगर के क़िले की सीमा के बाहर की चारों ओर की ४,००० हाथ ज़मीन और अङ्गरेज़ी सेना की छावनी के पास की चरोखर पेशवा अङ्गरेज़ों को देंगे। तैनाती फ़ौज के सिवा अङ्गरेज़ अपने ख़र्च से मनमानी सेना पेशवा के राज्य में रख सकेंगे। इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जायगी। उत्तर भारत का अधिकार और शासन पेशवा अङ्गरेज़ों के अधीन कर देंगे और सन्धि की शर्तों की सत्यता के विषय में विश्वास दिलाने के लिए त्र्यम्बकजी के बालबच्चे अङ्गरेज़ों के सुपुर्द करने होंगे।"

इस सन्धि से बाजीराव के हाथ-पाँव तो ख़ूब जकड़ गये; पर अङ्गरेज़ों के पञ्जे से छूटने की उसकी इच्छा नष्ट नहीं

हुई । बाजीराव न मालूम किसके बल पर लड़ना चाहता था; पर इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध करने की उसकी पूर्ण इच्छा थी । ऊपर लिखी हुई सन्धि हो जाने पर जब पुरन्दर, सिंहगढ़ और रायगढ़ के क़िले उसे वापिस मिले, तो उसने अपने जवाहिरात, धन-दौलत और चीज़-वस्तु सिंहगढ़ को तथा अपनी बड़ी स्त्री और घर की देव-मूर्तियाँ आदि रायगढ़ को भेज दीं और आप स्वयम् पहले पण्ढरपुर में और फिर अधिक-श्रावण मास होने के कारण माहुली में जाकर रहे । वहाँ फिर आगे के युद्ध की सलाह और जमाव होना शुरू हुआ ।

इधर पिण्डारियों की धूमधाम चल ही रही थी । अतः उनका प्रबन्ध करने के लिए जनरल मालकम हैदराबाद से १८१७ के अगस्त मास में पूना आये और जब यह देखा कि पेशवा पूना को नहीं आते हैं तो आप स्वयम् बातचीत करने के लिए माहुली को गये और बाजीराव से कहा कि "पिण्डारियों का प्रबन्ध करने के लिए अङ्गरेज़ी फ़ौज जा रही है, आप भी अपनी सेना दीजिए ।" बाजीराव सेना एकत्रित करना ही चाहता था; अतः उसे अनायास ही यह अवसर मिल गया और इससे लाभ उठाकर उसने सेना की भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया । बाजीराव की इच्छा थी कि मेरे कार्य में सतारा के महाराज भी सम्मिलित हों; क्योंकि उनके नाम से सरदारों से जितनी सहायता मिलने की आशा थी उतनी बाजीराव के नाम से नहीं थी । सतारा के दरबार में इस विषय पर दो मत थे । परन्तु अन्त में बाजीराव की इच्छा पूर्ण हुई और यह निश्चय हुआ कि महाराज के लश्कर सतारा के क़िले पर गये और महाराज बाजीराव

के साथ रहें। भाद्रपद मास में बाजीराव पूना लौट आये और अपने २००० सवार स्मिथ साहब के सहायतार्थ उत्तर भारत को रवाना किये। यद्यपि बाजीराव के इतने निजी सवार उनके पास से दूर होने वाले थे; पर साथ में जो अङ्गरेज़ी सेना जा रही थी वह भी दूर होती थी तथा इस काम से बाजीराव सन्धि पालने के लिए तन-मन से तैयार हैं-यह भी ऊपरी ढङ्ग से प्रगट होता था। ऊपर तो मोरदीक्षित तथा फोर्ड साहब के द्वारा अङ्गरेज़ों से सफ़ाई की बातचीत होती थी; परन्तु भीतर ही भीतर बापू गोखले के द्वारा झगड़ा करने की तैयारी हो रही थी। अन्त में सब सरदारों को मिलाने के प्रयत्न शुरू हुए और एक करोड़ रुपयों के व्यय से सैनिक सामान संग्रह करना निश्चित हुआ। धुलप के द्वारा सैनिक जहाज़ों की मरम्मत कराई जाने लगी, क़िलों पर अनाज भरा गया और सेना की भर्ती होने लगी। पेशवाई के कितने ही कारभारियों को अङ्गरेज़ों से बिगाड़ करना उचित प्रतीत नहीं होता था। ऐसा मालूम होता है कि बाजीराव की अपेक्षा वे अपने पक्ष के बलाबल को अच्छी तरह जानते होंगे। कुछ भी हो; पर उनका मनो-देवता कहता था कि इस समय बाजीराव की बुद्धि ठिकाने नहीं है। इधर बाजीराव के निज के अनाचार भी कम नहीं हुए थे, वे भी बराबर जारी थे। एक बार पूना में यह जन-श्रुति भी उड़ी थी कि "बाजीराव ने अपनी एक प्रिय स्त्री को पुरुष का वेश करा और जवाहिरात पहिना कर गादी पर बैठाया और स्वयम् श्रीमन्त ने (बाजीराव पेशवा ने) उसके सेवक बनकर उस पर चँवर करने का खेल खेला।" इस पर लोगों ने यह कहना शुरू किया कि "श्रीमन्त का अब

पूर्ण दुर्दैव आ गया है जिसके कारण जो दुराचार किसीने नहीं किये उन्हें वे कर रहे हैं।" अङ्गरेज़ों से अन्तिम सामना कर राज्य नष्ट करने के अवसर पर केवल एक बापू गोखले पर अवलम्बित होना उचित नहीं था और न बाजीराव में ऐसे समय जिन उद्योग, आवेश और गाम्भीर्य आदि गुणों की आवश्यकता होती है वे ही नहीं थे। लोगों को यह सब साफ़ दिखाई दे रहा था।

पेशवा समझते थे कि अङ्गरेज़ों से बिगाड़ करने में सिन्धिया हमारे सहायक होंगे, परन्तु यह उनका भ्रम था। क्योंकि एक तो सिन्धिया सन्धि के कारण पहले ही जकड़े हुए थे, अतः बिगाड़ होने पर पहला तड़ाका लगने का उन्हीं को भय था। दूसरे पन्द्रह वर्ष पहले सिन्धिया पूना में उथल पुथल कर जब उत्तर भारत को चले गये थे तब से वह पेशवा से अलग अलग रहते थे। फिर सिन्धिया तथा बाजीराव में प्रेम रहने का कोई कारण भी नहीं था। सन १८१२ में सब मराठों का मिलकर अङ्गरेज़ों को हानि पहुँचाने की कल्पना सदा के लिए नष्ट हो चुकी थी। इधर अङ्गरेज़ों ने जब देखा कि बाजीराव सिर उठाने वाला है तो उन्होंने पिण्डारियों का नाश करने के बहाने सिन्धिया से तारीख़ ५ नवंबर सन् १८१७ को बारह शर्तों की एक नवीन सन्धि की और होल्कर तथा भोंसले के यहाँ भी नई शर्तों का कुछ सिलसिला जमाया; परन्तु यहाँ जैसा चाहिए वैसा कुछ नहीं हुआ। मालूम होता है कि अङ्गरेज़ों की सेना को बहकाने का भी प्रयत्न किया गया था। इतिहासकार ने लिखा है कि "विनायक धोंडो, वामन भटवर्य, और शङ्कराचार्य स्वामीजी ने अङ्गरेज़ों की सेना में धड़-पकड़ कराने की सलाह दी और

कुछ रक़म लेकर षड्यन्त्र करने के लिए गये।" न मालूम इस समय कितने लोगों ने बाजीराव से इसी षड्यन्त्र के बहाने कितने रुपये ठगे? सोंडूरकर यशवन्त घोरपड़े ने इसी सलाह के लिए ५० हज़ार रुपये लिये और इस सलाह को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा की। परन्तु, ग्रांट डफ़ साहब ने लिखा है कि यह भीतर ही भीतर सब समाचार एलफिन्स्टन साहब को पहुँचाता था। बाजीराव की इच्छा थी कि एक दिन एलफिंस्टन साहब को मिहमानी के लिए बुलाकर उनका ख़ून किया जाय या त्र्यम्बकजी के आश्रित रामोशियों के द्वारा किसी रात्रि को यह कार्य कराया जाय; परन्तु कहा जाता है कि बापू गोखले के विरोध करने से यह आसुरी कृत्य न हो सका। बाजीराव चाहता तो यह था कि अङ्गरेज़ों की सेना में विद्रोह उत्पन्न हो; परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि मेरे आश्रित लोगों के विद्रोह ने कैसा भयङ्कर रूप धारण कर रक्खा है। पेशवा के बाड़े में जो गुप्त सलाहें होती थीं वे तुरन्त ही अङ्गरेज़ों के पास पहुँच जाती थीं। जिन्होंने प्रत्यक्ष में अङ्गरेज़ों की नौकरी स्वीकार कर ली थी वे बालाजी पन्त नाथ सरीखे मनुष्य तो बाजीराव के विरुद्ध थे ही; परन्तु जो बाजीराव के आश्रय में रहकर उसका वेतन लेते थे वे भी उसपर अप्रसन्न होने अथवा रिश्वत लेने के कारण भीतर ही भीतर अङ्गरेज़ों से मिले थे। बाजीराव यह अच्छी तरह जानता था कि लोग मुझसे अप्रसन्न हैं; अतः उसने जिन लोगों की जागीरें ज़ब्त कर ली थीं वे उन्हें वापस कर दीं और सब लिखित अधिकार बापू गोखले को देकर अपने पर अविश्वास करने वाले सरदारों को विश्वास का प्रत्यक्ष आश्वा-

सेन दिया; परन्तु पटवर्धनादि बूढ़े बूढ़े सरदारों की अप्रसन्नता वह दूर नहीं कर सका। क्योंकि जप्त हुई जागीरें वापस करने का आग्रह कर एल्फिंस्टन साहब ने पटवर्धनादि बहुत से सरदारों को अपना ऋणी और स्नेही बना लिया था।

बाजीराव और एल्फिंस्टन साहब की भेंटें बारम्बार होती थीं। ये दोनों ही बड़े मिठ बोले थे। अतः इसकी कल्पना हर एक कर सकता है कि ये दोनों भरोसा और सफ़ाई की बातें किस प्रकार करते रहे होंगे? इन दोनों की अन्तिम मुलाक़ात ता० १४ अक्टूबर सन् १८१७ को हुई जिसमें बाजीराव ने दशहरा होकर पिण्डारियों पर की हुई चढ़ाई के लिए अङ्गरेज़ों के सहायतार्थ सेना भेजना स्वीकार किया। दशहरा के दिन एल्फिंस्टन साहब और बाजीराव सदा के समान मिलकुल गये और वहाँ सेना की सलामी लेने को दोनों खड़े हुए; परन्तु नारोपन्त आपटे के सवारों ने कुछ अभिमान-पूर्ण व्यवहार किया और फिर दोनों ने भी जैसी चाहिए वैसी प्रकार में सलामी नहीं की। दोनों शहर लौट आये। बस, यहीं से बिगाड़ होना आरम्भ हुआ और वह दिन पर दिन शीघ्रता से बढ़ता गया। तारीख २५ अक्टूबर से पूना में चारों ओर से सवार और सिपाही एकत्रित होने लगे और अङ्गरेज़ों की छावनी के आसपास पेशवा की सेना की टुकड़ियाँ डेरा डाल कर रहने लगीं। तब टोप पर के अङ्गरेज़ों ने अपनी स्त्रियाँ दापोड़ी को भेज दीं और बम्बई से गोरे सिपाहियों की पलटन बुलाने का प्रयत्न किया। उनके आ जाने पर उन्हें गारपिर की छावनी में न रहने कर खड़की में ठहराया। आश्विन कृष्ण ८ के दिन विश्वासराव नायक

ने गणेश खिण्डो के नज़दीक लेफ्टिनेएट शा नामक गोरे अधिकारी को भाला भोंक दिया तथा जब अङ्गरेज़ों की सेना गारपिर की छावनी तोड़ कर खड़की को जा रही थी तो मराठी फ़ौज ने उनका पड़ाव लूट लिया। पहले तो छेड़ छाड़ शुरू करने का दोष एक दूसरे पर मढ़ने के प्रयत्न दोनों ओर से हुए; परन्तु अन्त में तारीख़ ५ को युद्ध प्रारम्भ हुआ। बाजीराव निकल कर पर्वती पर चला गया और एल्फिंस्टन भी सङ्गम पर वकील की इमारत की रक्षा होना कठिन जान सब आदमियों के साथ खड़की को गया। शहर में धूमधाम शुरू हुई। चतुःशृङ्गी के पर्वत से लेकर भाँबुर्डा तक घोड़ों की टापों और तोपों की गाड़ियों की आवाज़ के सिवा कुछ भी सुनाई नहीं देता था। पहले दिन के आक्रमण में पेशवा के घुड़सवारों की विजय हुई; परन्तु पैदल सेना की सहायता समय पर न मिलने के कारण अन्त में उन्हें हारना पड़ा। बाद बापू गोखले ने स्वतः आक्रमण किया; परन्तु उन्हें भी पीछे हटना पड़ा। दूसरे दिन मराठी सेना के भाग खड़ो होने से उसका ही नाश हुआ और खड़की की लड़ाई में अङ्गरेज़ों की जय हुई। नारोपन्त, आपटे, माधवराव, रास्ते, आबा, पुरन्दरे, पटवर्धन आदि में से कुछ सरदार बापू गोखले के सहायतार्थ थे; परन्तु अङ्गरेज़ों की ओर से तोपों की मार शुरू होने के कारण मराठी फ़ौज को निरुपाय हो कर पीछे हटना पड़ा। पेशवा की ओर के मोरदीक्षित, प्रभृति कुछ प्रतिष्ठित पुरुष भी मारे गये। यद्यपि पेशवा के सिपाहियों ने सङ्गम पर का अङ्गरेज़ी बँगला जला दिया और लूटा भी, पर मुख्य युद्ध में हारने के कारण और घोड़ों आदि की ख़राबी होने के कारण बहुत

नुक़सान पेशवा का ही हुआ । बाजीराव २००० सवारों के साथ पर्वती पर थे । वहाँ से उन्होंने मन्दिर की छत पर से खड़की का युद्ध देखा और लड़ाई का अन्त होने के पहले ही उसके रङ्गढङ्ग को देखकर वे सवारों के साथ सासवड़ को भाग गये । लड़ाई के पहले जब पर्वती को जाने के लिए वह शुक्रवार के बाड़े में से निकला उस समय उसके जरी के निशान का डंडा टूट गया और अन्त में इस टूटे हुए डंडे ने अपना गुण दिखलादिया अर्थात् बाजीराव ने शुक्रवार के बाड़े में से जो एक बार पाँव बाहर रक्खा वह फिर भीतर नहीं हुआ । बाजीराव फिर पूना न देख सके ।

खड़की के युद्ध में अङ्गरेज़ों को जय मिलने पर भी अङ्गरेज़ी सेना खड़की ही में टिकी हुई थी; क्योंकि एलफ़िंस्टन साहब जनरल स्मिथ की बाट देख रहे थे । जनरल स्मिथ और एलफिंस्टन से यह सङ्केत होचुका था कि जिस दिन तुम्हें पूना की डाक न मिले उसी दिन तुम समझना कि युद्ध प्रारम्भ हो गया है और घोड़ नदी पर से अपनी सेना लेकर तुरन्त पूना पर आक्रमण कर देना । तारीख ५ नवम्बर की डाक चूकते ही स्मिथ साहब फ़ौज लेकर रवाना हुए । रास्ते में मराठे सवारों की सेना ने उन्हें बहुत कष्ट दिया । तारीख़ १२ को वे पूना पहुँचे । तारीख़ १५ और १६ को उनकी सेना और मराठों सेना के साथ घोरपड़ी नदी पर युद्ध हुआ । तारीख़ १६ की रात्रि को पेशवा की बची हुई सेना पीछे हटी और बापू गोखले आदि सरदारों के साथ उसने सासवड़ का रास्ता पकड़ा । तारीख़ १७ को एल्फिंस्टन और स्मिथ साहब ने बालाजीपन्त नातु प्रभृति लोगों के साथ पूना में प्रवेश किया और उसी दिन कार्तिक शुक्ल ६ सोम-

वार को तीसरे पहर से शनिवार के वाड़े पर अङ्गरेज़ों का निशान फहराने और मानो यह प्रगट करने लगा कि अब मराठेशाही का अन्त हो गया।

बाजीराव के भाग जाने के कारण पूना चारों ओर से खाली हो गया था। जब स्वयम् स्वामी और उनके साथी मुख्य मुख्य सरदार भी देश को छोड़ गये थे तो फिर पूना का बचाव कौन करता? यदि बाजीराव जनता को प्रिय होते तो उनके पीछे पूना की रक्षा करने के लिए जनता ने भी कुछ प्रयत्न किया होता; परन्तु बाजीराव ने कब इस पर विचार किया था? उन्होंने न तो कभी अपना बलाबल देखा और न कभी किसी को प्रसन्न रक्खा। यद्यपि उनके पास सेना और रसद बहुत थी और बापू गोखले के समान शूर सिपाही भी थे; परन्तु उनकी सेना न तो सुशिक्षित थी, न उसका उचित प्रबन्ध था, न वह अस्त्र-शस्त्र से पूर्ण सुसज्जित ही थी, और न उसमें शासन और पद्धति ही थी। इसके सिवा लोगों की सहायता भी न थी। केवल ठगविद्या और उद्दण्डता थी। ख़ैर, खड़की की लड़ाई का अन्त होने के पहले ही बाजीराव ने भागना प्रारम्भ कर दिया और उनके समाप्त होने पर पुरन्दरे, गोखले आदि सरदार भी भाग कर बाजीराव से जा मिले। पहले तो इन सरदारों को बाजीराव का पता ही नहीं लगा; पर अन्त में ढूँढ़ते ढूँढ़ते सासवड़ में जाकर बाजीराव मिले। वहाँ से सब मिलकर पहले जँजूरी को और फिर माहुली को गये। लगभग छः माह तक बाजीराव के भागने का यह क्रम रहा कि वह आगे और अङ्गरेज़ी सेना उसके पीछे रहती थी। इस समय पूना में जो कुछ हुआ

उसका वर्णन इतिहासकार की फुटकर, किन्तु ओजस्विनी भाषा में, यहाँ दिया जाता है।

"शक १७३९ की आश्विन बदी ११ से पौष मास के अन्त तक पूना में खूब धूमधाम रही। बाजीराव के भाग जाने पर शहर की नाकेबन्दी की गई; परन्तु इससे लोगों की रक्षा न हो सकी। पेशवा के जितने ही राजवाड़ों की डेवढ़ी पर सिवा सिपाहियों के और कोई नहीं रहा। बाळाजीपन्त नाथ ने इन पहरेदारों को भी निकाल दिया और कहा कि अपने स्वामी के जाने के बाद तुम जाना अभी तुम्हारे लिए कुछ काम नहीं है। तब इस पर वे लोग अपना सामान और अस्त्र-शस्त्र लेकर चले गये। इन लोगों में कुछ ऐसे भी थे जो सिर देकर पड़े रहे, हटे नहीं। तब इन्हीं लोगों से वाड़े के प्रबन्ध का काम कराया गया। पूना में प्रति रात को तोप छूट कर नाकेबन्दी होने की रीति थी। तदनुसार पहले दिन तोपें छोड़ने की आज्ञा दी गई; परन्तु उस दिन यह स्थिति थी कि गोलन्दाजों के पास न तो बारूद थी और न बारूद ठूँसने के गज। दूसरे दिन बारूद आदि का प्रबन्ध कर तोपें छोड़ने का कार्य प्रारम्भ किया गया। केवल कतल की रात के दिन तोप नहीं छोड़ी गई और मिलने वालों को तथा ताजिया वालों को खेलने और जुलूस निकालने की इजाज़त दी गई। साहब ने अपने पहरुओं को आज्ञा दे दी थी कि इन लोगों से कोई न बोले और जैसी चाल चली आई हो उसी के अनु-सार काम करने दिया जाय। इस प्रकार की डुंडी फिराई गई कि [illegible] की पहले की लूट की जिनके पास जो चीज़ें हों, छोड़ दी जायँ। तब जमातों की दफ्तर के पास

लूटे हुए माल का ढेर हो गया। राज्य-क्रान्ति के समय चोरों को इस प्रकार के अवसर मिलते ही हैं। साहब ने एक सूचना शहर की कोतवाली पर लगा दी कि सब लोग उद्यम-व्यापार करें, दङ्गा-फसाद न करें। किसी प्रकार का नवीन कर आदि नहीं बैठाया जायगा। परन्तु व्यापार-उद्यम किसे सूझता था? सबको यही चिन्ता थी कि जो कुछ है वह किस प्रकार बचाया जाय? पूना में डाँके पड़ने लगे। अपराधियों को भय दिखलाने के लिए मालमता सहित पकड़े हुए कुछ चोरों को फाँसी भी दी गई; परन्तु उससे भी काम नहीं चला। तब सब लोग मिलकर एल्फिंस्टन साहब के पास गये। साहब की नज़र करने के लिए कोई शकर और कोई बादाम ले गये थे। हरेश्वर भाई अगुआ थे। साहब ने कहा कि 'प्रसन्नता से रहो। तुम्हारे स्वामी शीघ्र आवेंगे; हम तुम्हारे स्वामी को लेने जाते हैं।' हरेश्वर भाई और बालाजीपन्त नाथ से कहा गया कि नये आदमी नौकर रखकर नगर का प्रबन्ध करो। साहब भी ऐसे समय में चोरों का प्रबन्ध कहाँ तक कर सकते थे। साहब से कहने गयेतो साहब ने कहा कि 'उस कू लयाव, हम फाँशी देयेंगा।' पहले चोर पकड़ा भी तो जाय फिर उसे फाँसी दी जाय? व्यापारियों ने कहा 'साहेब वो कैसे सांपडेगे?' अर्थात् साहब वह कैसे पकड़े जावेंगे। साहब ने उत्तर दिया "तो हम क्या करें? चोर उपर हम जाते नही।" यह उत्तर सुनकर व्यापारी रोते रोते घर लौट आये और अपनी ओर से वेतन देकर पहरेवाले नौकर रख अपना प्रबन्ध आप करने लगे।"

एल्फिंस्टन साहब द्वीप छोड़ कर गारपिर में छावनी डाल कर रहते थे और वहीं से उनका काम चलता था।

उनकी छावनी पर भी पत्थर फिंकते थे और सौ-पचास रामोशी मिलकर जो कोई मिलता उसे लूट लेते थे। इस-लिए रात भर गश्त दी जाती थी। अन्त में अर्जुनी नायक रामोशी ने शहर में डाँके न पड़ने देने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली। तब उसे पगड़ी बँधाई गई।

कार्तिक बदी ३ से पूना में बाजीराव के सम्बन्ध में प्रतिदिन एक दूसरे के विरुद्ध बेसिरपैर की नई अफवाहें फैलने लगीं। उनके फैलानेवाले तथा सुनकर विश्वास करनेवाले भी ऐसे बहादुर होते थे कि वे कहने-सुनने में आगापीछा सोचते ही न थे। बाजीराव जीते या हारे, इसकी उन्हें परवाह न थी; पर उन्हें यह विश्वास था कि बाजीराव एक बार पूना फिर आवेंगे। लोगों को यह बात निस्सन्देह मालूम होती थी कि उत्तर भारत में पहुँचने पर सिन्धिया और होलकर बाजीराव की सहायता करेंगे। जनता को दिल से यह विश्वास था कि अन्त में फिरङ्गियों की बात नीची और श्रीमन्त की ऊँची अवश्य होगी; परन्तु अन्त में ये आशाएँ व्यर्थ हुईं। पूना में कितने ही दिनों तक यह क्रम रहा कि लोग दिनभर मनसूबा बाँधते और छिप छिप कर बातें करते थे तथा रात्रि में नाकेबन्दी की तोप की आवाज़ सुनकर निराश हो जाते थे। पूना के बाहर से सिन्धिया, होलकर, भोंसले आदि के पास से जो डाक आती थी उस पर देखरेख रक्खी गई थी। यह डाक जब अङ्गरेज़ देख लेते थे तब लाई जाती थी। बाजीराव के आने के समाचारों से लोगों में बार बार हलचल हो उठती थी, अतः अङ्गरेज़ों को शहर में बारम्बार स्थान स्थान पर नाकेबन्दी करनी पड़ती थी और शनिवारवाड़े पर तोपें भी चढ़ाई गई थीं। कुछ

सरकारी भगवाँ निशान जो कोतवाली और बाज़ार के बाक़ी बच गये थे वे भी निकाल डाले गये और उनकी लकड़ियाँ उखाड़ डाली गईं। इन झंडों के पास वाले अङ्गरेज़ी निशान ही बाक़ी बच रहे। और यह ठीक भी है; भगवाँ निशान रहने देने का कारण ही क्या था? क्योंकि बाजीराव के सुख-समाधान-पूर्वक शीघ्रता से अधीन हो जाने पर उसे पूना ला कर गादी पर बैठाने का एल्फ़िन्स्टन साहब का विचार तो था ही नहीं।

तारीख़ २२ नवम्बर से जनरल स्मिथ ने बाजीराव का पीछा करना प्रारम्भ किया। इधर पूना में शान्ति हो जाने पर महाराष्ट्र के सम्पूर्ण जागीरदारों और सरदारों के नाम तारीख़ ११ फ़रवरी १८१८ को सूचना भेजकर यह कहा गया कि "बिना कारण और बिना कुछ झगड़े के पेशवा ने अङ्गरेज़ों से बिगाड़ किया; परन्तु इसके लिए अङ्गरेज़ दूसरों को हानि नहीं पहुँचाना चाहते। सबको अपने अपने स्थान पर सुखसन्तोष से रहना उचित है जिससे कि युद्ध के पहले के दिनों के समान सब अपना अपना कार्य कर सकें।" इस सूचना के कारण बाजीराव को कहीं भी अधिक सहायता न मिल सकी। सिंहगढ़ और रायगढ़ में युद्ध हुआ और सासवड़ में भी दोनों ओर से कुछ दनादनी हुई। यों तो अङ्गरेज़ों को बहुत सी छोटी बड़ी गढ़ियाँ युद्ध करके ही लेनी पड़ीं; परन्तु बाजीराव के लिए या पेशवा के लिए किसी भी सरदार या जागीदार ने सिर नहीं उठाया।

बाजीराव सासवड़ से माहुली को गया। वहाँ उसने सतारा के महाराज को कुटुम्ब सहित अपनी सेना में लाने की व्यवस्था की; परन्तु उनके आने की बाट न देख फिर

भाग खड़ा हुआ और माहुली से पण्ढरपुर, पण्ढरपुर से जुन्नर और जुन्नर से ब्राह्मणवाड़ा को गया। ब्राह्मणवाड़ा में कुछ दिन मुकाम हुआ। यहीं त्र्यम्बकजी डेंगला पेशवा से प्रगट रीति से आकर मिला। इसके रामोशी आदि साथी आसपास के पहाड़ों की खोहों में छिपे थे।। पण्ढरपुर से रवाना होने के बाद सतारा के महाराज भी पेशवा से आ मिले थे। इतने ही में जनरल स्मिथ सङ्गमनेर के पास आ पहुँचा। तब बाजीराव ने दक्षिण की ओर चल दिया। इस पर से यह जनश्रुति उड़ी कि बाजीराव पूना पर चढ़कर आता है। यह सुनते ही पूना की ओर जो कर्नल बर नामक अङ्गरेज़ सरदार था उसने घोड़ नदी से सेना बुलाई। इस सेना की और मराठी सेना की कोरेगांव में तारीख १ जनवरी १८१८ को बहुत बड़ी लड़ाई हुई। उसमें अङ्गरेज़ों को बहुत हानि हुई और उन्हें हारकर पीछे घोड़ नदी तक हट जाना पड़ा। कोरेगाँव के युद्ध में गोखले और त्र्यम्बकजी ने बड़ी भारी वीरता दिखाई; परन्तु मराठी सेना इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जनरल स्मिथ पीठ पर बैठे ही हुए थे। बाजीराव, भीमानदी से दो कोस की दूरी पर की एक टेकड़ी पर से युद्ध देख रहे थे। सतारा के महाराज भी साथ थे। उन्हें इस समय अपनी आपदागिरी को छुड़ा देकर धूप में खड़े रहना पड़ा; क्योंकि उन्हें सन्देह था कि कहीं अङ्गरेज़ गोलन्दाज आपदागिरी को देखकर गोला न मार दें।

कोरेगाँव से भी बाजीराव रवाना हुए और सातारा के बाद एक में डेरा डालकर कर्नाटक में घुसे और ... नदी पर आ पहुँचे; परन्तु जब यह सुना कि मद्रास से जन-

रल मनरो आ रहे हैं तो फिर लौटे और कृष्णा नदी को पार कर सालपाघाट से ऊपर की ओर चढ़ शोलापुर की ओर रवाना हुए। इधर जनरल स्मिथ ने तारीख़ १० फ़रवरी को सतारे का क़िला ले लिया। उस पर पहले अङ्गरेजों की और फिर महाराज की ध्वजा लगाई गईं। सतारा के महाराज पेशवा के साथ कुछ समय तक भले ही रहे हों; पर वे अङ्गरेज़ों के शत्रु नहीं माने जाते थे। इसी बीच में कलकत्ता से बाजीराव की सब व्यवस्था करने के पूर्ण अधिकार एल्फिंस्टन साहब के लिए आ गये थे। उस पर से एक विज्ञापन निकाला गया कि "पेशवा को फिर गादी नहीं दी जायगी; उनका राज्य ख़ालसा कर लिया जायगा। केवल सतारा के महाराज के लिए एक छोटा सा राज्य अलग कर उनका पद स्थिर रक्खा जायगा।"

शोलापुर से पण्ढरपुर को जाते समय आष्टी स्थान पर जनरल स्मिथ ने बाजीराव को घेर लिया। बापू गोखले ने भी स्मिथ साहब का सामना किया। दोनों ओर से बड़ी भारी लड़ाई हुई। ता: २० फ़र्वरी सन् १८१८ को बापू गोखले ने इस युद्ध में शौर्य का अन्त कर दिया और रणक्षेत्र में अपने प्राण दिये। गोविन्दराव घोरपड़े आदि सरदार भी इस युद्ध में मारे गये। पेशवा और सतारा के महाराज का साथ भी यहीं छूटा। बाजीराव ने महाराज से जैसा व्यवहार कर रक्खा था वह सतारा महाराज के मन्त्रियों को पसन्द नहीं था। अङ्गरेज़ों से युद्ध होने के दो तीन वर्ष पहले से ही उनकी गुप्त बात-चीत चल रही थी। आष्टी की लड़ाई के लगभग उस बातचीत का परिणाम निकला। महाराज भी भागते भागते उकता गये थे और अङ्गरेज़ों तथा सतारा के कारभा-

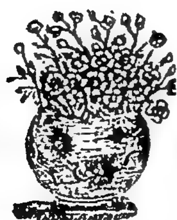
रियों के समाचार उनके पास पहुँच चुके थे। अतः युद्ध में हार होते ही वे अपनी माता के साथ बाजीराव के चक्र से स्वतन्त्र हो गये। स्मिथ साहब ने महाराज को एल्फिंस्टन साहब के सुपुर्द किया और फिर आप बाजीराव का पीछा करने को गये। आष्टी के युद्ध में बाजीराव बहुत झगड़े में पड़ गये और उन्हें पालकी छोड़कर घोड़े पर बैठ भागना पड़ा। लड़ाई खतम होने के पहले ही बाजीराव, बापूराव गोखले को छोड़कर भाग खड़ा हुआ था। वह जाकर गादा नदी के तीर पर कोपरगाँव में ठहरा। बहुत दिनों से जनश्रुति उड़ रही थी कि होलकर की ओर से पेशवा के सहायतार्थ रामदीन नामक सरदार आ रहा है। अन्त में, यह सरदार कोपरगाँव में आकर महाराज से मिला। पश्चात् सरदार ने पेशवा से आगे न जाकर यहीं से लौट जाने की आज्ञा ली और बाजीराव भी कुछ देशी और परदेशी (दक्षिणी तथा उत्तर हिन्दुस्थानी) सेना के साथ उत्तर भारत की ओर रवाना हुआ। बाजीराव को नागपुर के भोंसले से सहायता मिलने की पहले बहुत आशा थी; परन्तु दिसम्बर मास में आप्पा साहब भोंसले का पराभव कर अङ्गरेज़ों ने सीताबर्डी का किला ले लिया था; इसलिए नागपुर की ओर जाने से अब कोई लाभ नहीं था। फिर भी गणपतराव भोंसले की सहायता से चाँदा (चन्द्रपुर) तक जाने के लिए बाजीराव वर्धा नदी तक गया भी; परन्तु वहाँ भी अङ्गरेज़ों की सेना सामना करने को तैयार थी। अतः वह वर्धा नदी के पश्चिम की ओर पाँढरकवाड़ा को और वहाँ से शिवनी को गया। वहाँ से उसके भाई चिमाजीआप्पा और देसाई निपाणकर तथा नारोपन्त आपटे आदि सरदार दक्षिण को लौट गये और

तुरन्त जनरल स्मिथ के अधीन हो गये। सिवनी से बाजीराव उत्तर की ओर मुड़ा और तारीख़ ५ मई को उसने ताप्ती नदी पार की। यहाँ से नर्मदा उतर कर सिन्धिया के राज्य में जाने और सिन्धिया से सहायता लेने का उसका विचार था; परन्तु जब उसे यह विदित हुआ कि जनरल मालकम की सेना सिर पर तैयार खड़ी है तब वह हताश हो गया और असीरगढ़के पास धोलकोट में ठहरा। वहाँसे तारीख़ १६ मई को बाजीराव ने अपना वकील जनरल मालकम के पास मऊ की छावनी को भेजा। बाजीराव, इस समय, बहुत बुरी दशा में था। उसके आश्रित-जन उसे छोड़ गये थे। दूसरे लोगों से सहायता मिलने की कोई आशा नहीं थी। उसकी सेना में असैनिक अरब और पुरवियों की ही भर्ती थी और अपना वेतन न मिलने के कारण वे विद्रोह करने की तैयारी में थे। उन्होंने बाजीराव को क़ैदी सा कर रखा था, इसलिए बाजीराव को अङ्गरेज़ों की शरणमें जाने के सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं था। जनरल मालकम ने बाजीराव को आठ लाख रुपयों की जागीर अपनी ज़िम्मेदारी पर देना तथा उसके पक्ष के सरदारों को आँच न आने देना स्वीकार किया। तब बाजीराव उनकी छावनी में जाकर रहा। लार्ड हेस्टिङ्ग्ज़ ने पहले इन शर्तों को बहुत उदार बतलाया; परन्तु अन्त में उन्हें स्वीकार कर लिया। बाजीराव ने वचन दिया कि "मैं कभी दक्षिण को न जाऊँगा और न मैं तथा मेरे उत्तराधिकारी पेशवाई राज्य पर कभी अपना अधिकार प्रगट करेंगे।" तब बाजीराव को गङ्गा किनारे रहने की आज्ञा दी गई और बहुत जाँच-पड़ताल के बाद कानपुर के पास बिठूर अथवा ब्रह्मा-

वर्त्त में रहना बाजीराव ने स्वीकार किया । अतः वे उस स्थान को रवाना किये गये ।

ब्रह्मावर्त्त में आठ लाख रुपये वार्षिक नक़द देने के सिवा एक छोटा सा प्रदेश राज्य के समान दिया गया था । यह राज्य छः वर्गमील के लगभग था । उसके पास एक स्वतंत्र रेज़ीडेण्ट रक्खा गया था । इस राज्य की जनसंख्या दश-पन्द्रह हज़ार थी और यही बाजीराव की प्रजा थी । बाजीराव की मराठी पदवी महाराज अथवा श्रीमन्त थी; परन्तु अङ्गरेज़ "हिज़ हाइनेस" के नाम से उनका उल्लेख करते थे । ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव और अङ्गरेज़ों का सम्बन्ध स्नेहपूर्ण रहा । एक प्रसङ्ग पर बाजीराव ने छः लाख रुपये और एक हज़ार सवार तथा पैदल की सहायता अङ्गरेज़ों को दी थी । ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव को धार्मिक कृत्य करने के लिए मन-माना समय मिला । उसी प्रकार पूना के राजवाड़े के समान तमाशे भी बन्द नहीं हुए । ब्रह्मावर्त्त में बाजीराव ने और ५ विवाह किये जिनसे उन्हें दो पुत्रियाँ हुईं । उनमें से एक बयाबाई साहब आपटे थीं जिनका देहान्त गतवर्ष (सन् १९१७ में) हुआ था । इनका जन्म बाजीराव की ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ था । सन् १८५१ में बाजीराव की मृत्यु हुई । उस समय उनकी अवस्था ७६ वर्ष की थी । बाजीराव ने जिस प्रकार बहुत से विवाह किये उसी प्रकार बहुत से दत्तक लड़कों को गोदी में लिये । बड़े लड़के धोंडोपन्त उर्फ़ नाना साहब ने बाजीराव की मृत्यु पर्यन्त अङ्गरेज़ों से बहुत अच्छा व्यवहार रक्खा । बाजीराव की मृत्यु के बाद, उनकी ८ लाख की जागीर अङ्गरेज़ों ने ज़ब्त कर ली और नानासाहब की केवल उदर-निर्वाह के लिए वृत्ति नियत कर दी, तो

भी नाना साहब ने १८५७ तक अङ्गरेज़ों से व्यवहार रखने की अपनी पद्धति में बहुत अधिक अन्तर नहीं होने दिया। ब्रह्मावर्त्त, कानपुर के पास होने के कारण नाना साहब प्रायः कानपुर में ही रहते थे। वहाँ मुल्की और सैनिक अधिकारियों से उनका खूब स्नेह हो गया था। वे निरन्तर इन लोगों को भोजादि देते और विनोदार्थ नाच करवाते रहते थे। सन् १८५७ में अपने भाई और भतीजे के आग्रह से तथा विद्रोही पुरुषों की इस धमकी से कि हम लोगों में मिल जाओ तो अच्छा, नहीं तो हम तुम्हारा खून करेंगे। नानासाहब को लाचार होकर विद्रोही-दल में शामिल होना पडा। विद्रोहियों ने उन्हें अपने दल में शामिल कर उनकी इच्छा और आज्ञा के विरुद्ध कानपुर में क़तल आदि उनके नाम पर करना आरंभ कर दिया। ब्रह्मावर्त के लोकमत के अनुसार देखा जाय तो साहस और शौर्य्य का आरोप भी उन पर विना कारण लादा गया। नाना साहब का अन्त किस प्रकार हुआ, यह कोई भी ठीक नहीं कह सकता।



प्रकरण पाँचवाँ

मराठा राज-मंडल और अङ्गरेज़।

सतारे के भोंसले और अङ्गरेज।

गत दो प्रकरणों में शिवाजी, सम्भाजी, राजाराम और शाहू तक छत्रपति के घराने का तथा बालाजी विश्वनाथ से लेकर दूसरे बाजीराव तक पेशवाओं का जैसा सम्बन्ध अङ्गरेज़ों से रहा उसका वर्णन किया जा चुका है और मुख्य कथाभाग भी यहीं समाप्त होता है। परन्तु पेशवा के समान दूसरों का अङ्गरेज़ों से कब और कैसे सम्बन्ध हुआ इसका वर्णन करना भी आवश्यक है। क्योंकि यह ध्यान में रखना चाहिए कि मराठाशाही का इतिहास केवल पेशवा घराने से नहीं बना, उस में सतारा, कोल्हापुर, नागपुर और सावन्तवाड़ी के भोंसले (छत्रपति और सरदार) तथा सिन्धिया, होलकरादि मराठाशाही के सरदारों का भी भाग है। अतः इन सरदारों का अङ्गरेज़ों से स्वतन्त्र अथवा पेशवा के द्वारा जैसा सम्बन्ध रहा उसका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

मराठाशाही राज्य में सतारे के भोंसले घराने का मान मुख्य है । इस घराने के मुख्य पुरुष शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम का इतिहास प्रसिद्ध ही है और इनके राजत्वकाल में अङ्गरेज़ों से जैसा सम्बन्ध रहा उसका वर्णन पहले किया जा चुका है । राजाराम के बाद शाहू महाराज के समय में अङ्गरेज़ों की हैसियत एक प्रार्थी के समान थी। अङ्गरेज़ों को शाहू से व्यापार के लिए आज्ञा और सुभीते प्राप्त करना थे । अतः उन्होंने नज़राना और वकील भेजकर कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया; परन्तु इस समय राजकार्य के मुख्य अधिकार शाहू के पास न होकर पेशवा के पास थे और यह जानकर अङ्गरेज़ों ने भी अपने राजकार्यों का सम्बन्ध पेशवा से प्रारम्भ कर दिया । शाहू महाराज के राज्यकाल में बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव प्रथम का कार्य-काल समाप्त हो चुका था और नाना साहब, पेशवाई की गादी पर थे । इनका भी लगभग आधा समय व्यतीत हो चुका था । शाहू के मरण के पश्चात् सतारे के महाराज निर्माल्यवत् हो गये थे, इसलिए आगे इनसे अङ्गरेज़ों का कोई काम नहीं पड़ा । केवल इनका सम्बन्ध दूसरे बाजीराव के शासन-काल के अन्त में हुआ । क्योंकि वे उस समय बाजीराव की क़ैद में थे और यह कारावास उन्हें तथा उनके मित्रों को असह्य होने के कारण महाराज ने अङ्गरेज़ों की सहायता से छूटने का प्रयत्न किया था ।

सतारे के महाराज निर्माल्यवत् हो गये थे, तो भी उनका सन्मान गादी के स्वामी के ही समान था । सतारे के छोटे से राज्य की सीमा में सम्पूर्ण अधिकार और हुकूमत महाराज ही की थी । पेशवा के परिवर्तन के समय ने पेशवा

को अधिकारों के वस्त्र महाराज द्वारा ही दिये जाते थे और जब तक वस्त्र प्राप्त न हों तब तक पेशवा के अधिकारों को वास्तविक दृष्टि से नियमानुकूलता प्राप्त नहीं होती थी। दूसरे बाजीराव को यद्यपि अङ्गरेज़ों ने गद्दी पर बैठाया था, पर वस्त्र उन्हें सतारे से ही लेने पड़े थे। पेशवा पूना में राजा थे; परन्तु सतारे की सीमा में वे नौकर ही माने जाते थे और वहाँ वे भी अपनी नौकरी के नाते का स्मरण कर इसीके अनुसार चलते थे। यदि पेशवा सेना सहित सतारे को जाते थे तो सतारे की सीमा लगते ही उनकी नौबत बजना बन्द हो जाता था और पेशवा हाथी या पालकी पर से उतर कर पैदल चलते थे। महाराज के दर्शनों के लिए हाथ बाँध कर जाते और महाराज के सन्मुख नज़र देते थे तथा उनके पैरों पर सिर रखकर प्रणाम करते थे। इसी प्रकार अपने हाथ में चँवर लेकर महाराज पर डुलाते थे और महाराज के सामने गादी बैठक पर या पीछे खवास-खाने में बैठते थे।

सन् १८०६ के लगभग महाराज को बाजीराव की क़ैद से छुड़ाने के लिए चतुरसिंह भोंसले (बाबी वाले) के नेतृत्व में प्रयत्न हुए। चतुरसिंह ने इस कार्य के लिए जब विद्रोह किया तब बाजीराव ने उसे भी बाल-बच्चों के साथ क़ैद कर लिया। पहले तो यह मालेगांव में और फिर कांगोरी के क़िले में रक्खा गया। इनकी देख-रेख रखने का काम त्र्यम्बकजी डेंगले के सुपुर्द किया गया था। सन् १८१८ में उक्त क़िले में ही चतुरसिंह की मृत्यु हो गई। चतुरसिंह के साथ ही साथ महाराज के कितने ही हितचिन्तकों को बाजीराव ने क़ैद में रक्खा था। चतुरसिंह के विद्रोह के कारण महाराज की क़ैद और भी

सख़्त कर दी गई। सतारे के महाराज, महाराजा प्रतापसिंह स्वभाव से धीमे और शान्त थे; परन्तु इनकी माता बहुत चतुर और महत्वाकांक्षिणी थीं। अतः उन्होंने अपना वकील गुप्त रीति से अङ्गरेज़ों के पास भेजकर पुत्र को छुड़ाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। अङ्गरेज़ों को बाजीराव के विरुद्ध यह बहुत अच्छा कारण मिल गया। अतः उन्होंने महाराज के वकील की सब बातें सुनकर उनकी माता के पास सहानुभूति-पूर्ण उत्तर भेजने और धैर्यपूर्वक रहने के लिए कहने का क्रम रक्खा। परन्तु, अङ्गरेज़ों को बाजीराव के काम में प्रत्यक्ष रीति से हाथ डालने का अधिकार न होने के कारण वे इस सम्बन्ध में उनसे कुछ भी नहीं कहते थे। उन्होंने महाराज के वकील से कह रक्खा था कि बाजीराव से युद्ध हो, तो महाराज को हमारा पक्ष लेना होगा, क्योंकि एल्फिंस्टन साहब का अनुमान था कि बाजीराव से युद्ध अवश्य होगा। बाजीराव को भी इन बातों का समाचार मिल गया; अतः उसने महाराज की देखरेख का और भी अधिक प्रबन्ध कर दिया।

सन् १८१७ में जब युद्ध का निश्चय होगया तब बाजीराव ने महाराज सतारा को अपने हाथ से न जाने देने के लिए महाराज से कहलवाया कि "मैं आपका केवल नौकर हूँ, राज्य सब आपका है। यह आपही को शासन करने के लिए प्राप्त होगा।" फिर महाराज को सतारा से लाकर वासोटा के क़िले में रक्खा और वहाँ से फिर बाजीराव ने उन्हें अपनी सेना में लाकर भागदौड़ में आष्टी के युद्धतक साथ में रक्खा। आष्टी के युद्धमें अङ्गरेज़ों से पहले से ही ठहरे हुए सङ्केत के अनुसार काम करने का अवसर मिला और

उस अवसर का महाराज के अनुयायियों ने लाभ उठा लिया। राज्य ख़ास स्वामी के हाथ में आ जाने के कारण अङ्गरेज़ों को भी बहुत लाभ हुआ और उन्होंने एक घोषणा निकाली कि "यद्यपि राजविद्रोही पेशवा का शासन नष्ट हो गया है; पर वास्तविक राज्य तो अभी मौजूद ही है, इसलिए सब मराठे सरदार हमारी शरण में आकर अपने अपने घर जावें। हम मराठी राज्य को पहले के समान ही चलाना चाहते हैं। पेशवा का राज्य नष्ट हो गया है; परन्तु महाराजा का राज्य अभी अबाधित है।" इसके बाद प्रतापसिंह महाराज को सतारे की गद्दी पर बिठला कर उनके लिए एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य पृथक कर दिया और ग्रण्ट-डफ उनके रेज़ीडेण्ट बनाये गये। सतारा-नरेश का यह नवीन राज्य भी आगे केवल २० वर्ष ही टिका। सन् १८३९ में अङ्गरेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप महाराज प्रतापसिंह पर लगाया गया और इसलिए वे काशी को भेज दिये गये। मालूम होता है कि दक्षिण के राजा-महाराजाओं को अङ्गरेज़ों के उपदेश से उत्तर भारत के तीर्थों में रहना बहुत पसन्द था। तभी तो 'बाजीराव' ब्रह्मावर्त में जाकर रहे और उनके स्वामी ने 'काशीवास' स्वीकार किया। महाराज प्रतापसिंह के विद्रोह के सम्बन्ध में सतारे के इतिहासकार ने लिखा है कि "सन् १८१८ में अङ्गरेज़ सरकार और छत्रपति सरकार प्रतापसिंह महाराज का बिगाड़ होगया। तब पुनः से अङ्गरेज़ों की सेना आई। इस बार के समय में छत्रपति महाराज के पास फौज के मुख्य सेनापति बलवन्तराव-राजे भोंसले थे। उन्होंने विचार किया कि एक सल्तनत के साथ युद्ध कर अपनी सैनिक-

वृत्ति का अन्त कर दिया जाय; परन्तु महाराज ने सेनापति का हाथ पकड़कर उन्हें बैठा लिया और सुबह होने तक बाहर नहीं जाने दिया।" इसी इतिहासकार ने यह भी लिखा है "बालाजी नारायणराव ने छत्रपति के विरुद्ध झूठी झूठी गवाहियाँ अङ्गरेज़ों के यहाँ देकर महाराज को काशी भिजवाया। शक सम्वत् १७६१ में काशी में महाराज प्रताप-सिंह का देहान्त हुआ। प्रतापसिंह के काशी चले जाने पर उनके दत्तक पुत्र शहाजी राजगादी पर बैठाये गये; परन्तु शहाजी की भी कोई औरस सन्तान नहीं थी; इसलिए उन्हों ने वेङ्कोजी को गोदी में लिया और उन्हें रेज़ीडेण्ट ने गादी पर भी बैठाया। परन्तु पीछे से यह आज्ञा आने पर कि अब दत्तक-विधान की आज्ञा नहीं है, सन् १८४८ में सतारा-राज्य खालसा किया गया।

कोल्हापुर के भोंसले और अङ्गरेज

शिवाजी महाराज और सम्भाजी के समय में मराठा-शाही की राजधानी रायगढ़ में थी। उस समय कोल्हापुर के पास का पन्हाला और सतारे का अजीमतारा केवल क़िले समझे जाते थे। सम्भाजी के वध होने के पश्चात् आठ वर्ष तक मुग़लों से स्वतन्त्रता के रक्षार्थ युद्ध हुआ और जब राजा-राम महाराज जिञ्जी से वापिस लौटे तब सन् १६९८ में राजधानी सतारे में लाई गई। इस परिवर्तन में सब सरदा-रों की सम्मति थी। पन्हाला की अपेक्षा सतारा मध्यवर्ती स्थान था और यहाँ से सम्पूर्ण राज्य का निरीक्षण अच्छी तरह किया जा सकता था।

राजाराम की मृत्यु होजाने के ७ वर्ष बाद जब शाहू देहली से वापिस लौटे तो सतारा की गादी के सम्बन्ध में

ताराबाई और शाहू में झगड़ा शुरू हुआ । सन् १७०७ में खेड़ नामक स्थान पर युद्ध हुआ और १७०८ में शाहू सतारा में आकर गद्दी पर बैठे । इसी समय के लगभग ताराबाई ने कोल्हापुर में स्वतन्त्र गद्दी स्थापित कर नवीन अष्टप्रधान बनाये । यहीं से कोल्हापुर और सतारे के भोंसले की ओर से पेशवा का मनोमालिन्य शुरू हुआ और यह सतारे का राज्य नष्ट होजाने तक रहा । आज भी तञ्जावर की जाय दादी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोल्हापुर के महाराज और सतारे के महाराज वादी प्रतिवादी हैं । नाना साहब पेशवा के समय में शाहू महाराज की मृत्यु के अवसर पर कोल्हापुर और सतारे के महाराजाओं का परस्पर मेल हो जाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु वह सफल न हो सका । पानीपत के युद्ध में पेशवा के नाश के समाचारों को सुन-कर ताराबाई को बहुत सन्तोष हुआ और फिर उनकी मृत्यु होगई । उन दिनों पेशवा के शत्रु कोल्हापुर महाराज के मित्र और कोल्हापुर महाराज के शत्रु पेशवा के मित्र होते थे । निज़ाम पेशवा के शत्रु होने के कारण कोल्हापुर महाराज के मित्र थे । इस बात से अप्रसन्न होकर बड़े माधवराव ने कोल्हापुर राज्य का कुछ हिस्सा अधिकृत कर लिया और उसे पटवर्धन को जागीर के रूप में दिया । इस तरह पटवर्धन पेशवा की ओर से कोल्हापुर के रहनेवाले के समान होगये फिर रघुनाथराव के झगड़े से कोल्हापुर वालों ने रघुनाथराव का पक्ष लेकर खोये हुए वे परगने वापिस लेलिये, परन्तु माधवराव सिन्धिया की फ़ौज ने दुबारा इनको छीन लिया । सवाई माधवराव के राज्य-काल में जो विद्रोहियों का उपद्रव हुआ उसमें कोल्हापुर वालों

का ही हाथ था। बाजीराव के समय में नानाफड़नवीस की सूचना से कोल्हापुर वालोंने परशुराम भाऊ पटवर्धन की जागीर पर आक्रमण किया और सतारे में चतुरसिंह ने जो विद्रोह किया उसमें पेशवा के विरुद्ध कोल्हापुर वालों ने मदद दी। पट्टणकुड़ी की लड़ाई में चतुरसिंह और कोल्हापुर की सेना ने परशुराम भाऊ का पराभव कर उसे मार डाला तब नानाफड़नवीस ने चिञ्चुरकर प्रतिनिधि और मेजर ब्राउनरिग को सिन्धिया की सेना देकर कोल्हापुर भेजा और शहर पर घेरा डाला। यह घेरा बहुत दिनों तक रहा; परन्तु अन्त में पेशवा ने घेरा उठा लिया।

अङ्गरेज़ों और कोल्हापुर के महाराज का सम्बन्ध पहले पहल १७६५ में हुआ। मालवण का क़िला कोल्हापुर के राज्य में था और खलासी लोग अङ्गरेज़ों के जहाज़ों को बहुत सताते थे। सन १७६५ में बम्बई के अङ्गरेज़ी जहाज़ी बेड़े में से मेजर गार्डन और केप्टन वाटसन के नेतृत्व में सेना ने इस क़िले को सर किया और इसे अपने अधिकार में रखने के लिए इस का नाम "फ़ोर्ट-आगस्टस" रक्खा; परन्तु उस क़िले को बहुत उपयोगी न समझ उसको तटबंदी गिरा देने का विचार किया और अन्तमें इस विचार को भी छोड़ सवा तीन लाख रुपये नक़द लेकर उस क़िले को कोल्हापुर वालों को ही दे दिया। सन् १८११ में अङ्गरेज़ों ने कोल्हापुर वालों से स्वतन्त्र सन्धि करने का प्रयत्न किया। तब बाजीराव ने इस सन्धि में बाधा डाली; परन्तु अङ्गरेज़ों ने उस पर कुछ ध्यान न देकर सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार पेशवा को चिकोड़ी और मनोली प्रान्त वापिस लौटाये गये और अङ्गरेज़ों को मालवण का क़िला तथा उस

के नीचे का प्रदेश मिला । इसके सिवा सामुद्रिक लुटेरे लोगों को बन्दर में आश्रय न देने, शत्रु के जहाज़ों को बन्दर में न आने देने, स्वयम् लड़ाऊ जहाज़ न रखने, लड़ाऊ जहाज़ मिलने पर अङ्गरेज़ों को लौटा देने, अङ्गरेज़ों के फूटे हुए जहाज़ किनारे लगने पर अङ्गरेज़ों को वापिस कर देने और अङ्गरेज़ों की सम्मति के सिवा किसी से युद्ध न करने आदि की शर्तें कोल्हापुर वालों की ओर से सन्धि में स्वीकार की गईं । अङ्गरेज़ों ने कोल्हापुर के पुराने दावे स्वीकार किये और कोल्हापुर राज्य की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया ।

शाहू के विवाद उपस्थित होने पर ताराबाई के अधिकार में बहुत थोड़ा प्रदेश रह गया था । कोल्हापुर के महाराज अथवा उनके मन्त्रियों ने फिर कोई प्रदेश राज्य में नहीं मिलाया । उनकी चढ़ाई प्रायः कोल्हापुर के आस-पास पटवर्धन की जागीर पर ही हुआ करती थी । इनके पास सेना भी बहुत थोड़ी था । पेशवाओं के ७४ वर्ष के शासन-काल में कभी न कभी इसी राज्य का अन्त हो ही जाता; परन्तु सुदैव से यह बच गया और बाजीराव के समय से तो इस राज्य को सिवा अङ्गरेज़ों के और किसी का डर नहीं रहा । अङ्गरेज़ों से लड़ने के लिए कोल्हापुर राज्य के सम्मुख बहुत से कारण भी उपस्थित नहीं हुए और अपनी कमज़ोरी के कारण इसने अङ्गरेज़ों से पहले ही सन्धि कर ली । सन् १८१७-१८ में पेशवा और अङ्गरेज़ों में जो युद्ध हुआ उसमें कोल्हापुर-वालों ने अङ्गरेज़ों का ही पक्ष लिया था । इस युद्ध के बाद कोल्हापुर वालों से जो फिर नवीन सन्धि हुई उसके अनु-

सार तीन लाख की आमदनी के ताल्लुके चिकोड़ी और मनोली कोल्हापुर वालों को वापिस दिलाये गये। सन् १८२२ में एलिफंस्टन साहब कोल्हापुर गये। सन् १८२५ में महाराज कोल्हापुर नरेश ने 'कागल' के जागीरदारों से शत्रुता कर "कागल" छीन लिया और उन्हें लूट लिया। तब वेबर साहब धारवाड़ से छः हजार सेना लेकर कोल्हापुर पर चढ़ आया। महाराज ने उसकी शरण ली और युद्ध के लिए जो तोपें गांव के बाहर निकाली थीं उन्हींसे वेबर साहब की सलामी ली गई। इस बार फिर सन्धि हुई। उसके अनुसार अङ्गरेज़ों को आज्ञा बिना फ़ौज न रखने, अङ्गरेज़ों की सम्मति के अनुसार राज्य चलाने और अङ्गरेज़ जो निश्चय करें उसके अनुसार जागीरदारों को नुकसानी देने की शर्तें कोल्हापुर सरकार ने स्वीकार कीं। इसके लिए चिकोड़ी और मनोली ताल्लुके अङ्गरेज़ों के सुपुर्द कर दिये गये। इसके पश्चात् मालवण के क़िले से तोपें मँगाकर महाराज अपनी प्रजा को ही कष्ट देने लगे। तब फिर अङ्गरेज़ों ने बेलगांव से एक पलटन कोल्हापुर को भेजी। सन् १८२७ में जब यह सेना कोल्हापुर आई तब फिर नवीन सन्धि हुई। इसके अनुसार सब तरह की बारह सौ से अधिक सेना न रखने, तोपों से काम न लेने और चिकोड़ी तथा मनोली प्रान्त जिनके मिलने की आशा से महाराज असन्तुष्ट थे सदा के लिए अङ्गरेज़ों को देने का ठहराव हुआ। इसके सिवा महाराज कोल्हापुर-नरेश के ख़र्च से पन्हालगढ़ पर अङ्गरेज़ी सेना रखने और बिना अङ्गरेज़ों की सम्मति के कोई दीवान न रखने की शर्तें भी इस सन्धि में की गई थीं।

नागपुर के भोंसले और अङ्गरेज़ ।

नागपुर के भोंसले के कुटुम्ब के मूलपुरुष परसोजी सन्ताजी घोरपड़े के आश्रम में एक छोटा सा सरदार था। इसका जन्म सतारे के पास देऊर नामक गाँव में हुआ था। यह इस गाँव के निवासियों में से एक था। किसी किसी का कहना है कि पूना के पास वाला हिङ्गणवरढी नामक गाँव नागपुर के भोंसले का मूल गाँव है। परसोजी ने सन्ताजी के आश्रम में आने के पहले भी शिवाजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम किया था। इनका और शिवाजी का भोंसला-घराना एक ही था और ये भी बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। पेशवाई का पद बाजीराव को न मिलने देने में दामाड़े के समान परसोजी भोंसले का भी मत था। परसोजी के लड़के कान्होजी को शाहू महाराज ने "सेना साहब सूबा" की पदवी दी थी; परन्तु आज्ञा-भङ्ग के अपराध पर कान्होजी सतारे में क़ैद किये गये और उनका पद उनके भतीजे राघोजी को दिया गया। इसके पहले राघोजी कान्होजी के हाथ के नीचे सिपाही का काम करता था। इसी तरह गोंडवाना प्रान्त के एक बिगड़े हुए मुसलमान राजा* के आश्रम में भी इसने नौकरी की थी। राघोजी यद्यपि एक साधारण सिपाही था तो भी उसकी बुद्धि तीव्र थी और वह बहुत साहसी तथा चपल था। राघोजी शिकार बहुत अच्छा करता था। शिकार खेलने का प्रेम छत्रपति शाहू महाराज को भी बहुत था; इसलिए शाहू राघोजी पर प्रसन्न होगये और इस गुण से राघोजी ने लाभ उठा लिया।

* बख्तबलन्द ?

राघोजी भोंसला घराने का था; इसलिए उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए शाहू महाराज ने सिर्के घराने की एक एक लड़की अर्थात् अपनी ही साली से उसका विवाह कर दिया और फिर उसे बरार प्रान्त की सनद दी। इसके बदले में राघोजी ने ५ हज़ार सवार रखकर सतारा की गादी की नौकरी करने और नौ लाख रुपया वार्षिक वसूली देने का क़रार किया। उसने इसी प्रकार अवसर पड़ने पर १० हजार सेना लेकर पेशवा के साथ चढ़ाई पर जाने का भी क़रार किया था।

कान्होजी भोंसले के समय से ही गोंड़वाने का बहुत सा भाग अपने अधिकार में करके कटक प्रान्त पर भोंसले ने चढ़ाइयाँ करना शुरू किया था। राघोजी ने भी यही क्रम रक्खा और इसमें वृद्धि की। सन् १७३८ के लगभग राघोजी ने कटक लूटा और उत्तर प्रान्त में अलाहाबाद तक चढ़ाई कर वहाँ के सूबेदार शुजाख़ान को जान से मारा और लूट का बहुत सा माल लेकर वह लौटा। इस आक्रमण में बाजीराव या शाहू महाराज की सम्मति नहीं थी; इसलिए आज्ञा-भंग करने की बात उठाकर बाजीराव ने आवजी कवड़े नामक सरदार को बरार प्रान्त पर आक्रमण करने के लिए भेजा; परन्तु राघोजी ने उसका पराभव किया। यह सुनकर स्वयम् बाजीराव पेशवा ने जाने का निश्चय किया; परन्तु नादिरशाह के चढ़कर आने के समाचारों के कारण उन्हें अपना विचार बदल देना पड़ा। बाजीराव का कहना था कि नर्मदा के उत्तर की ओर आक्रमण करने और कर वसूल करने का अधिकार राघोजी को नहीं है और न शाहू महाराज या पेशवा को

आज्ञा पाये बिना राघोजी देश-विजय के लिए चढ़ाई ही कर सकते हैं। राघोजी का कहना था कि पेशवा का पद सदा ब्राह्मणों को देने की आवश्यकता नहीं । राघोजी मौक़ा लगने पर पेशवाई का काम बाजीराव से ले लेने के सिवा, शाहू के पुत्र-रहित मरने पर, स्वयम् गादी पर बैठने का हौसला भी रखता था ।

यह झगड़ा बढ़ते बढ़ते युद्ध का रूप धारण करनेवाला ही था कि इतने में दिल्ली का बड़ा भारी राजकीय झगड़ा आजाने से बाजीराव ने इस घरू झगड़े को तोड़ डाला और प्रत्यक्ष मिलकर उसे आपस में तय कर लिया । कितने ही लोगों का यह तर्क है कि राघोजी भोंसले की बड़ी भारी महत्वाकांक्षा जानकर बाजीराव पेशवा ने पूर्वी किनारे के ऊपर बङ्गाल प्रान्त से कर्नाटक तक के प्रदेश पर चढ़ाई करने का मार्ग बतलाया और इस तरह अपना एक प्रति-स्पर्धी कम कर लिया । इससे आगे को भोंसले की चढ़ाइयाँ भी इसी क्रम के अनुसार हुईं । सन् १७४० में कर्नाटक पर मराठों ने फिर चढ़ाई की । उस समय सेना का आधिपत्य राघोजी को ही दिया गया था । यह सेना कम से कम ५० हज़ार थी । राघोजी ने कर्नाटक के नवाब दोस्तअली का पराभव कर उसे जान से मारा और उसके मन्त्री मीर-असद को क़ैद किया । इस विजय के कारण दक्षिण भारत के लोगों तथा फ़ौजों पर मराठों का बहुत दबदबा जम गया । उक्त मन्त्री मीरअसद ने ही नवाब सफ़दरअली और मराठों में सन्धि करवा दी । उसमें यह ठहराव हुआ कि नवाब साहब, मराठों को एक करोड़ रुपये क़िस्तबन्दी से देवें ।

सफ़दरअली के प्रति-स्पर्द्धी चन्दा साहब को निकाल देने के लिए मराठी फौज नवाब साहब को सहायता दे और पूर्वीय किनारे पर के जिन हिन्दू राजाओं का राज्य सन् १७३६ के पश्चात् फ्रेञ्चों ने ले लिया हो वह जिनका हो उनको लौटा दिया जाय। इसके बाद राघोजी ने फ्रेञ्चों के पीछे तक़ाज़ा लगाया, क्योंकि वह त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में करना चाहता था।

राघोजी ने पांडुचेरी के फ्रेञ्च गवर्नर को एक पत्र लिखा कि "हमारे महाराज ने तुम्हें पांडुचेरी में रहने की जो आज्ञा दी थी उसे ४० वर्ष हो गये। हमें विश्वास था कि तुम हमारी मैत्री के पात्र हो और अपने क़रारों का पालन करोगे; इसीलिए तुम्हें रहने के लिए यह स्थान दिया गया था। तुमने इसके बदले में जो वार्षिक कर देना स्वीकार किया था वह अभी तक नहीं भरा। अब हमें जिञ्जी और त्रिचनापल्ली के क़िले लेकर उनका प्रबन्ध करने और किनारे पर के यूरोपियनों से कर वसूल करने की आज्ञा हुई है। हम तुमपर कृपा करते हैं; पर तुम हमसे विरुद्ध चलते हो। हमने अपना आदमी भेजा है, सो कर की रक़म और चन्दा साहब के बालबच्चे तथा उनकी जो कुछ सम्पत्ति हो वह इनके सुपुर्द कर देना। बसई की जो स्थिति हुई वह तुम्हें मालूम ही है। हमारा जहाज़ी बेड़ा भी उधर जानेवाला है, इसलिए झगड़े को तुरन्त निपटा देना उचित होगा"। इस पत्र का उत्तर पांडुचेरी के गवर्नर ड्यूमा ने इस प्रकार दिया—"फ्रेञ्च-राष्ट्र पर आज तक किसी ने भी कर नहीं बैठाया। यदि हमारे स्वामी यह सुनें कि मैंने कर देना स्वीकार किया है तो वे मेरा सिर उड़ाये बिना नहीं

रहेंगे । इधर के राजाओं ने समुद्र-किनारे की बालू पर क़िला बाँधने और शहर बसाने की आज्ञा दी थी । उस समय हमने केवल यहाँ के धर्म और देवालयों को क्षति न पहुँचाने की शर्त ही की थी और यह शर्त हमने पालन भी की है; अतएव आपकी सेना के यहाँ आने का कोई कारण नहीं है । आप लिखते हैं कि हमारी माँग स्वीकार न करने पर सेना सहित आवेंगे, तो आपका सत्कार करने के लिए हमारे यहाँ भी पूर्ण तैयारी है । वसई में क्या हुआ यह हमें अच्छी तरह मालूम है। आप केवल इतना ही ध्यान में रक्खें कि वसई की रक्षा फ्रेञ्च लोगों के हाथ में नहीं थी ।" अन्त में पांडुचेरी पर आक्रमण न कर मराठों की सेना लौट आई ।

सन् १७४० में प्रथम बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवाई के वस्त्र नाना साहब को मिले । राघोजी ने ये वस्त्र न मिलने देने का प्रयत्न किया । कर्नाटक से लौट आने का यह भी एक कारण था । बाजीराव और बाबूजी नायक काले अमरावतीवालों के बीच में बाजीराव को क़र्ज़ दी हुई रक़म के कारण परस्पर वैमनस्य हो गया था; अतः उसे आगे कर और शाहू को रिश्वत में बड़ी भारी रक़म देने का भी प्रयत्न कर पेशवाई के वस्त्र राघोजी ने नायक को दिलाना चाहे; पर उसे इसमें सफलता न मिली । तब राघोजी नायक को साथ लेकर फिर कर्नाटक गया । वहाँ तञ्जावर के मराठों की सहायता से उसने सन् १७४१ में त्रिचनापल्ली अपने अधिकार में ले ली और मुरारराव घोरपड़े को वहाँ का क़िलेदार बनाया तथा चन्दा साहब को पकड़ सतारे में नज़रक़ैद किया ।

जिस समय राघोजी कर्नाटक में थे उसी समय मुर्शिद कुली- ख़ाँ के दीवान मीर हबीब ने राघोजी के दीवान भास्करपन्त

को कटक प्रान्त पर चढ़ाई करने का निमन्त्रण दिया और वह उन्होंने स्वीकार भी किया। इसी समय के लगभग और इसी काम के लिए नाना साहब पेशवा भी उत्तर-हिन्दुस्थान में देश-विजय करने को निकले और उन्होंने नर्मदा-तट का गढ़ामँडले का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उनका विचार अलाहाबाद पर चढ़ाई करने का था; परन्तु राघोजी ने मालवे में फ़िसाद मचा रक्खी थी, अतः उन्हें पूर्व की चढ़ाई के काम को रोककर पश्चिम की ओर मुड़ना पड़ा और मालवे का प्रबन्ध कर अलाहाबाद होते हुए मुर्शिदाबाद तक जाना पड़ा। इधर राघोजी भी कटवा और दरवान तक पहुँचा; परन्तु उसके पहुँचने के पहले ही नवाब अलीवर्दीख़ाँ से कर लेकर पेशवा ने हिसाब साफ़ कर दिया था; अतः राघोजी को लौटना पड़ा। मालवा के फ़िसाद पर ध्यान रखकर पेशवा ने राघोजी पर चढ़ाई की और उसका पराभव किया। तब पेशवा से सन्धि कर राघोजी ठेठ सतारे को जाने के लिए रवाना हुए। राघोजी भोंसले को दामाजी गायकवाड़ और दामाजी शिवदेव की सहायता मिलनेवाली थी; अतः पेशवा ने झगड़े में पड़कर अपना कुछ काम साध लिया और बङ्गाल की कर-वसूली का अधिकार उन्होंने राघोजी को दिया। इस प्रकार दोनों ने मैत्री कर भारतवर्ष के दो भाग किये और वसूली के लिए आपस में बाँट लिये। इस सन्धि के अनुसार लखनऊ, पटना, बिहार, दक्षिण बङ्गाल और बरार से कर्नाटक प्रान्त तक के प्रदेशों पर राघोजी भोंसले का अधिकार हुआ। इसके बाद ही राघोजी के दीवान भास्करपन्त ने बीस हज़ार सेना के साथ बङ्गाल पर चढ़ाई की; परन्तु अलीवर्दीख़ाँ ने सन्धि

करने के बहाने भास्करपन्त को भोजन करने को बुलाया और उसे तथा उसके बीस साथियों को जान से मार डाला। इसके बाद स्वयम् राघोजी ने उड़ीसा प्रान्त पर चढ़ाई की; परन्तु गोंड़वाने में बलीशाह और नीलकण्ठशाह के विद्रोह करने के कारण राघोजी को लौटना पड़ा। फिर देवगढ़ और चाँदा पर अधिकार कर उन्हें अपने राज्य में मिलाया।

सन् १७४९ में हैदराबाद के सूबेदार नासिरजङ्ग ने राघोजी को अपने सहायतार्थ सेना लेकर बुलाया और पारितोषिक-स्वरूप कुछ राज्य देना स्वीकार किया। राघोजी ने यह काम अपने पुत्र जानोजी को सौंपा और उसे दस हज़ार सेना देकर नासिरजङ्ग के सहायतार्थ कर्नाटक को भेजा। इस समय शाहू महाराज का मरणकाल समीप आ रहा था, अतः उन्होंने पेशवा, यशवन्तराव दाभाड़े, राघोजी भोंसले आदि सब पक्षों के सरदारों को अपने पास बुलवाया। भट्टों के घराने से पेशवाई छीनकर अपने हाथ में लेने के लिए राघोजी को यह बहुत अच्छी सन्धि मिली थी; परन्तु उनके पास सेना कम होने तथा नाना साहब के प्रेमपूर्ण व्यवहार से वश में हो जाने के कारण उस समय वह कुछ न कर सका। शाहू महाराज के द्वारा नाना साहब पेशवा के नाम पर राज-कार्य चलाने की स्थायी सनद दी जाने पर राघोजी ने कुछ भी आपत्ति नहीं की। उस समय यह जनश्रुति सुनाई देती थी कि रामराजा नामक एक गोंधल जाति के लड़के को झूठा उत्तराधिकारी बनाकर छत्रपति की गद्दी दी जाने वाली है। इसके कारण राघोजी भोंसले बिगड़ पड़ा और जब ताराबाई ने अपने आश्रितों के सम्मुख भोजन की थाली पर हाथ रखकर [illegible] स्वीकार

किया कि यह वास्तव में मेरा ही नाती है तब कहीं वह माना। पेशवा के पीछे राघोजी दूसरे सरदारों के साथ पूना गया और उन सबकी सम्मति से पेशवा ने पूना को मराठाशाही की राजधानी बनाया। राघोजी ने जाने के पहले गोंड़वाना, बरार और बङ्गाल प्रान्त की नई सनदें सतारा के महाराज से लीं। इन सनदों के बल उसने इन प्रान्तों पर अपना स्वामित्व स्थापित किया; साथ ही निज़ाम के राज्य में भी बहुत उपद्रव किया। नासिरजङ्ग के यहाँ से जानोजी के लौटने पर राघोजी ने उसे कटक प्रान्त में भेजा। वहाँ उसने अलीवर्दीख़ाँ को दबाकर अपने कृपापात्र मीरहबीब के नाम, बालासोर तक के प्रदेश की जागीर की सनद दिलवाई और बङ्गाल तथा विहार की चौथ के बारह लाख रुपये वार्षिक लेने का ठहराव किया। इस समय निज़ाम तथा पेशवा में युद्ध होते देख राघोजी ने गाविलगढ़, नरनाला और माणिकदुर्ग आदि थाने और प्रदेश ले लिये और जब निज़ाम पूना पर चढ़कर आये तो इधर गोदावरी और बैनगङ्गा के बीच के प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट कर मुग़लों के थाने वहाँ से हटा दिये और अपने थाने बैठाये।

सन् १७५३ में राघोजी की मृत्यु हुई। राघोजी के चार लड़के थे। इनमें से बड़े लड़के जानोजी और साबाजी छोटी स्त्री से और मुधाजी तथा बिम्बा बड़ी महारानी से थे; परन्तु अवस्था में छोटे थे। राघोजी ने अपने पीछे भोंसले की गादी पर जानोजी को बैठाने का निश्चय कर लिया था; परन्तु मुधाजी और जानोजी में झगड़ा शुरू हो गया।

जानोजी ने पूना आकर अपने पिता के समान ही सब शर्तें स्वीकारकर पेशवा को लिख दीं और "सेना साहब सूबे" का पद प्राप्त किया। परन्तु, बरार लौटते समय उसने मुग़लों के राज्य के साथ साथ पेशवा का भी राज्य लूटा; अतः जानोजी और पेशवा के बीच में अनबन हो गई। इसके पश्चात् निज़ामशाही के झगड़े में जानोजी पड़ा, तब भी उसका पराभव हुआ और उसे नीचा देखना पड़ा। पानीपत के युद्ध में यद्यपि जानोजी नहीं था, पर उस लड़ाई की अड़चनों के समाचार मिलने पर जब स्वयम् नाना साहब पेशवा सेना लेकर उत्तर-भारत की ओर चले तब जानोजी दस हज़ार सेना के साथ उनसे आ मिला। जब नर्मदा के मुक़ाम पर पेशवा को पानीपत के सम्पूर्ण समाचार मिले तब वे लौटे। माधवराव के शासन-काल में जानोजी ने रघुनाथराव का पक्ष स्वीकार करके पूना पर चढ़ाई करने का विचार किया; परन्तु माधवराव ने अपने काका के स्वाधीन होकर उस समय यह झगड़ा मिटा दिया। सन् १७६६ में पेशवा और नागपुर के भोंसले में परस्पर इतना असन्तोष बढ़ गया कि माधवराव ने जानोजी के विरुद्ध निज़ामअली से मित्रता की सन्धि की और अपनी तथा निज़ाम की संयुक्त सेना के साथ बरार प्रान्त पर चढ़ाई की। तब निरुपाय होकर जानोजी को दोनों से सन्धि करनी पड़ी और अपना बहुतसा प्रान्त इन्हें देना पड़ा। भोंसले से लिये हुए प्रदेश में से लगभग १५ लाख की आमदनी का प्रदेश पेशवा ने स्नेह-सम्पादन करने के लिए निज़ाम को दिया। इस आक्रमण के कारण नागपुर के भोंसलों के राज्य में से २५ लाख की आमदनी का प्रदेश कम हो गया।

छीनकर साबा जी को दिया। मुधाजी ने इसके बाद ही साबाजी से युद्ध प्रारम्भ किया और साबाजी को अपने हाथ से गोली से मार डाला तथा छोटे राघोजी के अभिभावकता के अधिकार फिर प्राप्त किये। परन्तु निज़ाम ने मुधाजी को शान्ति से नहीं बैठने दिया और इब्राहीमबेग (धौसा) को मुधाजी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। तब मुधाजी उसकी शरण गया और अपने अनेक क़िले देना तथा गोंड़वाना प्रान्त का प्रबन्ध करना स्वीकार कर निज़ाम से उसने सन्धि की। इसी प्रकार पूना-दरबार से बातचीत कर दस लाख रुपये देने का इक़रारनामा लिख दिया और सदा के लिए भोंसले का कारभारी रहना स्वीकार कर लिया तथा कल-कत्ते के अङ्गरेज़ों के दरबार में भी अपना वकील रख दिया।

इसके बाद जब मराठों और अङ्गरेज़ों में युद्ध छिड़ा, तब अङ्गरेज़ों ने मुधाजी को अपने पक्ष में खींचने का प्रयत्न किया। पहले एक बार जिस तरह निज़ाम के दीवान विट्ठल सुन्दर ने मराठों का राज्य करने का लोभ मुधाजी को दिखाया था उसी तरह इस बार हेस्टिंग्ज़ ने दिखाया। वास्तव में देखा जाय, तो यह पहले ही ठहर चुका था कि सतारे की गादी पर नागपुर के भोंसलों का कुछ अधिकार नहीं है; परन्तु जब अकस्मात् पूना-दरबार के विरुद्ध हेस्टिंग्ज़ को हाथ का एक खिलौना मिलता हो तो वे उसे क्यों छोड़ने लगे? मुधाजी पर वास्तविक रहस्य प्रकट था; अतः उसने अपनेको सतारे की गादी पर बैठाने का अङ्गरेज़ों का वरदान लेने की अपेक्षा सतारे की क़ैद में पड़े हुए महाराज का प्रतिनिधित्व लेना उचित समझा और इस लिए अङ्गरेज़ों से सन्धि करने के काम को लम्बा टाल

दिया । पुरन्दर की सन्धि के बाद अङ्गरेज़ों ने फिर मराठों से छेड़छाड़ की । तब सब मराठे अङ्गरेज़ों के विरुद्ध हो गये। उनके साथ साथ मुधाजी को भी कटक प्रान्त में अङ्गरेज़ों के विरुद्ध सेना भेजने का बहाना करना पड़ा । अङ्गरेज़ों ने उसे गुप्त रीति से सोलह लाख रुपये देना स्वीकार भी किया था । मुधाजी ५० लाख माँग रहा था; परन्तु कुछ कम पर सौदा ठहराकर हेस्टिंग्ज़ ने नागपुर के भोंसले को मराठा-सङ्घ में से फोड़कर अपनी ओर मिला लिया । उस समय भोंसले के पास तीस हज़ार सेना थी । यदि उस समय पूना दरबार की पद्धति के अनुसार उसने चढ़ाई की होती तो वह ठेठ कलकत्ते तक पहुँच सकता था । जब नाना फड़नवीस को मुधाजी के षड्-यन्त्र की बात मालूम हुई तब उन्होंने उससे बदला लेने का निश्चय प्रकट किया । मुधाजी को यह समाचार मिला तो उसने भी करवट बदल दी और अङ्गरेज़ों से कहने लगा कि "मैंने तो निज़ाम के विरुद्ध तुम्हें सहायता देना स्वीकार किया है, मराठों के विरुद्ध नहीं; परन्तु यदि तुम चाहो तो तुम्हारी और मराठों की सन्धि करा देने में मैं बीच-बिचाव कर सकता हूँ ।" अन्त में सालबाई की सन्धि भोंसले की मध्यस्थी के बिना ही हुई । इसके बाद नाना फड़नवीस का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ा और अङ्गरेज़ भी उनकी सहायता चाहने लगे । यह देख मुधाजी ने भी पूना-दरबार से स्नेह बढ़ाने का प्रयत्न किया । टीपू पर चढ़ाई करते समय वह स्वयम् सेना लेकर हरिपन्त फड़के के सहायतार्थ गया था; पर मराठों के "पटासी" ले लेने पर अपने पुत्र और सेना को छोड़कर वह नागपुर लौट गया ।

सन् १७८८ में मुधाजी की मृत्यु हुई। मुधाजी के राघोजी के सिवा खण्डोजी और वेङ्काजी उर्फ़ मन्याबापू नामक दो लड़के और थे। खण्डोजी के पास भोंसले की जागीर का उत्तर-भाग और वेङ्काजी के अधिकार में दक्षिण भाग था। टीपू पर चढ़ाई करते समय पेशवा ने राघोजी को सहायतार्थ बुलाया और वह गया भी; परन्तु उसने कहा कि "जिस चढ़ाई में स्वयम् पेशवा सेनापति होकर जावेंगे उसी चढ़ाई में और पेशवा के ही हाथ के नीचे सरदार की हैसियत से मैं नौकरी कर सकता हूँ, दूसरों के हाथ के नीचे नहीं कर सकता। अन्त में सेना के व्यय के लिए दस लाख रुपये देने पर राघोजी को पेशवा की नौकरी करने की क्षमा प्रदान की गई। इसके बाद ही जब खण्डोजी की मृत्यु हो गई तो राघोजी ने वेङ्काजी को चाँदा और छत्तीसगढ़ की जागीर दी। इसके ८-१० वर्ष बाद तक तो भोंसले और पेशवा का बहुत सम्बन्ध नहीं पड़ा, परन्तु फिर बाजीराव को गादी पर बैठाने के षड्-यन्त्र करने के समय सम्बन्ध पड़ा। इस समय नाना फड़नवीस ने जो बड़ा भारी व्यूह रचा था उसमें सम्मिलित होने के लिए राघोजी को १५ लाख रुपये और मण्डला प्रान्त तथा चौरागढ़ का क़िला देना स्वीकार किया था। इस समय उचित अवसर जानकर पेशवा की नौकरी के लिए उसने और भी अधिक सुभीते प्राप्त कर लिये। सन् १८०१-२ में जब सिन्धिया और होलकर में झगड़ा हुआ तब भोंसले ने उस कठिन अवसर पर सिन्धिया का पक्ष लेकर उसकी सेना को नर्मदा-पार उतारने में बड़ी सहायता दी। इसके बाद बम्बई में अङ्गरेज़ों और बाजीराव पेशवा से जो सन्धि हुई उसे तोड़ने का विचार बाजीराव करने लगा।

इस सन्धि के समय बाजीराव ने सिन्धिया, भोंसले आदि की सम्मति नहीं ली थी; अतः इसके समाचार सुनाने के लिए बाजीराव ने नारायणराव वैद्य को राघोजी के पास भेजा और उसके द्वारा पूना आकर यशवन्तराव होल्कर का प्रतिनिधित्व करने की प्रार्थना की। दौलतराव सिन्धिया के समान राघोजी भोंसले को भी बसई की सन्धि स्वीकार नहीं थी। इधर सिन्धिया का कारभारी यादवराव भास्कर भी जब राघोजी के पास पहुँचा तो उसके और सिन्धिया के बीच में बसई की सन्धि तोड़ने का निश्चय हुआ। असाई की लड़ाई में राघोजी स्वयम् सेना लेकर सिन्धिया से जा मिला था; परन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही वह लौट आया। तारीख़ ३१ अक्टूबर को राघोजी ने अपने ५ हज़ार सवारों से अङ्गरेज़ों की रसद पर धावा करवाया परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। युद्ध में राघोजी के शामिल हो जाने के कारण अङ्गरेज़ों ने बङ्गाल की ओर से कटक प्रान्त पर चढ़ाई की। तब राघोजी अपने देश को लौट आया। दिसम्बर में सन्धि की बातचीत शुरू हुई और अन्त में यह ठहरा कि कटक और बालासोर के परगने और वर्धा नदी के पश्चिम की ओर का प्रदेश तथा नरनाला, गाविलगढ़ के दक्षिण की ओर का प्रदेश, राघोजी अङ्गरेज़ों को दें और केवल ये दोनों क़िले और उनके आसपास का चार लाख की आमदनी का प्रान्त राघोजी के पास रहे तथा निज़ाम पर जो राघोजी के दावे हों, वे राघोजी छोड़ दें और निज़ाम तथा पेशवा से भोंसले के जो झगड़े हों उनमें अङ्गरेज़ों की मध्यस्थता राघोजी स्वीकार करें। इसके सिवा दोनों के वकील दोनों के दरबार में रहें। इस सन्धि को देवगाँव की सन्धि कहते हैं। अभिनव

शर्त के अनुसार नागपुर में रेज़ीडेन्ट के पद पर माउन्ट-स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन की नियुक्ति हुई थी। यद्यपि यह सन्धि राघोजी को मन से पसन्द नहीं थी तथापि चारों ओर से असमर्थ हो जाने के कारण उसे लाचार होकर स्वीकार करनी पड़ी। भोंसले की सेना सिन्धिया और होलकर की सेना की अपेक्षा कम दर्जे की थी; इसलिए अमीरख़ाँ के पिण्डारियों ने सन् १८०९ में बरार प्रान्त में अर्थात् राघोजी के राज्य में जा उपद्रव किया उसका प्रतीकार करने में राघोजी को अङ्गरेज़ों की सहायता लेनी पड़ी। सन् १८१४ में राघोजी से फिर एक नवीन सन्धि करने के लिए अङ्गरेज़ों ने कहना शुरू किया। इस नई सन्धि का प्रयोजन यह था कि अङ्गरेज़ों पर यदि कोई चढ़ाई करे, तो भोंसले अङ्गरेज़ों को सहायता दें; परन्तु राघोजी ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन् १८१६ के मार्च में राघोजी की मृत्यु हुई और उसका पुत्र परसोजी 'सेना साहब सूभे' बना; परन्तु उसके विक्षिप्त होने के कारण उसका चचेरा भाई मुधाजी उर्फ़ अप्पासाहब (वेङ्काजी का पुत्र) काम-काज देखने लगा। अप्पासाहब सन् १८०३ के युद्ध में शामिल था और अरगाँव की लड़ाई में मराठी सेना का आधिपत्य भी उसे ही दिया गया था। अङ्गरेज़ों से स्नेह कर अपना अधिकार स्थिर रखने के लिए उसने अङ्गरेज़ों से बातचीत करना प्रारम्भ किया और राघोजी ने जो सन्धि करना अस्वीकार किया था उसे करना इसने स्वीकार किया। इस सन्धि के अनुसार यह ठहरा कि एक हज़ार सवार और छः हज़ार पैदल सेना के ख़र्च के लिए भोंसले ७॥ लाख रुपये वार्षिक सहायता दें और अङ्गरेज़ों के ३ हज़ार सवार और २ हज़ार

पैदल सिपाहियों को भोंसले अपने यहाँ रक्खें। यह सन्धि हो जाने पर भी पेशवा की सहायता से अङ्गरेज़ों की गुट तोड़ने की इच्छा उसके मन से नष्ट नहीं हुई थी। सन् १८१७ में परसोजी का ख़ून हुआ। कहा जाता है कि यह ख़ून अप्पासाहब ने ही कराया था। परसोजी के बाद नागपुर की सरदारी अप्पासाहब को मिली। इन दिनों में इनका और बाजीराव का गुप्त पत्र-व्यवहार हो रहा था। बाजीराव और अङ्गरेज़ों का वैमनस्य प्रकट होने के समय के लगभग अप्पाजी ने भी अपनी सेना बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। बाजीराव ने अप्पा साहब के लिए एक ज़री का निशान भेजकर उन्हें 'सेना-पति' का पद दिया था जिसे उन्होंने तारीख़ २४ नवम्बर, १८१७ ई० को प्रकट रीति से स्वीकार किया था; अतः शीघ्र ही अङ्गरेज़ों और भोंसलों में सीताबर्डी स्थान पर युद्ध हुआ। तारीख़ १५ दिसम्बर को अप्पासाहब ने अङ्गरेज़ों की शरण ली। तब अङ्गरेज़ों ने उन्हें फिर गद्दी पर बैठाया और उनका २४ लाख की आमदनी का प्रान्त अपने दख़ल में कर उनकी सेना अपने अधिकार में ले ली। दुर्दैव से अङ्गरेज़ों को अप्पासाहब के विद्रोह का फिर सन्देह हुआ और उन्हें जेङ्किन्स साहब ने क़ैद कर लिया। बाजीराव भागते भागते जब चांदा की ओर मुड़े तो उनको सहायता देने तथा गोंड लोगों को विद्रोह करने के लिए उकसाने का प्रयत्न करने का आरोप अप्पासाहब पर किया गया और इसीलिए वे इलाहाबाद के क़िले में क़ैद रहने गये। परन्तु वहाँ उन्होंने पहरेवाले को मिला लिया और उसकी पोशाक पहिनकर भाग खड़े हुए और महादेव के पर्वत पर जाकर आश्रय लिया। वहाँ पिण्डारियों का एक सरदार आकर

इनसे मिला और उसने आसपास बहुत धूम-धाम की। अप्पासाहब के पीछे राघोजी की स्त्री ने एक लड़के को गोद लिया और उसके नाम से रेजेन्सी का कारबार चलाया। अङ्गरेज़ों ने अप्पासाहब को पकड़ने के लिए सेना भेजी; परन्तु उस सेना को भी धोखा देकर वे असीरगढ़ के क़िले पर चले गये और उस क़िले को अपने अधिकार में कर लिया। इस क़िले पर जनरल डव्हटन और मालकम साहब ने सेना के साथ घेरा डाला। अप्पासाहब ने इस क़िले पर से २० दिन तक लड़ाई की। अन्त में ता० ९ अप्रैल १८१९ को अङ्गरेज़ों ने क़िला ले लिया। अप्पा-साहब यहाँ से भी भाग गये और सिक्ख दरबार के आश्रय में जाकर रहने लगे। सन् १८५७ के विद्रोह के पहले लार्ड डेलहौसी के शासन-काल में जो देशी-राज्य ब्रिटिश-राज्य-लोभ के पूर में बह गये उनमें एक नागपुर का भी राज्य था, जिसका अन्त सन् १८५३ में हुआ।

सावन्तवाड़ी के भोंसले और अङ्गरेज़।

सावन्तवाड़ी के सावन्त भी प्रसिद्ध भोंसले घराने के ही हैं। इन्हें 'सावन्त' कहते हैं और इन्हीं के नाम पर गाँव का नाम 'सावन्तवाड़ी' पड़ा है। इस घराने का मूलपुरुष विजयनगर-राज्य के समय प्रसिद्ध हुआ था। सोल-हवीं शताब्दि के लगभग गोवा और सावन्तवाड़ी प्रान्त बीजापुर के अधिकार में आये। उस समय सावन्त बीजापुर के राजा के आश्रय में रहने लगे। जब शिवाजी ने कोकन प्रान्त जीता तब उनसे छुड़ाने के लिए लखम सावन्त ने बादशाह से आज्ञा प्राप्त की; परन्तु शिवाजी ने उसका परा-

मव किया और कुड़ालप्रान्त में भी घुस उसके थाने और क़िले लेकर लखम सावन्त को बहुत हानि पहुँचाई। तब लखम, पोर्तुगीज़ों के आश्रय में गया। शिवाजी ने पोर्तुगीज़ों पर भी आक्रमण किया और फोंडा नामक क़िला उनसे लिया। इसके पश्चात् पोर्तुगीज़ भी शरण में आये और उन्होंने तोपें नज़र कीं। लाचार और निराश्रय होकर लखम ने १६५९ में शिवाजी से सन्धि की जिसमें सावन्त ने यह स्वीकार कि "कुड़ाल प्रान्त की आमदनी में से छः हज़ार होने (?) लेकर अपने पास सेना रक्खूँगा और काम पड़ने पर शिवाजी की नौकरी बजाऊँगा।" शिवाजी ने सावन्त को उस प्रान्त का वहिवटदार बनाकर 'सावन्त-बहादुर' का पद दिया; परन्तु लखम सावन्त फिर बीजापुरवालों से मिल गया और १६६४ में बीजापुरवालों को शिवाजी के थाने देकर मालवण गाँव इनाम में लिया तथा और भी कुछ हक़ प्राप्त किये। राङ्गणा क़िले पर बीजापुर की फ़ौज ने जो आक्रमण किया था उसमें लखम सावन्त शामिल था। इसके बाद जब कुड़ाल गाँव में शिवाजी और बीजापुर की सेना में लड़ाई हुई तो उसमें लखम ने बड़ा भारी शौर्य प्रगट किया था।

सावन्त और अङ्गरेज़ों का प्रथम सम्बन्ध सन् १६७४ में हुआ। सावन्त कोंकणपट्टी पर लुटेरों का काम करता था। उसी समय एक जहाज़ को लूटते समय एक अङ्गरेज़-व्यापारी जहाज़ से उसकी लड़ाई हुई। इस लड़ाई के सम्बन्ध में फ़ायर नामक अङ्गरेज़ ने इस प्रकार लिखा है—"लुटेरों ने लगातार बहुत अग्नि-वर्षा की; गुलेल से पत्थर मारे और भाले फेंके। उनका जहाज़ हमसे दसगुना बड़ा था। उनमें

तैयारी बहुत अच्छी थी। नाविकों के सिवा उस जहाज़ में साठ लड़ाऊ योद्धा और थे।" लखम सावन्त सन् १६७५ में मरा। उसने अपने नाम का सिक्का चलाया था। शिवाजी की मृत्यु के बाद मुग़लों ने कोंकण पर चढ़ाई की। इधर सावन्त बीजापुर के आश्रम से भी निकल गये थे और कुड़ाल के मूल मालिक प्रभु भी सावन्त के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। तब खेम सावन्त ने सन् १६८६ में औरङ्गज़ेब बादशाह से देशमुखी और मनसबदारी की सनद प्राप्त की। इसके बाद आँग्रे प्रबल हुए और इनसे सावन्तों के अनेक युद्ध हुए। सन् १६६७ में जब प्रभु-घराने का अन्त हो गया, तब सावन्त ने कुड़ाल प्रान्त पर अधिकार कर लिया। आँग्रे के समान पोर्तुगीज़ों से भी अङ्गरेज़ों के बहुत युद्ध हुए। सन् १७०७ में जब औरङ्ग-ज़ेब की मृत्यु हुई तब उसके लड़के मोअज़िम ने दिल्ली की गादी-सम्बन्धी झगड़े में सावन्त की सहायता ली थी। पश्चात् दक्षिण से मुग़लों का शासन नष्ट हो जाने के कारण खेम सावन्त ने मराठों का आश्रय लिया। पहले यह शाहू महाराज के विरुद्ध ताराबाई से जाकर मिला और कुड़ाल प्रान्त उनसे लिया। जब शाहू की विजय हुई और ताराबाई कोल्हापुर चली गई तब वह शाहू से जाकर मिल गया और उसने आधा 'शालसी' परगना शाहू से इनाम में पाया। इसलिए कोल्हापुरवालों से और अङ्गरेज़ों से युद्ध हुआ। सन् १७२० में सावन्त ने आँग्रे के विरुद्ध अङ्गरेज़ों से सन्धि की। सन् १७३० में दूसरी सन्धि फिर हुई। इसमें यह ठहराव हुआ कि—"अङ्गरेज़ सावन्तों को तोपें दिया करें और संयुक्त फ़ौज के जीते हुए क़िले आदि सावन्तों को मिलें"। कहा

जाता है कि भारतीय राजाओं की सन्धि में यह सन्धि सबसे पहली है।

फोंड़ सावन्त ने बहुतसे क़िले बनवाये और उसके पुत्र रामचन्द्र और जयराम सावन्त ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् १७३८ में सावन्त ने पोर्तुगीज़ों का पराभव कर बहुत सी तोपें और ध्वजाएँ प्राप्त कीं। सन् १७३९ में जब पेशवा ने वसई ली तब सावन्त ने भी उसमें थोड़ी बहुत सहायता दी थी। सन् १७४० में सावन्त और पोर्तुगीज़ों से सन्धि हुई, जिसके अनुसार इन लोगों ने २५ हज़ार रुपये सावन्त को दिये। सन् १७४६ में सावन्त और मराठा सरदार भगवन्तराव पण्डित ने आंग्रे पर चढ़ाईकर बहुतसा देश विजय किया। इसके बाद सन् १७५० में सावन्त और आंग्रे के कई युद्ध हुए जिनमें सावन्त को बहुत कीर्ति प्राप्त हुई। सन् १७५२ में सावन्त घराने में गृह-कलह प्रारम्भ हुई। तब पेशवा ने बीच में पड़कर उसे शान्त किया। इस कलह के कारण सावन्त-घराने के एक पुरुष ने पोर्तुगीज़ों का आश्रय लिया; अतः झगड़े की जड़ न मिट सकी। सन् १७५६ में प्रभु घराने के एक पुरुष ने कुड़ाल प्रान्त वापिस लेने के लिए पेशवा की सहायता प्राप्त की। सन् १७६२ में जिबबादादा बक्षीकरकर (जो सावन्तवाड़ी का रहनेवाला था) के प्रयत्न से जयप्पा सिन्धिया की लड़की का खेम सावन्त के साथ विवाह हुआ। इस प्रकार जिबबादादा ने अपने पहले मालिक के उपकार का बदला चुकाया और सिन्धिया तथा सावन्त का भी मेल हो गया। फिर सावन्तों के लुटेरेपन के कारण अङ्गरेज़ों से और उनसे अनबन शुरू हुई। सन् १७६५ में दोनों की लड़ाई छिड़ गई और फिर इस प्रकार सन्धि हुई कि सिन्धु-दुर्ग

से जो वेतन अङ्गरेज़ों को मिलता है वह सावन्तों को मिले। युद्ध-व्यय के बदले में एक लाख रुपये, कुछ प्रदेश और भरतगढ़ का क़िला, सावन्त अङ्गरेज़ों को दें; सावन्त जहाज़ी बेड़ा न रक्खें और न यूरोपियनों को नौकरी में रक्खें तथा गोला, बारूद आदि लड़ाई का सामान अङ्गरेज़ यथोचित मूल्य पर सावन्तों को बेचें। परन्तु इस सन्धि की शर्तों को भी जब सावन्त पूरी तरह नहीं पाल सके तब उन्हें और भी कड़ी शर्तों की सन्धि दूसरी बार स्वीकार करनी पड़ी। सन् १७८४ में जिबवादादा ने शाहआलम बादशाह से सावन्त को 'राजाबहादुर' का पद और मोरछल का सन्मान दिलाया। सावन्त का सम्बन्ध सिन्धिया से होगया था; अतः सावन्त को सतारा के भोंसले का ऋणानुबन्धी होना पड़ा और इसीलिए कोल्हापुरवालों ने सन् १७८७ में सावन्त से युद्ध छेड़ दिया। तब सावन्तों को अपने पड़ोसी पोर्तुगीज़ों से सहायता लेना आवश्यक हुआ। इस युद्ध में जो कोल्हापुरवालों के कई थाने ले लिये गये थे उन्हें वापिस दिलवा देने का सिन्धिया के द्वारा पूना-दरबार में प्रयत्न किया गया। तब परशुराम भाऊ ने कोल्हापुरवालों पर चढ़ाई कर सावंतों के थाने वापिस दिलवाये। इसपर पोर्तुगीज़ों ने छेड़-छाड़ की और सावंतों से युद्ध कर उनके कुछ थाने ले लिये; परन्तु इन्होंने तुरंत ही पोर्तुगीज़ों का पराभव किया और पूरा फोंड़ा परगना लौटा लिया।

सन् १७९६ में जिबवादादा बक्षी की मृत्यु हुई जिससे सावन्तों का एक बड़ा भारी आश्रय ही नष्ट हो गया। सन् १८०३ में खेम सावंत का परलोक होगया। यह राजा विद्या-व्यसनी के नाम से बहुत प्रसिद्ध था और इसने साधु-संतों को दया-धर्म

में भी बहुत कुछ किया था। इसकी चार स्त्रियाँ थीं जिन्हों-ने इसकी मृत्यु के बाद राज्य कार्य्य चलाया। इनके बहुत शत्रु थे और इनमें गृह-कलह की भी कमी न थी; अतः इनके शासन-काल में ख़ूब उथल-पुथल हुई। यहाँ उनका विस्तृत वर्णन देने की आवश्यकता नहीं है। इस कलह के कारण सावंतों की साम्पत्तिक स्थिति बहुत हीन हो गई थी। पोर्तुगीज़ों और कोल्हापुरवालों ने उनकी बहुत सहायता की। सन् १८०५ में खेम सावंत की बड़ी स्त्री लक्ष्मी बाई ने भाऊ साहब को गोद लेकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया; परन्तु ऐसा न हो सका। अतः सन् १८०८ में भाऊसाहब का ख़ून हुआ। इसी वर्ष लक्ष्मीबाई की भी मृत्यु होगई। तब खेम सावंत की दूसरी स्त्री दुर्गाबाई ने राज्य-कार्य्य अपने हाथ में लिया। यह प्रसिद्ध है कि यह स्त्री बहुत कार्य-दक्ष, चतुर, न्यायशील और स्वाभिमानिनी थी। इसने गृह-कलह मिटाने को "फोंड सावंत" को गादी पर बैठाया।

सन् १८१२ में सावंत वाड़ी के आसपास जो सामुद्रिक डाके पड़ा करते थे उन्हें बन्द करने के लिए अंगरेज़ों ने सावंतों से बार बार अनुरोध करना शुरू किया। तब मथुरा में संधि होकर यह ठहरा कि सावंत, अपने सब जहाज़, वेंगु-र्ला का कोट और तोपों को वैटरी के स्थान अङ्गरेज़ों के अधीन करें और अङ्गरेज़ों की आज्ञा के बिना कोई जहाज़ बंदर छोड़कर न जावे तथा सावन्त अङ्गरेज़ों की सेना को अपने राज्य में रहने दें। इसी वर्ष फोंड सावंत की भी मृत्यु हुई। तब उसके पुत्र बापूसाहब को दुर्गाबाई ने गादी पर बैठाया। सन् १८१३ में अङ्गरेज़ों ने कोल्हापुरवालों का पक्ष लेकर अपनी सेना सावंत वाड़ी पर भेजी और मरगगढ़ का

क़िला सावंतों से कोल्हापुरवालों को दिलाया तथा वेंगुरटला का क़िला स्वयं अङ्गरेज़ों ने ले लिया। दुबारा फिर अङ्गरेज़ों ने सेना भेजी और वह प्रदेश जिसे पहले अङ्गरेज़ बदले में लेना चाहते थे, सावन्तों से बलात् छीन लिया। सन् १८१९ में रेडीनिवली और बाँदे के क़िले भी अङ्गरेज़ों ने ले लिये। इस वर्ष दुर्गाबाई की भी मृत्यु हो गई और खेम सावंत की शेष दो स्त्रियाँ राज-काज देखने लगीं; परन्तु अङ्गरेज़ों ने कहा कि कारभारी नियत करने का अधिकार हमारा है; अतः उन्होंने कप्तान हचिनसन को सावंतवाड़ी का रेज़ीडेंट नियत किया। सन् १८२२ से यह काम रत्नागिरी के कलेक्टर के सुपुर्द किया गया। इसके बाद कोल्हापुरवालों के घाट के नीचे गाँवों से कर वसूल न करने के बदले में ७८२५) वार्षिक अङ्गरेज़ों ने सांवतवाड़ी वालों से कोल्हापुर-वालों को दिलाये। सन १८२३ से बापू साहब स्वतंत्र रीति से काम-काज देखने लगे। सन् १८३० में इनके विरुद्ध जब विद्रोह खड़ा हुआ तब उसके नष्ट करने के लिए इन्हें अङ्गरेज़ों की सेना लानी पड़ी। सन १८३२ में राज्य का ऋण कम करने के लिए अङ्गरेज़ों ने राज्य का आय-व्यय निश्चित कर दिया। सन १८३५ में फिर विद्रोह हुआ, जिसे ब्रिटिश सेना ने आकर शान्त किया। सन् १८३६ में सावंतों से अङ्गरेज़ों ने जक़ात लेना शुरू किया। सन १८३८ में अङ्गरेज़ों ने राजा की दुर्व्यवस्था के कारण पोलिटिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट नियत किया। इसके बाद कितने ही वर्षों तक बराबर विद्रोह पर विद्रोह होते रहे। सावंतवाड़ी प्रान्त विद्रोह करने के लिए बहुत उपयुक्त स्थान था और वहाँ की प्रजा भी किसीकी परवाह नहीं करती थी। गोवा

की सीमा से उन्हें गोली-बारूद मिला करती थी। सन् १८८७ में शेष बचे हुए विद्रोहियों को क्षमा प्रदान की गई और उन्हें संस्थान में आने-जाने की आज्ञा दे दी गई। तब उन लोगों ने आकर राज्य की सेना में नौकरी कर ली। प्रथम युवराज भी इन विद्रोहियों में शामिल था।

सिंधिया और अङ्गरेज़।

सिंधिया-घराने का मूलपुरुष राणोजी कण्हेर खण्ड का पटैल था। यह बालाजी विश्वनाथ पेशवा की नौकरी में मुख्य सेवक का काम करता था। राणोजी एक दिन बाजी-राव के जूते अपनी छाती से लगाये हुए सोता था। यह देख-कर बाजीराव बहुत प्रसन्न हुए और उसे कृपापूर्वक पगड़ी का काम दिया गया। वहाँ से राणोजी ने अपने पराक्रम और योग्यता से इतनी उन्नति की कि एक दिन राणोजी मराठों में केवल मुख्य सरदार ही नहीं बना, वरन मुहम्मद बादशाह के यहाँ जब बाजीराव की ज़ामिनी की आवश्यकता हुई तब राणोजी की ज़ामिन लेकर राणोजी के दस्तख़त ज़ामिनी के कागज़ पर कराये गये। मालवा में सरकारी नौकरी करते करते ही राणोजी की मृत्यु हुई। राणोजी के लड़कों में जयप्पा और दत्ताजी नामक दो पुत्र बड़े ही बल-वान और शूर थे। इन्होंने भी सरकारी सेवा उत्तम रीति से की थी। जयप्पा का खून हुआ था और दत्ताजी दिल्ली की लड़ाई में मारा गया था। राणोजी की राजपूत रानी से उत्पन्न दो पुत्र और थे जिनका नाम महादजी और तुका-जी था। राणोजी के पश्चात् जयप्पा का पुत्र जनकोजी सरदार हुआ। यह भी अत्यंत शूर था। इसकी मृत्यु पानीपत

के युद्ध में हुई। पानीपत के युद्ध से लौटने के पश्चात् महादजी को पेशवा की निजी सेना का काम दिया गया। इसकी निज की सेना भी बहुत थी। अबदाली के काबुल लौट जाने पर मराठे फिर उत्तर-हिन्दुस्थान भर में फैल गये। उस समय महादजी, विसाजी कृष्ण बिनीवाले के हाथ के नीचे सरदारी का काम करता था; परन्तु इसके बाद ही उसने स्वतंत्र रीति से देश-विजय और खंडनी वसूल करने का क्रम प्रारंभ किया, जिसमें वह बहुत सफल हुआ। नानासाहब पेशवा के बाद महादजी का प्रभाव पेशवा के दरबार में बढ़ने लगा और सब सरदारों से भी उसका मान बढ़ गया। महादजी और नाना फड़नवीस का उत्कर्ष-काल एक था और अङ्गरेज़ों से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमें पेशवा का मुख्य आधार सिंधिया था। सिंधिया ने ही बड़गाँव में अङ्गरेज़ों का पराभवकर पेशवा के अनुकूल संधि करने के लिए अङ्गरेज़ों को बाध्य किया और सालबाई की संधि के समय भी अङ्गरेज़ और पेशवा की मध्यस्थता सिंधिया ने ही की तथा संधि की शर्तों के अनुसार काम करने के लिए स्वतंत्र संस्थानिक की हैसियत से दोनों का ज़ामिनदार भी सिंधिया ही हुआ। इसके सिवा दिल्ली को अधिकृत कर बादशाह शाहआलम को अपने वश में कर उनसे पेशवा के नाम पर वकील-मुतलक की सनद प्राप्त की।

उत्तर-भारत में सिंधिया और अङ्गरेज़ देश बढ़ाने की इच्छा रखते हुए अपनी अपनी शिकार की ताक में थे, अतः इन दोनों का वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक था। दोनों ही चाहते थे कि दिल्ली और उसका बादशाह हमारे अधिकार में रहे। इसके लिए दोनों ने प्रयत्न भी खूब किये; परन्तु

महादजी के मरने तक अङ्गरेज़ों की इच्छा सफल न हो सकी। सन् १७९४ में महादजी सिंधिया की मृत्यु हुई। महादजी में अङ्गरेज़ों ही के समान पराक्रम, चातुर्य और राजनीतिज्ञता थी। महादजी की मृत्यु के पश्चात् अङ्गरेज़ हाथ-पांव फैलाने लगे। महादजी के उत्तराधिकारी का अङ्गरेज़ों ने पराभव किया और उसका उत्तर की ओर का बहुतसा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। महादजी ने मध्यभारत में जितना प्रदेश अधिकृत किया था केवल उतना ही उसके अधिकारी के पास रह सका। एक ही वर्ष (१८०३) में अलीगढ़, दिल्ली, आसई, आगरा, लासवारी और आरगांव में सिंधिया की सेना का पूरा पराभव हुआ और महादजी के समय का सैनिक वैभव अस्त होगया। इसी वर्ष के दिसंबर मास की सूरजी-अंजनगाँव की सन्धि के अनुसार सिंधिया को यमुना और गंगा के बीच के प्रान्त, जयपुर, जोधपुर और गुहद के उत्तर का प्रदेश भड़ोंच और अहमदनगर के परगने और क़िले और अजंटा घाटी तथा गोदावरी के बीच का देश तथा मुग़ल, पेशवा, निज़ाम और गायकवाड़ पर के सब हक़ और दावे छोड़ने पड़े। साथही उन राजाओं की स्वतंत्रता, जो पहले सिंधिया के अधीन थे और इस समय अङ्गरेज़ों के पक्ष में थे, सिंधिया को मान्य करनी पड़ी। फिर एक वर्ष बाद बुर्हानपुर में संधि हुई जिसमें दौलतराव सिंधिया को अपने ख़र्च से अङ्गरेज़ों की छः हज़ार सेना रखना स्वीकार करना पड़ा। इसके एक वर्ष बाद अहमदाबाद में मार्क्विस आफ़ वैलस्ली से सिंधिया ने फिर संधि की, जिसमें सूरजी-अंजनगाँव की संधि का कुछ संशोधन किया गया और

धौलपुर, बाड़ी, राजखेड़ा आदि परगने देकर उसके बदले में सिंधिया ने ग्वालियर और गोहद ले लिये। इसी समय सिंधिया राज्य की उत्तर सीमा चँबल नदी निश्चित हुई और अङ्गरेज़ों ने यह स्वीकार किया कि सिंधिया के बिना पूछे उदयपुर, जोधपुर, कोटा आदि राज्यों से हम स्वतंत्र संधि न करेंगे। इसमें एक विशेष महत्व की बात यह हुई कि अपने और अपनी लड़की के लिए अङ्गरेज़ों से चार लाख की जागीर लेकर सिन्धिया, अङ्गरेज़ों के वैतनिक सरदार भी बने। सन् १८१७ में अङ्गरेज़ों को संदेह हुआ कि कदाचित् सिन्धिया, बाजीराव पेशवा की सहायता करेगा, अतः उन्होंने अपनी सेना सिन्धिया के राज्य की ओर भेजी। तब सिन्धिया ने सन्धि कर अपनी सेना अङ्ग-रेज़ों के बतलाये हुए स्थान पर छावनी डालकर रखना और बिना उनकी आज्ञा के सेना को कहीं न भेजना स्वीकार किया और मराठों से युद्ध होते समय अङ्गरेज़ी सेना या उसकी रसद को अपने राज्य में न रोकना भी स्वीकार किया और इसके विश्वास के लिए असीरगढ़ का क़िला तथा राज पूत राजाओं की तीन साल की वसूली अङ्गरेज़ों को देने का वचन भी दिया।

दौलतराव सिंधिया सन् १८२७ के मार्च मास में मरे। इनके शासन में पेशवाई के साथ साथ सिंधियाशाही के नाश होने का भी क़रीब क़रीब समय आ पहुँचा था; परन्तु सुदैव से यह डेढ़ करोड़ रुपये वार्षिक आमदनी का मराठी राज्य उत्तर-भारत में बच गया। महादजी ने जितना अपना राज्य बढ़ाया था क़रीब क़रीब उतना ही राज्य उनके बाद की पीढ़ी में दौलतराव ने खोदिया। दौलतराव की मृत्यु के पश्चात्

उनकी स्त्री तायजाबाई ने एक अल्प-वयस्क दक्षिणी मराठा बालक गोद में लिया और ब्रिटिश रेज़ीडेन्ट के द्वारा प्रायः सब राज्य-कार्य होने लगा। सन् १८३७ में सिंधिया की सेना का पुनःसंगठन हुआ और उसपर अङ्गरेज़ अधिकारी नियत किये गये। जनकोजी सिंधिया के शासन-काल में पहले तो नैपाल और अफ़ग़ानिस्तान से और फिर सन् १८५७ में पेशवा (ब्रह्मावर्त) की ओर से अङ्गरेज़ों के विरुद्ध युद्धों में खड़े होने के लिए तैयार करने को वकील आये थे; परन्तु जनकोजी ने सिर नहीं उठाया। इसी बीच में अर्थात् सन् १८४४ में सिंधिया की बिगड़ी हुई सेना ने महाराजपुर में अङ्गरेज़ों से दो दो हाथ लिये और उसमें अङ्गरेज़ों को हानि भी बहुत उठानी पड़ी थी; परन्तु अंत में उसका पराभव हुआ और इसके प्रायश्चित्त में सिंधिया को १८ लाख की आमदनी का प्रदेश अङ्गरेज़ों को सैनिक काम के लिए देना पड़ा तथा अपनी सेना भी कुछ कम करनी पड़ी। सन् १८५७ में सिंधिया की कुछ सेना ने विद्रोह कर सिंधिया को अपना अगुआ बनने की प्रार्थना की। यह ऐसा समय था कि कर्नल मलेसन कहता है कि यदि इस समय महादजी सिंधिया जीवित होता तो उसने इस समय से लाभ उठाकर अङ्गरेज़ी राज्य का नाश अवश्य किया होता और दौलतराव सिंधिया भी इतना दब चुका था, तो भी वह विद्रोहियों में अवश्य शामिल होगया होता तथा जयाजीराव सिंधिया भी यदि चाहते तो झाँसी की रानी और अङ्गरेज़ों की विद्रोही सेना से मिलकर उत्तर-भारत से अङ्गरेज़ों को उखाड़ देते। परन्तु जयाजीराव ने अङ्गरेज़ों का पक्ष नहीं छोड़ा। इस ईमानदारी के बदले में अङ्गरेज़ों

ने उन्हें तीन लाख की आमदनी का प्रदेश और तीन हज़ार के बदले पाँच हज़ार सेना और बत्तीस तोपें की जगह छत्तीस तोपें रखने की आज्ञा दी। सिंधिया की जिस सेना ने विद्रोह किया था उसके स्थान पर अङ्गरेज़ों ने अपने अधिकारियों के हाथ के नीचे की सेना रक्खी। इस प्रकार अङ्गरेज़ और सिंधिया के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का इतिहास क़रीब ८०-८५ वर्ष का है।

होलकर और अङ्गरेज़।

जिस तरह सिंधिया का मूलपुरुष हुजरा था उसी प्रकार होलकर घराने का मूलपुरुष भेड़ें चराने और कंबल बिननेवाला एक गड़रिया था। एक दिन उसके गाँव पर से गुजरात की ओर सेना जा रही थी। उसमें वह भी सिपाही बनकर भर्ती हो गया। इसने लड़ाई में अच्छा पराक्रम दिखाया, अतः इसे तुरन्त ही कंडाजी क़दम-सरदार के हाथ के नीचे पच्चीस सवारों की मनसबदारी दी गई। इसके पश्चात् जब पेशवा मालवा की ओर जाने वाले थे तो उन्होंने शत्रु पक्ष के विरुद्ध मल्हारराव होलकर का पराक्रम देखकर कंठाजी से मल्हारराव को अपनी नौकरी के लिए माँग लिया और उन्हें ५०० सवारों का मनसबदार बनाया। राणोजी सिंधिया के समान मल्हारराव होलकर का उत्कर्ष भी तुरन्त ही हुआ। सन् १७२८ में बारह और सन् १७३१ में, २० और इस तरह मालवा के ३२ परगने अधिकृत कर मल्हारराव के अधिकार में दिये गये और नियमानुसार सूबेदारी की सनद दी गई।

इसके पश्चात् इंदौर और उसके नीचे का प्रदेश मल्हारराव को सदा के लिए दिया गया और सन् १७२५ में नर्मदा के उत्तर की ओर की सेना का पूर्ण आधिपत्य भी दिया गया। निज़ाम और बसई के पोर्तुगीज़ आदि के साथ के युद्धों में मल्हारराव प्रमुख थे। सन् १७५१ में मल्हारराव ने रुहेलों के विरुद्ध अयोध्या के नवाब को सहायता दी। मल्हारराव पानीपत के युद्ध में शामिल था और उसने सदाशिवराव भाऊ को सलाह दी थी कि रणक्षेत्र में सन्मुख की लड़ाई करने की अपेक्षा धोखा देकर लड़ना उचित है; परन्तु सदाशिवराव ने यह सम्मति नहीं मानी। पानीपत में पराजय होने पर बची हुई सेना लेकर मल्हारराव दक्षिण को लौट आये और सन् १७६५ में उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के समय उनके राज्य की आमदनी ७५ लाख के लगभग थी। मल्हारराव के पश्चात् उनकी पुत्रवधू अहिल्याबाई और तुकोजी होलकर ने मिलकर क़रीब ३० वर्षों तक राज्य चलाया। दूसरे राज्यों से किस प्रकार का सम्बन्ध रक्खा जाय, यह प्रायः अहिल्याबाई ही ठहराती थी। तुकोजीराव होलकर गुजरात, मैसूर आदि की लड़ाइयों में सम्मिलित हुआ था।

सन् १७९५ में अहिल्याबाई और सन् १७९७ में तुकोजीराव होलकर की मृत्यु के पश्चात् सिन्धिया और होलकर में अनबन शुरू हुई और काशीराव के मूर्ख स्वभाव के कारण सिन्धिया के समान होलकर का [illegible] भी नाना की पूना-दरबार से छूट गया। सन् १७९८ में यशवन्तराव होलकर ने अपने पराक्रम से अपने पिता का आसन प्राप्त किया। यशवन्त- [illegible] और तुकोजी होलकर का सम्बन्ध मनुष्य की दृष्टि से

पहलेपहल बोरघाट के युद्ध में हुआ। इसके बाद बसई की सन्धि के पश्चात् भी इसी प्रकार का सम्बन्ध हुआ। सन् १८०२ में बम्बई की सन्धि के कारण अङ्गरेज़ और सिन्धिया का जो युद्ध हुआ उसमें यशवंतराव तटस्थ रहा; परन्तु सिन्धिया का पूर्ण पराभव हो जाने पर स्वतः यशवंतराव ने भी अङ्गरेज़ों से युद्ध छेड़ दिया। कर्नल मानसन् का पराभव कर यशवंतराव ने अङ्गरेज़ी राज्य पर आक्रमण भी किया; परन्तु फतहगढ़, डीग, भरतपुर आदि में पराभव होने पर यशवंतराव को सन्धि करनी पड़ी। इनका बहुतसा राज्य नष्ट नहीं हुआ। युद्ध से लौटकर इन्दौर आने पर अपनी सेना कम कर दी और राज्य-व्यवस्था करना प्रारंभ किया। इनका विचार था कि थोड़ी ही क्यों न हो; परन्तु सुशिक्षित सेना रखी जाय और तोप बनाने का कारख़ाना खोला जाय। परन्तु इतने ही में ये पागल हो गये और सन् १८११ में मरे। यशवंतराव होलकर के बाद इन्दौर में उत्थान होना शुरू हुआ और बहुत कुछ क्रान्ति हुई। सन् १८१७ में होलकर की फ़ौज ने फिर अङ्गरेज़ों से युद्ध प्रारम्भ किया; परन्तु महीद-पुर में उसकी हार हुई। तब महेश्वर में सन्धि की गई और उसके अनुसार होलकर का बहुतसा राज्य अङ्गरेज़ सरकार के अधिकार में चला गया। इस समय गादी पर केवल १६ वर्ष के बालक मल्हारराव थे। उन्हें अपनी रक्षा में लेकर इन्दौर के दीवान तात्या जोग के द्वारा अङ्गरेज़ों ने बहुतसी सेना कम की। सन् १८२१ और २२ में इन्दौर में जो झगड़े फ़िसाद हुए वे अङ्गरेज़ों की सहायता से नष्ट किये गये। मल्हारराव के शासन-काल में अङ्गरेज़ों ने अपनी अफीम की आमदनी बढ़ाई। मल्हारराव की मृत्यु सन् १८३३ में हुई।

इनके पश्चात् हरिराव होलकर गद्दी पर बैठे; परन्तु इनके समय में राज्य में अत्यन्त अव्यवस्था होने के कारण अङ्गरेज़ सरकार ने अन्तर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया। इनके बाद सन् १८४८ में खंडेराव और खंडेराव के तीन मास बाद ही तुकोजीराव (द्वितीय) गादी पर बैठे। इनके शासन में होलकर की सेना ने सन् १८५७ में विद्रोह किया; परन्तु तुकोजीराव से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं था।

गायकवाड़ और अङ्गरेज़।

सब मराठे सरदारों की अपेक्षा गायकवाड़ से अङ्गरेज़ों की मैत्री सबसे पहले हुई और मराठों में भी सबसे पहले इन्हींका दावा शुरू हुआ। इसका कारण यह दीखता है कि अङ्गरेज़ों के थाने पहले से गुजरात की ही ओर थे और साथ ही इस प्रान्त की ओर मराठों का लक्ष्य भी नहीं था।

मुग़लों के पहले गुजरात में हिन्दुओं का राज्य था। फिर मुग़लों ने गुजरात को जीतकर अहमदाबाद में सेना की छावनी बनाई। सन् १६६४, ६६ और ७० में शिवाजी ने गुजरात पर चढ़ाई की। तब से गुजरात में मराठों के पाँव पड़े। सन् १७०५ में धनाजी जाधव की मराठी सेना ने गुजरात पर चढ़ाई कर मुसलमान सूबेदार का पराभव किया। मुसलमानों का शासन गुजरात के लोगों को अप्रिय होगया था, अतः गुजरात में मराठों का प्रवेश होते ही गुजरात के बहुत लोग मराठों में आ मिले। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मराठों का सेनापति खंडेराव दाभाड़े गुजरात और काठियावाड़ प्रान्त में चौथ वसूल करता था। सन् १७१८ में मुग़ल बादशाह ने शाहू को जो सनदें

दी थीं उनमें गुजरात प्रान्त से चौथाई वसूल करने की सनद नहीं थी; परन्तु सेनापति ने खंडनी वसूल करने की पहली पद्धति प्रचलित की। दाभाड़े, शाहू को वसूली बराबर नहीं देते थे, अतः उन्होंने आनंदराव पँवार को इसके लिए स्थायी रूप से नियत किया। इसी समय के लगभग दाभाड़े की सेना के एक दमाजी गायकवाड़ नामक सिपाही ने शाहू महाराज से शमशेर बहादुर की पदवी अपने पराक्रम के बल और उपसेनापति का पद प्राप्त किया। सन् १७२१ में दमाजी की मृत्यु हुई और उसके भतीजे पिलाजी को गायकवाड़ी सरदारी मिली। धार के पँवारों से अनबन होने के कारण पिलाजी ने सोनगढ़ क़िले को अपना थाना बनाया। सन् १७६६ तक गायकवाड़ की राजधानी यहीं रही। इसी समय के लगभग गुजरात से मुग़लों का शासन उठ गया। गुजरात पर चढ़ाई करने का काम उदाजी पँवार, कंठाजी कदम और पिलाजी गायकवाड़ पर था। अतः इन तीनों में इस प्रान्त को अपने अधिकार में रखने के लिए स्पर्द्धापूर्ण प्रयत्न होने लगा। सन् १७२३ में पिलाजी ने सूरत पर अधिकार किया और अहमदाबाद में भी अपना प्रतिनिधि नियत किया। कदम और गायकवाड़ में चौथाई वसूली के बटने में झगड़ा हो जाने के कारण खंबायत में दोनों की लड़ाई हुई, जिसमें पिलाजी को हारना पड़ा; परन्तु अन्त में यह ठहरा कि उत्तर गुजरात की ख़ंडनी कदम वसूल करें और दक्षिण की गायकवाड़। कुछ दिनों बाद इनमें फिर झगड़ा हो गया; परन्तु दाभाड़े के प्रतिस्पर्धी बाजीराव से दोनों का वैमनस्य होने से दोनों फिर एक हो गये। फिर डभई की लड़ाई में बाजीराव पेशवा ने दाभाड़े और पिला-

जों का पराभव किया तब शाहू महाराज ने दाभाड़े के पुत्र को उसके पिता का अधिकार दिया और पिलाजी को निरीक्षक नियत कर "सेनाखासखेल" की पदवी दी । इस समय पिलाजी ने भी यह स्वीकार किया कि गुजरात की चौथ की वसूली में से आधा भाग पेशवा के द्वारा शाहू महाराज को तथा छोटे राज्यों से जो खंडनी वसूल होगी उसमें से भी यथोचित भाग दूंगा । सन् १७३१ में जब पिलाजी का वध हुआ तो उसके पीछे दमाजी गायकवाड़ सरदारी करने लगा । सन् १७३४ में बड़ोदा, गायकवाड़ के अधिकार में आया और तब से आजतक उन्हींके अधिकार में है । फिर होल्कर की सहायता से दमाजी गुजरात पर चढ़ाई करने लगा । उस समय दमाजी का ध्यान राजपूताने की ओर विशेष लगा था

सन् १७४२ में दमाजी ने मालवा में लूटमार की । उस समय नानासाहब पेशवा को यह संदेह हुआ कि यह लूट राघोजी भोंसले की शरारत से की गई है, अतः उनके और गायकवाड़ के बीच अनबन हो गई । सन् १७४८ में गायकवाड़ घराने में भी गृह-कलह शुरू हुई । सन् १७५० में दमाजी ताराबाई के पक्ष में जा मिला । इस समय ताराबाई ने सतारा के महाराज का पेशवा को कैद कर और सम्पूर्ण मराठी राज्य को पेशवा के अधिकार से निकालने का विचार किया था । दमाजी का भी यही मत था । जब ताराबाई ने रामराजा को पकड़कर सतारे के किले में कैद किया तो दमाजी उसकी सहायतार्थ गया; परन्तु पेशवा ने इसे पूना में कैद कर लिया । दमाजी का भाई खंडेराव अब पेशवा के पक्ष में जा मिला तो दमाजी ने फिर पेशवे से [illegible]

करके सन् १७३१ से चढ़ी हुई वसूली को १५ लाख में तोड़ करके अपना छुटकारा कराया। इस समय यह ठहराव हुआ कि गायकवाड़, दस हज़ार सवार रखकर आवश्यकता पड़ने पर पेशवा की सहायता करें, पाँच लाख पचीस हज़ार रुपये दें, दाभाड़े के कुटुम्ब-पोषण के लिए कुछ वृत्ति नियत कर दें और अब से गायकवाड़ जो देश विजय करें अथवा नवीन खंडनी वसूल करें उसमें से आधा हिस्सा पेशवा को दें और पेशवा, गायकवाड़ को अहमदाबाद जीतने और गुजरात से मुग़ल-शासन नष्ट करने में सहायता दें। इस समय से प्रत्येक गायकवाड़ सरदार के गद्दी पर बैठते समय नज़राना लेकर सनद देने की रीति पेशवा ने शुरू की। इस प्रकार गायकवाड़ पराधीन हुआ; परन्तु उसके मन की आँट अभी गई नहीं थी। इसके बाद गायकवाड़-घराने में प्रकट रीति से फूट पड़ी और दमाजी तथा फतहसिंह गायकवाड़ रघुनाथराव पेशवा के द्वारा अङ्गरेज़ों से मिले। सन् १७५३ में जब अहमदाबाद पर घेरा डाला गया तब दमाजी गायकवाड़ ने रघुनाथराव को सहायता दी।

दमाजी गायकवाड़ पानीपत के युद्ध में सम्मिलित था और उसने अपना बहुत शौर्य भी दिखलाया था; परन्तु मराठी सेना की हार हो जाने पर वह लौट आया। बड़े माधवराव पेशवा से झगड़ा कर जब रघुनाथराव चला आया तब दमाजी ने उसकी सहायता की, और घोड़नदी के पास पेशवा की फ़ौज का पराभव किया। इस बीच में गुजरात का विभाग गायकवाड़ को बहुत लाभदायक हो गया था। अतः पेशवा ने दो लाख ५४ हज़ार की आमदनी का प्रदेश गायकवाड़ की अधीनता से निकाल लिया। दमाजी ने सन्

१७६८ में अपने पुत्र गोविन्दराव को रघुनाथराव के सहायतार्थ भेजा । परन्तु पराभव होने के कारण रघुनाथराव के साथ साथ उसे भी पूना में क़ैद होना पड़ा । अन्त में सन्धि हुई जिसके अनुसार गायकवाड़ ने २३ लाख रुपये दंड और १६ लाख रुपये चढ़ी हुई वसूली के पेशवा को दिये । तब पहले जो प्रदेश गायकवाड़ के अधिकार से निकाल लिया था वह गायकवाड़ को वापिस किया गया और यह ठहरा कि गायकवाड़ ७ लाख ७९ हज़ार रुपये वार्षिक खंडनी दें और ४००० सेना के साथ पेशवा के पास प्रत्यक्ष नौकरी में रहें ।

कुछ दिनों बाद ही कीमिया का प्रयोग करते करते दमाजी अपघात से मरा । तब उसके छोटे लड़के फतहसिंहराव ने बड़ौदे पर अधिकार कर लिया । इधर बड़े लड़के गोविन्दराव ने पेशवा से उत्तराधिकार की सनद प्राप्त की और ५० लाख ५० हज़ार रुपये देना स्वीकार किया; परन्तु सन् १७७१ में फतहसिंहराव पूना गया और उसने भी इतनी ही रकम देना स्वीकार कर अपने बिचले भाई सयाजीराव के नाम पर 'सेनाखासखेल' की पदवी और सरदारी प्राप्त की तथा उसके रक्षक होने के अधिकार प्राप्त किये । सन् १७७२ में गुजरात लौट आने पर फतहसिंहराव ने अङ्गरेज़ों से सहायता लेने का यत्न किया और उसके बदले में सूरत-परगना अङ्गरेज़ों को देना स्वीकार किया । सन् १७७४ में पूना में झगड़ा होने से रघुनाथराव बड़ौदा आया और गोविन्दराव से मिला । तब फतहसिंह ने नाना फड़नवीस से सहायता मांगी । रघुनाथराव ने सूरत में अङ्गरेज़ों से सन्धि की । इस सन्धि के अनुसार रघुनाथराव ने अङ्गरेज़ों को

वसई, साष्टी और सूरत के आसपास का प्रदेश देना स्वीकार किया। साथ ही साथ गायकवाड़ का भड़ौंच का हिस्सा भी गोविन्दराव से दिला देने का रघुनाथराव ने प्रण किया। सूरत, भड़ोंच और खंबात—ये तीन बंदर व्यापार के लिए बहुत उपयोगी होने से अङ्गरेज़ों की इस पर दृष्टि लगी हुई थी, अतः इन बंदरों को तथा वसई और साष्टी स्थानों को अपने अधिकार में लेने की इच्छा से अङ्गरेज़, पेशवा और गायकवाड़ के झगड़ों में पड़े। गोविन्दराव को अङ्गरेज़ों की सहायता मिलने के कारण फतहसिंहराव नानाफड़नवीस के पास गया। तब उसकी और सिन्धिया होलकर आदि की सेना ने तथा हरिपन्त फड़के ने गोविन्दराव को बड़ौदा पर से घेरा उठाने के लिए बाध्य किया और रघुनाथराव को हराया। दूसरे वर्ष फतहसिंह ने फिर करवट बदली और रघुनाथराव की ३००० सेना से सहायता करना तथा अङ्गरेज़ों को भड़ौंच, चिखली आदि परगने देना स्वीकार कर अङ्गरेज़ों का मन; गोविन्दराव का पक्ष छोड़ने की ओर झुकाया। सन् १७७८ में पेशवा ने फतहसिंह को 'सेनाखासखेल' की पदवी दी; परन्तु उसे भड़ौंच की वसूली का हिस्सा नहीं मिला। सन् १७८० में फतहसिंह ने अङ्गरेज़ों से फिर सन्धि की और अङ्गरेज़ों ने सहायता देकर उसको अहमदाबाद जिता दिया। इसी वर्ष अङ्गरेज़ों ने कप्तान अर्ले को बड़ौदे में अपना पहला रेज़ीडेन्ट नियत किया। परन्तु सन् १७८२ में पेशवा से जो सालबाई की सन्धि हुई उसके अनुसार अङ्गरेज़ों को फतहसिंह का पक्ष छोड़ना पड़ा और उसके साथ की हुई सन्धि रद्द करने के साथ साथ अहमदाबाद, फतहसिंह से लेकर पेशवा को देना पड़ा। पेशवा ने फतहसिंहराव पर चढ़ी हुई वसूली की बाक़ी माफ़

कार दी; परन्तु पेशवा के आश्रय में स्वयं उपस्थित होकर नौकरी करने को बाध्य किया।

सन् १७८८ में फतहसिंह की मृत्यु अपघात से हुई। तब फतहसिंह के छोटे भाई मानजी का हक़ स्वीकार कर उसे सयाजी का कारभारी बनाया। इसके बदले में उसने नवीन, पुरानी खंडनी मिलकर साठ लाख रुपये, चार क़िस्तों में देना स्वीकार किया। सन् १७९३ में मानजी की भी मृत्यु हुई। तब गोविन्दराव सरदारी प्राप्त करने को पेशवा के पीछे लगा; परन्तु पेशवा ने इसमें बहुत कठोर शर्तें डाली थीं; अर्थात् ५६ लाख रुपये नज़राना और सैनिक सेवा के बदले के ४३ लाख रुपये देने के साथ साथ तापी नदी के दक्षिण की ओर का प्रदेश और सूरत बन्दर पर की जकात का हिस्सा पेशवा को देना गोविन्दराव स्वीकार करे; परन्तु सालबाई की सन्धि का कारण उपस्थित कर पेशवा को तापी के दक्षिण का भाग देने में अंगरेज़ों ने बाधा उपस्थित की। इसके बाद गायकवाड़ी इतिहास बहुत अव्यवस्थित है। सन् १७९७ में गोविंदराव ने पेशवा को ३८ लाख रुपये देकर ६० लाख रुपये माफ़ करा लिये। तो भी पेशवा के चालीस लाख रुपये देना बाक़ी रह ही गये। बाजीराव के समय में पेशवा के गुमाश्ते से गोविंदराव की कुछ खटपट हो गई और लड़ाई शुरू हुई। सन् १८०० में गोविंदराव ने अंगरेज़ों से सहायता माँगी। इस समय गायकवाड़ राज्य के बड़े बड़े साहूकारों के यहाँ उसकी बहुतेरी चिट्ठियाँ रहने से और परगने के मामलतदार वसूली करके बैठे बैठे मौज कर रहे थे। सैनिकों को तनख़्वाहें नहीं दी और सेना में अरब आदि लोगों का ज़ोर बढ़ गया था; इस अव्यवस्थित सेना का मासिक

ख़र्च क़रीब ३०, ३५ लाख रुपये था। इसमें से बहुतसा रुपया अरब, बगदादी, अबीसीनियन आदि मुसलमानों के ही पल्ले पड़ता था। इन भाड़ैती लोगों में भी फूट थी और किसी एक पक्ष की ज़ामिन हुए बिना बड़ोदा सरकार अपना वचन नहीं पालती थी। बड़ोदा के लोगों का विश्वास भी ऐसा ही हो गया था। इस ज़ामिन की पद्धति को ही 'बहानदरी' पद्धति कहते थे।

गायकवाड़ के दोनों पक्षों ने अंगरेज़ों को पंच बनाया। अङ्गरेज़ों को यहाँ सेना के साथ पंचायत करनी पड़ी। सन् १८०२ में मेजर वाकर ने बड़ोदा आकर गायकवाड़ के जागीरदार से युद्ध किया। फिर गायकवाड़ से संधि हुई जिसमें गायकवाड़ ने अंगरेज़ों को ८४ परगने, सूरत की चौथाई और युद्ध-ख़र्च देना स्वीकार किया तथा भाड़ती सेना को निकाल कर अंगरेज़ों के २,००० सिपाही और तोपखाना रखने और उसके व्यय के लिए ६५,०४० रुपये मासिक आमदनी का प्रान्त अंगरेज़ों को देने की मंजूरी दी। फिर गायकवाड़ से ठहरी हुई रक़म अंगरेज़ों को न दी जा सकी, तब सन् १८०३ में धाड़का, नड़ियाद, बीजापुर प्रभृति प्रान्त गायकवाड़ ने अंगरेज़ों को दिये। पहले जब गोविंदराव से, पेशवा प्रदेश लेने वाले थे तब अंगरेज़ों ने इसके लिए आपत्ति की थी; परन्तु इस बार स्वयं अंगरेज़ों ने ही गायकवाड़ से प्रदेश लिया। दूसरे बाजीराव के समय में पेशवा से और गायकवाड़ से जो विवाद और अंगरेज़ों से झगड़ा हुआ उसका यह भी एक कारण था। एक संधि से अंगरेज़ों ने यह समझ लिया था कि हमें अब गायकवाड़ के राज्य के संचालन में हाथ डालने का अधिकार हो गया है और इसीलिए वे राज्य की उचित व्यवस्था हो

जाने पर भी राज्य में उथलपुथल करने लगे थे। तब बड़ोदा के राजा और अंगरेज़ों में स्नेह-भाव के बदले विरोध बढ़ने लगा। अंगरेज़ों से गादी का उत्तराधिकार स्वीकार करने और पेशवा से बातचीत करने का उत्तरदायित्व अंगरेज़ों ने अपने ऊपर ले लिया और फिर आगे काठियावाड़ के इन राजाओं के साथ गायकवाड़ के जो हक़ थे उनमें भी ब्रिटिश रेज़ीडेन्ट हाथ डालने लगा। अन्त में, सन् १८०४ की सन्धि के अनुसार अङ्गरेज़ों की इस उथलपुथल को फ़ायदे का रूप प्राप्त हुआ।

सन् १८१२ में अङ्गरेज़ों ने गायकवाड़ को अपने और दूसरे के ऋण से, ऋण चुकाकर मुक्त किया। इसी समय के लगभग बड़ोदा में फिर दो पक्ष हो गये जिनमें से एक पक्ष अंगरेज़ों के अनुकूल और दूसरा गादी के अधिकारी आनन्दराव के पक्ष में था। आनन्दराव और पेशवा में भी अन्तरङ्ग स्नेह था; परन्तु गङ्गाधर शास्त्री आदि प्रमुख पुरुष उनके पत्रव्यवहार में आड़े आते थे। पेशवा का गायकवाड़ पर जो अधिकार था उसे अङ्गरेज़ों ने छीन लिया था। पेशवा के मनमें भी यह बात खटक रही थी। इसी समय अहमदाबाद के पट्टे की मुद्दत पूरी होने पर थी और वह फिर गायकवाड़ को देना या न देना पेशवा के अधिकार में था। पेशवा इस अहमदाबादी मामले में बड़ोदा पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। इस पट्टे को लेने के लिए सन् १८१४ में गङ्गाधर शास्त्री पूना गया। इसके सिवा पेशवा और गायकवाड़ का २ करोड़ ६१ लाख रुपयों के हिसाब का भी झगड़ा था। इस झगड़े के सम्बन्ध में पूना में शास्त्री से बहुत बातचीत होने पर झगड़ा तय हो जाने की आशा थी कि सन् १८१५ में शास्त्री का खून हुआ और

और यह बात जहाँ की तहाँ रह गई। परन्तु अङ्गरेज़ों ने इसका बदला बाजीराव से अच्छी तरह लिया और सन् १८१७ के मई मास में पूना पर घेरा डालने पर अङ्गरेज़ और पेशवा की जो सन्धि हुई उसमें अङ्गरेज़ों ने पेशवा से लिखवा लिया कि उसने गायकवाड़ पर के अपने सब दावे छोड़ दिये। इस तरह अङ्गरेज़ों को काठियावाड़ में खन्डनी वसूल करने के और पेशवा के सब अधिकार प्राप्त हुए। गायकवाड़ पेशवा की अधीनता से तो निकल गये, परन्तु अङ्गरेज़ उनके स्वामी हुए। गङ्गाधर शास्त्री ने अपने प्राण देकर गायकवाड़ और अङ्गरेज़ों का बहुत भारी लाभ करवा दिया। सन्धि के अनुसार सदा के लिये ४॥ लाख रुपये वार्षिक गायकवाड़ से पेशवा को मिलना चाहिए थे और इसके बदले में अङ्गरेज़ों ने अहमदाबाद का पट्टा गायकवाड़ से ले लिया था, परन्तु सन् १८१७ में पेशवाई के नष्ट होजाने से अङ्गरेज़ों के यह साढ़े चार लाख रुपये वार्षिक भी बच गये। फिर अङ्गरेज़ और गायकवाड़ ये दोनों ही रह गये और उनमें अङ्गरेज़ों का पक्ष किस प्रकार बढ़ता गया इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

आंग्रे और अङ्गरेज़।

कुलाबा के आंग्रे पहले आंग्रेवाड़ी गाँव के रहने वाले थे। इनका मूल-पुरुष तुकोजी संखपाल था। इसने मुग़लों को शहाजी भोंसले के विरुद्ध कोंकन प्रान्त में सहायता दी थी। शहाज़ी के बाद तुकोजी ने शिवाज़ी की नौकरी की। तब शिवाज़ी ने उसे अपने जहाज़ी बेड़े में एक बड़े पद पर नियत किया। ऐसा पता लगता है कि तुकोजी के पुत्र

कान्होजी को सन् १६९० में राजाराम महाराज ने उपसेनापति नियत किया था। जब मुख्य सामुद्रिक सेनापति सिधोजी गूजर की मृत्यु हो गई तब सन् १६९८ में कान्होजी को उसका स्थान दिया गया। कान्होजी के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि वह बहुत साहसी सामुद्रिक सैनिक था। उसने बंबई से लेकर नीचे के अरब समुद्र के सब किनारे पर अपना भय उत्पन्न कर दिया था। वह झपाटे में आ जाने पर किसी भी यूरोपियन राष्ट्र के जहाज़ों पर निर्भय होकर आक्रमण करता था। कुलाबा, सुवर्णदुर्ग, विजयदुर्ग आदि स्थानों पर उसके मज़बूत थाने थे। हिन्दुस्थानियों से यूरोपियनों के व्यवहार का मुख्य मार्ग समुद्र किनारा था, अतः यदि सबसे पहले किसी मराठे से अङ्गरेज़ों की गाँठ पड़ी तो वह आंग्रे था। कोंकनपट्टी पर अङ्गरेज़ और पोर्तुगीज़ों की बराबरी का कान्होजी का यदि कोई शत्रु था तो वह सिद्दी था। सन् १६९९ में पोर्तुगीज़ और सिद्दी ने मिलकर आंग्रे से युद्ध प्रारंभ किया; परन्तु आंग्रे ने उन्हें हरा दिया और सागरगढ़ ले लिया। फिर परस्पर में संधि हुई जिसमें यह ठहरा कि कुलाबा, खांदेरी और सागरगढ़ थानों की पट्टी का कुछ हिस्सा और राजकोट वगैरह की सब पट्टी आंग्रे को मिले। सन् १७०४ से १७१० तक कान्होजी की सत्ता इतनी बढ़ी हुई थी कि उस समय के अङ्गरेज़ी काग़ज़ों में [illegible] साहस के कारण कान्होजी को शिवाजी का नाम दिया हुआ दिखाई पड़ता है। जब शाहू और ताराबाई का झगड़ा शुरू हुआ तब कान्होजी ने ताराबाई का पक्ष लिया। इस कारण [illegible] ने कान्होजी का [illegible] करने के [illegible] [illegible] के समुद्र किनारे का [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] और

कल्याण और भीमड़ परगने का अधिकार-पत्र दिया। तब शाहू महाराज ने बहिरो पन्त पंगले पेशवा को आंग्रे पर चढ़ाई करने के लिए भेजा; परन्तु आंग्रे ने उसका पराभव कर उसे क़ैद किया और सतारे पर चढ़ाई करने की तैयारी की। तब शाहू ने फिर बालाजी विश्वनाथ को आंग्रे पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। आगे जाकर दोनों की संधि हुई और आंग्रे को शाहू महाराज ने खांदेरी से देवगढ़ तक का प्रदेश, कोंकणप्रान्त के दस क़िले, जहाज़ी बेड़े के मुख्य सेनापति का पद और "सरखेल" की पदवी दी। इनमें से कुछ क़िले शिद्दी के अधिकार में थे, परन्तु शिद्दी से युद्ध कर के वे आंग्रे ने छीन लिये। सन् १७२० के लगभग कोंकण में मुग़लों की सत्ता नष्टप्राय होकर मराठी सत्ता बढ़ने लगी। उस समय कान्होजी के पास बहुत बड़ा जहाज़ी बेड़ा और मराठों के सिवा डच, पोर्तुगीज़, अरब, निग्रो, आदि मुसलमान जातियों के भी बहुत से मनुष्य थे। कुछ दिनों तक आंग्रे को यूरोपियनों से लड़ना पड़ा। समुद्र-किनारा ख़ाली होने पर बंदर में जहाज़ लाने के लिए आज के समान उस समय भी परमाना लेना पड़ता था। जिस यूरोपियन जहाज़ के पास ऐसा परमाना न हो क़ायदे के अनुसार उसपर आक्रमण करने का अधिकार आंग्रे को था; क्योंकि एक तो वह जहाज़ी बेड़े का सरदार था, दूसरे बंदर पर के किनारे का परमाना देने का ठेका भी उसीने ले रखा था। इस ठेके के बदले के रुपये वह छत्रपति के ख़ज़ाने में पेशगी भरता था।

सन् १७१७ में अङ्गरेज़ों ने विजयदुर्ग का क़िला लेने का प्रयत्न किया; परन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए, उल्टे

उनका "सकसेस" नामक जहाज़ कान्होजी ने पकड़ लिया। सन् १७१८ में अङ्गरेज़ों ने कान्होजी के खांदेरी द्वीप पर आक्रमण किया; परन्तु कान्होजी ने उन्हें वहाँ से भी भगाया और उनको बहुत क्षति पहुँचाई। सन् १७२० में कान्होजी ने उनका एक और जहाज़ पकड़ा। तब अङ्गरेज़ और पोर्तुगीज़ मिलकर विजयदुर्ग की खाड़ी में घुसे और वहाँ उन्होंने आंग्रे के १६ जहाज़ जलाये। परन्तु वे क़िले को न ले सके। सन् १७-२२ में कुलाबे के थानेदार ने अङ्गरेज़ और पोर्तुगीज़ों का पराभव किया। सन् १७२४ में डच लोगों ने ७ बड़े बड़े जहाज़ों के काफ़िले के साथ विजयदुर्ग पर आक्रमण किया; परन्तु यह भी आंग्रे ने विफल कर दिया। सन् १७२५-२८ इन दोनों सालों में आंग्रे ने अङ्गरेज़ों के बहुत से जहाज़ पकड़े और उनके मैकनील नामक कप्तान को बहुत मार मारा और पैरों में सांकल डालकर क़िले पर रक्खा। १७३० में अङ्गरेज़ों ने आंग्रे के विरुद्ध वाड़ीकर फोंड़ सावंत से संधि कर सहायता ली। सन् १७३१ में कान्होजी की मृत्यु हुई। उसके चार लड़के थे। इनमें झगड़ा शुरू हुआ। उस समय सखोजी कुलाबा में था और वह पेशवा से मिला हुआ था। उसने और पेशवा ने मिलकर मुग़ल सरदार [illegible] का पराभव कर चौल ले लिया था। सखोजी ने अंजनवेल की लड़ाई में भी पेशवा की सहायता की थी। सखोजी की भी मृत्यु १७३३ में हुई। सखोजी की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई मनाजी और संभाजी में झगड़ा शुरू हुआ। तब मनाजी ने पोर्तुगीज़ों की सहायता से कुलाबा ले लिया। इसके सिवाय सिद्दी और अङ्गरेज़ों ने एक होकर इनका सब देश छीन लेने का विचार किया; परन्तु उनका कुछ नहीं हुआ। फिर

संभाजी बहुत प्रबल हुआ और उसने अलीबाग़ पर चढ़ाई की। तब मनाजी को अङ्गरेज़ और पेशवा की सहायता लेनी पड़ी। संभाजी इतना प्रबल हो गया था कि उसने अङ्गरेज़ों से कहा था कि अङ्गरेज़, जहाज़ों के परवाने मुझसे लें और २० लाख रुपये वार्षिक खंडनी दें; परन्तु अङ्गरेज़ों ने यह स्वीकार नहीं किया।

सन् १७४० में संभाजी को सीमा से बाहिर चढ़ते देख मनाजी ने बालाजी बाजीराव से सहायता माँगी और वह उन्होंने दी थी; परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि स्वयं पेशवा ही कुलाबा लेना चाहते हैं तो उसने किसी भी तरह संभाजी से ही सन्धि कर ली। सन् १७४८ में संभाजी भी मर गया। उसके बाद गाद्दी पर बैठनेवाला तुलाजी आंग्रे भी संभाजी के ही समान अङ्गरेज़ों का शत्रु था। तुलाजी के समय में कोंकनपट्टी पर अपने जहाज़ों की रक्षा करने में अङ्गरेज़ों को पाँच लाख रुपये वार्षिक व्यय करना पड़ते थे। तुलाजी ने बड़े बड़े जहाज़ बनवाये थे और वह दक्षिण समुद्र का सब व्यापार अपने हस्तगत करना चाहता था। सन् १७-५५ में अङ्गरेज़ और पेशवा ने मिलकर तुलाजी पर चढ़ाई करने का विचार किया। इस विचार के अनुसार मराठों ने स्थलमार्ग से और अङ्गरेज़ों ने जलमार्ग से विजयदुर्ग पर आक्रमण कर उस दुर्ग को ले लिया। इस चढ़ाई में एडमिरल वाटसन के साथ साथ कर्नल क्लाइव भी था। क़िले में आठ अङ्गरेज़ और तीन डच क़ैदी थे। वे छोड़ दिये गये और दोनों अंगरेज़ और पेशवा ने मिलकर साढ़े बारह लाख रुपयों का माल लूटा तथा स्वतः तुलाजी आंग्रे को आजन्म क़ैदी होकर रहना पड़ा। पहले की शर्त के अनुसार विजयदुर्ग

का क़िला पेशवा को मिला और उसके बदले में बाणकोट और दासगाँव अङ्गरेज़ों को मिले। विजयदुर्ग को पेशवा ने अपना सामुद्रिक सेना का सूबा बनाया और आनन्दराव धुळप को सूबेदार नियत किया।

मनाजी आंग्रे घाटीपर पेशवा की सहायता कर रहा था। वह विजयदुर्ग के पतन होने पर लौट गया। सन् १७५६ में मनाजी की भी मृत्यु हुई तब उसके दासीपुत्र राघोजी को पेशवा की सहायता से पहले ही शिद्दियों से लड़ना पड़ा। उसने शिद्दी से उंदेरी द्वीप लेकर पेशवा को दिया। राघोजी ने अलीबाग़ में रहकर अपने देश की उत्तम व्यवस्था की और चौल आदि स्थानोंमें नमक की क्यारियाँ बनवाकर अपनी आमदनी बढ़ाई। वह पेशवा को दो लाख रुपये वार्षिक खंडनी देता था तथा अलीबाग़ की सरंजामी के बदले में अपने पास सेना रखकर पेशवा की नौकरी बजाता था सन् १७६३ में रघूजी की मृत्यु हो गई। तब फिर आंग्रे-घराने में कलह उत्पन्न हुआ। मनाजी का पक्ष पेशवा के लेने पर प्रतिपक्षी जयसिंह ने सिंधिया से बातचीत करना प्रारम्भ किया। सिंधिया की ओर से बाबूराव सरदार अलीबाग़ आया और उसने दोनों ओर के पक्षपातियों को फोड़कर स्वतः अलीबाग़ पर अधिकार कर लिया। इस सब प्रकरण में जयसिंह की स्त्री सानकुंवर बाई ने अनेक वर्षों तक प्रत्यक्ष युद्ध और क़िले की लड़ाइयों पर अपना बहुत शौर्य प्रगट किया। सन् १८१३ में बाबूराव की मृत्यु के पश्चात् मनाजी (द्वितीय) को अपना शिर ऊँचा करने का मौक़ा मिला और उसने पेशवा को दस हज़ार की आमदनी का प्रदेश तथा खांदेरी द्वीप देकर अलीबाग़

वापिस ले लिया। मनाज़ी सन् १८१७ में मरा। इन दो पीढ़ियों के परस्पर के झगड़ों के कारण आंग्रे का ३०,३५ लाख का राज्य नष्ट होते होते केवल तीन लाख रह गया। मनाजी के पश्चात् उसका अल्पवयी पुत्र गादी पर बैठा। उस समय राज्य-कार्य्य-भार विवलकर देखते थे। पेशवाई सत्ता नष्ट हो जाने के बाद १८२२ में अङ्गरेज़ और आंग्रे की संधि हुई जिसमें आंग्रे ने अङ्गरेज़ों की अधिराज सत्ता स्वीकार की। तब से गादी के उत्तराधिकार ठहराने का हक़ अङ्गरेज़ों को प्राप्त हुआ। सन् १८३८ में रघूजी की मृत्यु हुई और दो वर्ष बाद उसका पुत्र भी चल बसा। इसके साथ ही आंग्रे घराने की और संतति नष्ट हुई। तब रघूजी की स्त्री ने अङ्गरेज़ों से दत्तक लेने की आज्ञा माँगी; परन्तु उन्होंने इस सुभीते के उत्तम देश को खालसा करने की इस उत्तम संधि को खोना अनुचित समझ दत्तक लेने की आज्ञा नहीं दी और इस प्रकार अलीबाग़ संस्थान खालसा किया।

पटवर्धन और अंगरेज़।

पेशवाई में जिन ब्राह्मण सरदारों ने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उनमें पटवर्धन मुख्य थे। इनका मूल पुरुष हरिभट पटवर्धन उत्तम वैदिक ब्राह्मण था और वह इचलकरंजी वाले घोरपड़े के यहाँ उपाध्याय के पद पर नियत था। वह सन् १७१६ में बालाजी विश्वनाथ पेशवा के आश्रय में आकर पूना में रहा। भटजी के सात लड़के थे, जिनमें से तीन तो अलग हो गये, चौथा लड़का गोविन्द हरि बाजीराव पेशवा के शासन-काल में कदम की पायगा का फड़नवीस बना और नाना साहब पेशवा के समय में फड़नवीसों का सरदार बन

गया । इसका उदाहरण देखकर इसका छोटा भाई रामचन्द्र राव भी सैनिक नौकरी में घुसा। सन् १७३६में सिंधिया और पोर्तुगीज़ों में जो लड़ाई हुई उसमें रामचन्द्रराव ने बहुत कीर्ति प्राप्त की । सन् १७४७ में जब दमाजी गायकवाड़ ताराबाई का पक्ष लेकर पेशवा के विरुद्ध खड़ा हुआ तब उसके विरुद्ध जो सेना भेजी गई थी उसमें गोविन्दराव हरि और उसके पुत्र गोपालराव ने बड़ी भारी वीरता प्रदर्शित की और दमाजी गायकवाड़ को क़ैदकर पूना लाये । तब से पेशवा के सहायकों में पटवर्धन सरदार प्रसिद्ध हुए । इसके बाद जितनी बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हुई उनमें पटवर्धन घराने का कोई न कोई पुरुष उपस्थित ही रहा । सन् १७६० में गोपालराव ने दौलताबाद का क़िला निज़ाम से लड़कर ले लिया । बड़े माधवराव पेशवा के समय (१७६४) में गोविन्दहरि, परशुराम रामचन्द्र और नीलकंठ त्र्यंबक इन तीनों को चौबीस लाख का सरंजाम और आठ हज़ार सवारों की सरदारी दी गई । पटवर्धन को जो जागीर दी गई थी वह प्रायः कोल्हापुर की सीमा पर थी; अतः पेशवा कोल्हापुर दरबार का बन्दोबस्त अच्छी तरह कर सके । जागीर का मुख्य स्थान मिरज बनाया गया । निज़ाम, हैदर, टीपू, नागपुर के भोंसले और अङ्गरेज़ों से पेशवा के जो युद्ध हुए उनमें पटवर्धन सरदारों ने बहुत पराक्रम दिखलाया और कीर्ति प्राप्त की । पटवर्धन-घराने में गोपालराव, रामचन्द्रराव, परशुरामभाऊ, कोन्हेरराव, चिंतामणिराव आदि सरदार विशेष प्रसिद्ध थे ।

जनरल गोडर्ड से जो युद्ध हुआ उसमें अङ्गरेज़ों और पटवर्धन सरदार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हुआ । फिर टीपू पर

की गई चढ़ाई में जनरल वेलस्ली और परशुराम भाऊ का अत्यन्त निकट सम्बन्ध हुआ जिसके कारण अङ्गरेज़ों के मन में परशुराम के प्रति अत्यन्त आदर बुद्धि उत्पन्न हुई। दूसरे बाजीराव ने पटवर्धनों को नाना फड़नवीस के मित्र और रघुनाथराव के शत्रु रहने के कारण उन सबपर हथियार उठाये और उनकी जागीर जप्त करने का षड़यंत्र रचा; परन्तु पटवर्धनों के प्रति अङ्गरेज़ों के मन में जो आदर बुद्धि थी उसके कारण एलफिंस्टन साहब ने बीच में पड़कर पटवर्धनों की जागीर बचाई। पटवर्धन सरदार और बाजीराव (दूसरे) पेशवा की अनबन आजन्म रही। सन् १८१७ में जब बाजीराव ने अङ्गरेज़ों से युद्ध छेड़ा तब पटवर्धन सरदार नाममात्र को बाजीराव की ओर थे; परन्तु जब बाजीराव भाग गया तब अङ्गरेज़ों के स्वयं पेशवा-पद धारण कर मराठी राज्य चलाने का बहाना करने के कारण तथा एलफिन्स्टन साहब ने जो जागीर बचाई थी उस कृतज्ञता के कारण पटवर्धन सरदार अपनी सेना लेकर तुरन्त लौट गये। बाजीरावशाही के अन्त में केवल सांगलीकर चिन्तामणिराव अप्पासाहब पटवर्धन ही बाजीराव के साथ उत्तर भारत तक गया था; परन्तु वह भी बाजीराव के अधीन होने के पहले ही लौट आया। चिन्तामणिराव का प्रभाव अङ्गरेजों पर बहुत था, इसलिए वह अपने जीवन-पर्यन्त स्वाभिमानपूर्ण सरदारी चला सका। बाजीराव के समय में पटवर्धनों की जागीर जब्त होते होते तो बच गई; परन्तु फिर पटवर्धन घराने के सब लोगों ने उसे आपस में बाँटकर बाजीराव और अङ्गरेज़ों से मंज़ूरी भी लेली। इस कारण से जागीर के टुकड़े टुकड़े हो गये और सब सरदार भी शक्ति-हीन हो गये। फिर पेशवाई नष्ट होने

पर अङ्गरेज़ों ने प्रत्येक पटवर्धन घराने से भिन्न भिन्न सन्धियाँ कीं और सरंजामी सेना रखकर प्रत्यक्ष नौकरी करने की माफ़ी दी। साथ ही बहुतसा प्रदेश भी इनसे ले लिया। पटवर्धनों का उत्कर्ष-काल साठ वर्षों के लगभग रहा। इनकी ओर से मराठाशाही नष्ट होने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली गई; क्योंकि एक तो बाजीराव से इनका बैर था, दूसरे अङ्गरेज़ों में और इनमें मैत्री थी।

पेशवाई नष्ट होने के साथ ही पटवर्धनों का तेज भी नष्ट हो गया। तो भी इस घराने के सांगली के बड़े अप्पा साहब, मिरज के बड़े बाला साहब और तात्या साहब तथा मड़े-वाले अप्पा साहब आदि संस्थानिक पुरुषों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। पटवर्धनों में जब तक सरंजामी जागीरों का बँटवारा नहीं हुआ था तब तक उनकी जागीरों के दीवानी और फ़ौज-दारी अधिकार उन्हें प्राप्त थे; परन्तु बटवारा हो जाने के बाद बड़े घरानेवाले को ही ये अधिकार प्राप्त रहे। सरंजामी प्रान्त अङ्गरेज़ों को दे देने और नौकरी की माफ़ी हो जानेसे जिन पटवर्धन सरदारों के आश्रय में पहले हज़ारों सैनिक थे वहाँ अब उनकी पायगाएं प्रायः खाली हो गईं। जिस व्यवहार से उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की थी उसीके चले जाने से और इसी कारण वैभव के नष्ट हो जाने से पटवर्धन सरदारों को अपने समय का उपयोग करना कठिन हो गया; अतः वे अभिमानी और विलास-प्रिय बन गये। सन् १८५७ के विद्रोह में सम्मिलित होने के संदेह पर जमखंडी के अप्पा साहब को कुछ दिन प्रतिबन्ध में रहना पड़ा था और मिरज के बड़ेवाले साहब पर भी अङ्गरेज़ों की कुछ कड़ी नज़र हुई थी। पटवर्धन सरदारों के बहुत से वर्ष ऐसी उलझन में व्यतीत हुए कि

थे न तो पेशवाई ही लौटा सके और न अङ्गरेजों की नौकरी ही खुले दिल से कर सके।

पूर्वार्ध समाप्त।



मराठे और अङ्गरेज़।

उत्तरार्ध

प्रकरण पहला।

मराठे और अङ्गरेज़ों का समकालीन-उत्कर्षापकर्ष।

मराठे और अङ्गरेज़ों का पारस्परिक सम्बन्ध जितने समय तक रहा उसके निम्नलिखित चार विभाग किये जा सकते हैं:—

(१) १६४८ से १७६१ तक। इस काल में अङ्गरेज़ों और मराठों का निकट सम्बन्ध हुआ और अङ्गरेज़ मराठों के साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करते रहे तथा उनसे स्नेह रखने की भी इच्छा अङ्गरेज़ों ने की।

(२) १७६१ से १७८६ तक। इस समय में अङ्गरेज़ भारत के दूसरे प्रान्तों में अच्छी तरह बस गये थे और उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास पड़ने लगा था; अतः परीक्षा करने के लिए उन्होंने मराठों से छेड़-छाड़ की; परन्तु वे सफल न हो सके।

(३) १७८६ से १८०० तक। इस समय में मराठे और अङ्गरेज़ एक दूसरे को समान बली समझते थे और समानता का ही व्यवहार करते थे।

(४) १८०० से १८१८ तक। इस काल में मराठों की शक्ति कम हो गई और अङ्गरेज़ों का बल बढ़ गया। अन्त में मराठों का पराभव होकर अङ्गरेज़ों का अधिकार सब मराठों पर प्रस्थापित हो गया।

पहली कालावधि में अङ्गरेज़ों ने अपने व्यापारी पेशे को अच्छी तरह निवाहा। उस समय वे छत्रपति महाराज और उनके पेशवा के पास वकील भेजते, नज़राना देते, व्यापारी सुभीते माँगते और उन्हें प्राप्त करते, जगात माफ़ करवाते, रंग-विरंगा अथवा उपयोगी माल बेंचकर ग्राहक बढ़ाते और यह कहा करते थे कि हमें निर्विघ्न रीति से व्यापार करने की इजाज़त मिलनी चाहिए, हमें किसी के टंटे-बखेड़े और राज्य आदि से सरोकार नहीं है। सन् १७७० ई० के लगभग उनके अधिकार में बंगाल का बहुत सा भाग आ गया था और वे दिल्ली के बादशाह के दीवान बन गये थे। दक्षिण की ओर फ्रेंचों का पराभव हो जाने के कारण उनका राज्य भी नष्ट हो गया था और निज़ाम से अङ्गरेज़ों ने पहले ही मैत्री कर ली थी; अतः दक्षिण में ले देकर एक हैदरअली और दूसरे मराठे ही अङ्गरेज़ों के शत्रु के रूप में बचे थे। इनमें से हैदर के विरुद्ध अङ्गरेज़ कभी कुछ नहीं कर सके और बहुत दिनों तक मराठों का भी कुछ न बिगाड़ सके। पर रघुनाथराव की कलह के कारण अनुमान से भी शीघ्र अङ्गरेज़ों का हाथ मराठाशाही में घुसा। जब अङ्गरेज़ों ने साष्टी ले ली तब पेशवा उसे एकदम न लौटा सके। यह देखकर और रघुनाथराव का पक्ष लेकर अङ्गरेज़ों ने मराठों से लड़ाई छेड़ दी; परन्तु उसमें वे सफल न हो सके और बड़गाँव में उनका पराभव हुआ। तब अङ्गरेज़ों ने सन्धि

को जिसमें रघुनाथराव को मराठों के सुपुर्द करना स्वीकार कर उन्होंने मानो यह स्वीकार किया कि अभी हमारा पक्ष कमज़ोर है। सन् १७८६ से १८०२ ई० तक मराठों और अङ्गरेज़ों दोनों की चढ़ती कमान थी। उस समय दोनों समान बली थे; अतः दोनों में सहकारिता होना संभव था। इस समय दोनों ने मिलकर दोनों की बराबरी रखनेवाले टीपू पर चढ़ाई की और उसका पराभव किया। सवाई माधवराव के समय में मराठों के उत्कर्ष-मन्दिर पर मानो कलश ही चढ़ गया था। उन्होंने दक्षिण में निज़ाम का पराभव पूरी तरह से कर दिया था। निज़ाम यद्यपि अङ्गरेज़ों का मित्र था; पर पेशवा के भय के कारण वे उसका पक्ष लेकर उसकी सहायता न कर सके। टीपू का राज्य नष्ट हो जाने के कारण अङ्गरेज़ों को तुंगभद्रा नदी से लेकर नीचे के समस्त दक्षिण प्रदेश में निःकंटक राज्य करने का अवसर मिल गया। उत्तर भारत में मराठों और अङ्गरेज़ों के अधिकार में बराबर बराबर प्रदेश था। नर्मदा से यमुना नदी का प्रान्त सिंधिया ने अधिकृत कर रखा था और यमुना से ऊपर के प्रान्त पर अङ्गरेज़ों का अधिकार था। झगड़े का कारण केवल एक दिल्ली ही रह गई थी। दिल्ली की सत्ता सिंधिया के हाथों में थी और उसकी संपत्ति अङ्गरेज़ों के अधिकार में थी, अर्थात् बादशाही राज्य की वसूली अङ्गरेज़ ही करते थे। सारांश यह कि नाना फड़नवीस और महादजी सिंधिया के समय के पच्चीस वर्ष के समय में अङ्गरेज़ और मराठे तुल्य बली होने के कारण ऊपर से तो प्रगट करनेवाले मित्र, परंतु भीतर ही भीतर एक दूसरे का नाश करने की इच्छा रखनेवाले शत्रु थे। राजनीतिज्ञ नाना और

तलवार-बहादुर महादजी सिंधिया की मृत्यु हो जाने से मराठों का पलड़ा हलका हो गया, क्योंकि बाजीराव तो शक्ति-हीन और मूर्ख होने के साथ ही साथ अङ्गरेज़ों के उपकार-भार से दबा हुआ था।

अङ्गरेज़ों के शक्तिशाली प्रतिस्पर्द्धी केवल सिंधिया और होलकर ही थे, परन्तु इन दोनों के बीच झगड़ा उपस्थित हुआ और उनका शौर्य अन्तःकलहाग्नि में दग्ध होगया। इस कारण १८०३--१८०४ के भीतर इन दोनों से अलग अलग लड़कर अङ्गरेज़ों ने उनका पराभव किया। उन लोगों ने अङ्गरेज़ों को भारतवर्ष की छाती पर चढ़कर और ताल ठोक कर यह सिंहनाद करने का अवसर दिया कि इस पृथ्वीतल पर कोई वीर अब नहीं रहा।

अङ्गरेज़ों और मराठों का उत्कर्ष बहुत समय तक भारतवर्ष में बराबर एकसा अलग अलग भागों में होता गया; परन्तु जिस समय में मराठों की सत्ता बनी और फिर बिगड़ी उस समय में अङ्गरेज़ों की सत्ता एकसी बढ़ती गई। उनकी सत्ता का उत्कर्ष शनैः शनैः बढ़ता ही गया और वह कभी पीछे नहीं हटा। अङ्गरेज़ों ने कई चढ़ाइयों में हार खाई। पहले मराठा-युद्ध में जैसी उनकी हार हुई वैसी पीछे कई बार पीछे भी हुई; पर तिस पर भी अङ्गरेज़ों की सत्ता तथा ऐश्वर्य की उन्नति ही होती गई। मराठों और अङ्गरेज़ों की सत्ता के अस्तोदय की तुलना ध्यान में लाने के लिए सन् १६०० से सन् १८१८ तक की जंत्री लेकर कुछ पर्यालोचना करनी होगी। जो बात केवल तारीख़ से ध्यान में नहीं आती वह मराठे और अङ्गरेज़--ऐसी अन्यान्य-सापेक्ष भाषा में बोलने

जिस समय हिन्दुस्तान को सम्पत्ति के विषय में इँगलैंड में आश्चर्य-पूर्ण चर्चा हो रही थी और व्यापार करने के लिए कम्पनी बनाकर निकलने का विचार अङ्गरेज़ कर रहे थे उस समय यहाँ भारतवर्ष में मुग़ल बादशाहों का अधिकार दक्खिन को छोड़ और सब देश पर जमा हुआ था। दक्खिन में भी यद्यपि मुग़लों की अमलदारी नहीं थी, तो भी दूसरे मुसलमानों की अवश्य थी। तालीकोट की लड़ाई से हिन्दूपति-साम्राज्य नामशेष रह गया था और अहमदनगर की निज़ामशाही, बीजापुर की आदिलशाही, गोलकुंडे की कुतुबशाही—ये तीन बहमनी राज्य से निकले हुए मुसलमानी राज्य स्थिर रहे और उन्होंने समग्र महाराष्ट्र पर आक्रमण किया और मुग़ल-सत्ता का प्रसार रोका इस समय मराठों की स्थिति विचित्र थी। उन्होंने इन तीनों मुसलमानी दरबारों में सरदारी और मनसबदारी और उसके साथ साथ उनकी परतंत्रता स्वीकार करली थी। इतना ही नहीं मराठी घरानों में वैर-भाव उत्पन्न होकर मुसलमान बादशाहों की दृष्टि मराठों की अंतःकलह पर अधिक थी और इस कलह को बनाये रखने का प्रयत्न वे खूब करते थे। जिस वर्ष लंदन नगर में ईस्ट इंडिया कम्पनी नाम की एक व्यापारी अङ्गरेज़ी कम्पनी की स्थापना हुई थी उसके एक मास पूर्व मालोजी के पुत्र शाहजी भोंसले का विवाह लखूजीराव की कन्या जीजी बाई के साथ हुआ था। इस समय शाहजी की अवस्था केवल ५ वर्ष की थी। १६१२ में जब अङ्गरेज़ों ने अपना व्यापार सूरत में स्थापित किया तब शाहजी १७ वर्ष का था। शिवाजी के जन्म के पहले अङ्गरेज़ों ने जहाँगीर और शाहजहाँ से अनुमति ले बंगाल

में व्यापार की वखार स्थापित करना आरम्भ किया था। जब उन्होंने मछलीपट्टन में वखार बनाकर मद्रास प्रान्त में अपना पैर रक्खा था तब शिवाजी ४ वर्ष का था और जब वह १२ वर्ष का हुआ तब अङ्गरेज़ों ने फोर्टसेंट जार्ज नामक क़िला बनवाने का प्रबन्ध किया था (१६३८)। शिवाजी ने महाराष्ट्र के प्रमुख क़िले हस्तगत करके अफजलख़ाँ का वध किया और बीजापुर की ओर से कल्याण से लेकर गोवा तक और भीमा से वारण नदी तक का देश अधिकार में कर लिया था। इसी समय अङ्गरेज़ों को बम्बई द्वीप मिला और बम्बई प्रान्त की कोकणपट्टी में उनका प्रवेश हुआ था। डच लोग हतप्राय हो चुके थे, केवल पोर्तगीज़ लोग शक्तिशाली थे। शाहजी का तो देहान्त हो चुका था और शिवाजी बीजापुर से स्वतंत्र हो बैठा था। उसी वर्ष अङ्गरेज़ों की शिवाजी के साथ पहली सैनिक भेंट हुई और शिवाजी ने अङ्गरेज़ों का प्रतिशत १ आना कर बन्दर-किनारे के ज़क़ात से छोड़ दिया था। शिवाजी के राज्यारोहण के समय अंगरेज़ों का प्रभाव बम्बई प्रान्त में साधारण ही था; परन्तु बंगाल और मद्रास में उनकी प्रगति हो रही थी। राज्यारोहण के दूसरे वर्ष अङ्गरेज़ों ने चन्द्रनगर में व्यापार आरंभ किया। उनका और फ़रासीसियों का युद्धप्रसंग अभी नहीं हुआ था, होनेवाला था।

शिवाजी की मृत्यु के ५ वर्ष बाद (१६८५) बम्बई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई और उधर बंगाल में भी अगले वर्ष उन्होंने कलकत्ते में अपनी जड़ जमाई। दक्खिन में जब औरंगज़ेब मराठों से लड़ रहे थे तब अङ्गरेज़ धीरे धीरे अपना व्यापार बढ़ाते जाते थे और जिस वर्ष

(१६९८) ज़ुल्फिकारखाँ ने जिंजी का क़िला हस्तगत करके राजाराम महाराज और उनके साथ सारी मराठाशाही प्राण संकट में पड़ गई थी। उस वर्ष अङ्गरेज़ों ने फोर्ट विलियम नामक क़िला बनाया था। सन् १६८७ में अंगरेज़ों ने औरंगज़ेब से युद्ध करने के योग्य मनोबल सम्पादित नहीं किया था। वे इस युद्ध में मुकाबिला नहीं कर सकते थे और इस बिना विचार किये हुए काम के कारण अंगरेज़ों को मालूम हो गया कि हम कैसे संकट में पड़ गये हैं; परन्तु दक्खिन में इसी अवसर पर संभाजी ने औरंगज़ेब से विरोध करके अंगरेज़ों को बड़ी सहायता पहुँचाई; क्योंकि अंगरेज़ों की अपेक्षा संभाजी का नाश करना अधिक आवश्यक दीख पड़ा और १६८९ ईस्वी में संभाजी को पकड़कर उसका वध किया। इसपर भी उसके दक्खिन में युद्ध बन्द नहीं हुआ। अंगरेज़ों का मुख्य बन्दर किनारे पर था। औरङ्गज़ेब की सारी दृष्टि समुद्री किनारे के प्रदेश की ओर रहने के कारण अंगरेज़ सहसा उसके सपाटे में आने से नहीं छीपते थे। इसके सिवा उसने देखा होगा कि अंगरेज़ तो निर्बल हैं, उनके लेने में देर नहीं; इसलिए मराठों की ख़बर पहले लेनी चाहिए। अस्तु। संभाजी के वध के दूसरे वर्ष (१६९०) से अंगरेज़ों की व्यापार-नीति नष्ट होकर उसके बदले में इस देश से लगान के रूप में रुपया पैदा करने की नीति स्थिर हुई। इसी समय उन्होंने विलायत में एक सेना प्रस्तुत करने की व्यवस्था की और इस देश के रजवाड़ों से आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने की इजाज़त ले रक्खी। राजाराम महाराज की मृत्यु के दो ही वर्ष बाद इस देश के अंगरेज़ों की अनेक छोटी छोटी

कम्पनियाँ जो व्यापार कर रही थीं टूट गईं और उन सब के बदले में एक बड़ी कम्पनी जो ईस्ट इंडिया कम्पनी कहलाई सुसंगठित हुई अर्थात् कम्पनी के व्यापार और शक्ति के एकीकरण से उसमें वृद्धि हुई। सन् १७०७ ईस्वी में औरंगज़ेब की मृत्यु से आगे के काल में मराठों की सत्ता बढ़ने लगी। दूसरे ही वर्ष (१७०८) शाहू का राज्याभिषेक हुआ और आगे १० वर्षों के भीतर बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली से चौथ और सरदेशमुखी की सनदें प्राप्त कर बादशाही राज्य में मरहठों का हाथ पहलेपहल सरकाया। इसी समय (१७१०) में अंगरेज़ों ने भी दिल्ली के बादशाह से बंगाल प्रान्त के ३६ नगर और व्यापार पर लगने वाली ज़क़ात माफ़ करा ली। इस प्रकार एक तरफ़ मराठे और दूसरी तरफ़ अंगरेज़ों का प्रभाव दिल्ली-दरबार में शुरू हुआ। सन् १८०३ में जब अंगरेज़ों ने सिंधिया के हाथ से दिल्ली नगर अपने अधिकार में लिया तब तक वह जारी रहा। बाजीराव प्रथम ने १७३६ में देहली पर चढ़ाई करके निज़ाम का पराभव किया और उससे दिल्लीश्वर की तरफ से मालवे की सनद प्राप्त की। चिमाजी अप्पा ने १७३८ में बसई लेकर अंगरेज़ों के प्रतिस्पर्द्धी पोर्तुगीज़ लोगों का पराभव किया। सन् १७३६ में नाना साहब पेशवा ने मालवा की सनद प्राप्त कर ली। सदाशिव भाऊ ने कर्नाटक पर चढ़ाई की और सावनूर के नव्वाब की तरफ़ से २५ लाख मूल्य का प्रदेश मिलाया। इस अवधि में अंगरेज़ों और फ़रासीसियों के बीच युद्ध छिड़ा ही था और जिस वर्ष रघुनाथराव ने उत्तर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की उसी वर्ष फ़रासीसियों का पराभव और अंगरेज़ों की विजय हुई। रघुनाथराव

पेशवे और क्लाइव साहब अपने पराक्रम-अनुक्रम से दक्खिन और उत्तर में समकालीन हुए। सन् १७५७ ई० में इधर दक्खिन में मराठों ने श्रीरंगपट्टन को घेर लिया और ३२ लाख की खंडनी वसूल की, उधर बंगाल में लार्ड क्लाइव ने प्लासी की लड़ाई जीतकर उस प्रान्त में अंगरेज़ी राज्य की जड़ जमाई। सन् १७५८ में जिस वर्ष अटकेवर पर झंडा लगा उस वर्ष फ़रासीसी उत्तर सरकार का प्रान्त खो बैठे और अंगरेज़ों की जीत हुई। सन् १७६० ई० में उद्गीर की लड़ाई में निज़ाम का पराभव करके मराठों ने ६० लाख का मूल्य का प्रदेश हस्तगत किया, उसी वर्ष अंगरेज़ों ने समूचे बंगाल को अपना प्रान्त बना डाला। इस तरह कई वर्षों तक मराठों और अंगरेज़ों का यश बराबर बढ़ता गया। सन् १७६१ ई० में पानीपत की लड़ाई में मराठों का पराभव हुआ और इसी वर्ष इधर मद्रास की तरफ़ फ़रासीसी सरदार लाली का पराभव कर अंगरेज़ों ने पांडुचेरी नगर पर अधिकार जमा लिया।

फिर कुछ काल तक अंगरेज़ों और पेशवों के यश की जोड़ी बराबर चलती गई। सन् १७६३ ईस्वी में मराठों ने राक्षसभुवन की लड़ाई जीतकर निज़ाम को नीचा किया। इधर अंगरेज़ों ने फ़रासीसियों का पूर्ण पतन किया। सन् १७६४ ई० में माधवराव पेशवा ने हैदरअली को हराया, उधर बंगाल में क्लाइव ने बक्सर की लड़ाई में विजय पाई। सन् १७६५ के लगभग पेशवा ने उत्तरीय भारत पर चढ़ाई करके १८ लाख की खंडनी ली और उधर क्लाइव साहब ने दिल्ली के बादशाह से बंगाल प्रान्त की दीवानी और उत्तर सरकार प्रान्त की सनद प्राप्त कर ली। सन् १७७१ ई० में मराठों ने

बादशाह शाहआलम को गद्दी पर बैठाकर दिल्ली में अपना पूरा अधिकार जमा लिया। एक दृष्टि से तो इस तुलना में सन् १७७३ बड़े महत्त्व का ठहरता है; क्योंकि इसी वर्ष नारायणराव का वध हुआ और मराठों के राज्य में फूट का बीज बोया गया। उसी वर्ष विलायत में पार्लिमेंट ने 'रेग्यूलेशन एक्ट' पास करके सारे हिन्दुस्थान में अलग अलग विभागों में बंटी हुई सत्ता एक ही गवर्नर जनरल के हाथ में दे दी। बस, इसी समय से मराठों की कमज़ोरी और अङ्गरेज़ों की विशेष उन्नति का सूत्रपात होने लगा तथा मराठों के कारभार में अङ्गरेज़ लोग हस्तक्षेप करने लगे। दो ही वर्षों के पश्चात् इन दोनों के बीच यह अन्तर स्पष्ट दीखने लगा; क्योंकि पुरन्दर की सधि में यह ठहरने पर भी कि अङ्गरेज़ राघोबा का पक्ष छोड़ देंगे उन्हें साष्टी और बसई स्थान मिल ही गये। अङ्गरेज़ों ने साष्टी तो पहले से ही ले ली थी, अब बसई भी ले ली। सन् १७७६ में मराठों ने बड़गाँव में अङ्गरेज़ों का पराभव किया और इन्होंने संधि में साष्टी लौटा देने का वचन दिया। अङ्गरेज़ों का पूर्ण अधःपतन करने की आवश्यकता देख मराठे, निज़ाम और मैसूर वाले —इन तीनों ने मिलकर यह काम करना आवश्यक समझा; पर १७८१ ई० में अङ्गरेज़ों ने उधर हैदर का पराभव और इधर मराठों से संधि करके अपना काम सम्हाल लिया। सन् १७८२ ई० में हैदरअली की मृत्यु के कारण अङ्गरेज़ स्वतंत्र हुए। इस कारण सालबाई की सन्धि होने पर मराठों को साष्टी और बसई अङ्गरेज़ों को सदा के लिए देनी पड़ी, और उन्होंने अङ्गरेज़ों से क्या पाया? मराठों के शत्रुओं को

सहायता न देने का अभिवचन। अङ्गरेज़ इतने शक्तिशाली हो बैठे थे! सन् १७८४ से १७९९ तक टीपू के दोनों का समान शत्रु होने के कारण मराठों और अङ्गरेज़ों में सहकारिता रही। बीच में महादजी सिंधिया ने सन् १७८६ में दिल्ली लेकर वहाँ के सब सूत्र अपने हाथ में ले लिये और १७९१ ई० में अङ्गरेज़ों ने इधर मराठों के साथ टीपू का आधा राज्य छीन लिया। उसी वर्ष महादजी सिंधिया ने पेशवा को वकील मुतलकी के वस्त्र अर्पण करके दिल्ली में प्रस्थापित किये हुए वर्चस्व का अनुभव पूना में फड़नवीस को बतलाया। आगे ४ वर्षों में खर्डा की लड़ाई होकर पेशवा का यश अपने कलश तक पहुँचा; पर दूसरे ही वर्ष सवाई माधवराव की मृत्यु हो जाने के कारण मराठों के यश का अधःपतन प्रारम्भ हुआ। उधर लार्ड कार्नवालिस सदृश गवर्नर जनरल ने आकर अङ्गरेज़ी राज्य का प्रबन्ध उत्तम रीति से चलाना आरम्भ कर दिया; पर सिंधिया और सवाई माधवराव की मृत्यु के कारण यहाँ नाना फड़नवीस निर्बल पड़ गये। बाजीराव को गद्दी पर बैठाने के सम्बन्ध में जो झगड़े शुरू हुए उनके कारण सिंधिया और होल्कर से भयभीत होकर बाजीराव तथा फड़नवीस दोनों को पारी पारी से अङ्गरेज़ों की सहायता लेनी पड़ी और सन् १८०२ में जो बसई की सन्धि हुई उसकी शर्तों के कारण बाजीराव अङ्गरेज़ों के हाथ की कठपुतली से बन गये। इसके बाद अङ्गरेज़ों को मराठों के सिवा किसी से लड़ने का कारण नहीं था और उन्होंने १८०२-०३ में सिंधिया का, सन् १८०४ में होल्कर का और सन् १८१७-१८ में पेशवा का पराभव किया और पेशवाई खालसा कर ली गई।

प्रकरण दूसरा।

मराठाशाही का अन्त कैसे हुआ?

ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व।

मराठाशाही डुबाने का दोष सहज में दूसरे बाजीराव के मत्थे मढ़ा जा सकता है और इसमें सन्देह नहीं कि वे इस दोष के भागी पूर्ण रूप से थे; पर बाजीराव को छोड़ जिसे सामान्यतः नादान कह सकते हैं ऐसा कोई पुरुष अन्य हुआ है नहीं—यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। सवाई माधवराव छोटी ही अवस्था में परलोकवासी हुए और यद्यपि राज्य का कारभार उनके नाम से चलता था; पर चलाते थे उसे नानाफड़नवीस ही, अर्थात् राज्य रक्षा की दृष्टि से सवाई माधवराव के प्रबन्ध में दोष दिखाने के लिए कोई अवकाश नहीं दीखता। रघुनाथराव था तो स्त्रैण; पर तलवार-बहादुर भी था और इस दृष्टि से राज्य-रक्षण के कार्य्य में वह उपयोगी ही ठहरता है। इसपर से इतना तो कह सकते हैं कि सन् १७१५ से सन् १७६६ तक मराठी राज्य उन्नति पर था और खर्डा की लड़ाई तक मराठी राज्यश्री की जोस्थिति थी वह यदि वैसी ही बनी रहती तो मराठी राज्य के डूबने का कोई कारण नहीं था। मराठों के राज्य में ब्राह्मण पेशवे जैसे नामाङ्कित हुए और मराठे जैसे उन्हें आगे लाये वैसे ही,

ब्राह्मण पेशवों के शासन-काल में उन ब्राह्मण पेशवों ने सिंधिया होलकर, गायकवाड़ सदृश मराठे सरदारों को प्रभावशाली बना दिया। अब ऐसा नहीं कह सकते कि मराठी राज्य के स्थिर रखने का उत्तरदायित्व केवल ब्राह्मण पेशवों पर ही था। वह जितना पेशवे, रास्ते, पटवर्धन ब्राह्मण सरदारों पर था उतना ही सतारे के महाराज, सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ आदि मराठे सरदारों पर भी था। सतारे के दरबार में पेशवों का जो बड़ा मान था सो माधवराव पेशवा के समय तक उनके कार्य-कौशल के कारण उचित ही था। शाहू महाराज पेशवों की क़ैद में कभी नहीं रहे और यदि उनके उत्तराधिकारी किसी सतारा-नरेश को कारावास दंड हुआ तो उनकी नादानी के कारण वैसा होना से उचित ही था। अब इस बात का निश्चय कर लेना है कि सतारे की गद्दी का अभिमान सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ आदि ब्राह्मण सरदारों को था या नहीं। इन दो बातों में से किसी एक के विषय में निश्चय हो जाना चाहिए। यदि कहा जाय कि नहीं था तो पेशवों पर दोषारोपण नहीं हो सकता, और यदि था तो किसने कहा था कि वे पेशवों को एक तरफ़ हटा कर सतारे के महाराज का नाम आगे न करें ?

मराठों का उत्तरदायित्व ।

परन्तु सिंधिया, होलकर और गायकवाड़ के मन में सतारे की गादी का विशेष अभिमान था इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। सिंधिया और होलकर ने जो देश अधिकृत किया वह उत्तर भारत में किया। वे स्वतन्त्र रहकर राज्य-

स्थापना के प्रयत्न में रहे। सिंधिया ने तो सालबाई की संधि के समय अपने को स्वतन्त्र संस्थानिक प्रगट कर पेशवा या सतारा के महाराज का भी मुलाहिजा नहीं रखा। इसपर कोई यह कह सकता है कि सिंधिया, होलकर और गायकवाड़ के घराने के मूल-पुरुष पेशवा के ही आश्रय से उदय को प्राप्त हुए; अतः वे पेशवा को ही अपना स्वामी समझते थे। और एक दृष्टि से यह कहना ठीक भी है, क्योंकि सिंधिया घराने के मूल पुरुष राणोजी सिंधिया ने पहले बाजीराव के जूते हृदय पर रखकर अपने विश्वास की परीक्षा दी और सरदारी प्राप्त की। इसी तरह इनके पुत्र महादजी ने यद्यपि उत्तर भारत में देश-विजय कर कीर्ति प्राप्त की थी, तो भी वह पेशवा की चरण-पादुकाओं को नहीं भूला और जिन हाथों से सवाई माधवराव के समय में दिल्ली के बादशाह से वकील मुतलक की पदवी और वस्त्र लाकर पेशवा को अर्पण किये और पेशवा के ऐश्वर्य में वृद्धि की उन्हीं हाथों से उन्होंने सवाई माधवराव के उपानह उठाये। ग्रन्ट डफ कहते हैं कि सिंधिया-राज्य के भूषणों में पेशवा के उपानह रखे गये थे; परन्तु जिस ईमानदारी से महादजी सिंधिया ने व्यवहार किया उतनी ईमानदारी से दौलतराव सिंधिया ने कितने दिन व्यवहार किया? यदि सिंधिया और होलकर को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपने स्वामी दूसरे बाजीराव पेशवा को केवल नादान होने के कारण प्रतिबन्ध में रखें, तो फिर इसी कारण से पेशवा अपने स्वामी को क्यों नहीं प्रतिबन्ध में रख सकते थे? सतारा महाराज छत्रपति शिवाजी के वंशज थे। इस कारण द्री से विचार किया जाय तो सिंधिया ने कोल्हापुर के

विरुद्ध लड़ाई क्यों की ? वे भी तो शिवाजी के ही वंशज थे। सारांश यह कि किसी भी दृष्टि से देखा जाय मराठे और पेशवा दोनों ही समान ही दोषी या निर्दोषी दिखलाई पड़ते हैं। अन्त में सिंधिया और होलकर ने जो सन्धि अङ्गरेज़ों से की थी उसमें भी तो यह कहीं नहीं दिखलाई पड़ता कि इन्होंने सतारा की गादी को अथवा शिवाजी के वंश ही को याद रक्खा हो। अधिक क्या, 'पेशवाई' नष्ट होने पर अङ्गरेज़ों ने छोटा ही क्यों न हो, पर जो स्वतन्त्र राज्य दिया था वह भी तो वे न टिका सके ? पेशवाई नष्ट होने के केवल ३० ही वर्ष बाद यह राज्य नष्ट हुआ या नहीं ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अङ्गरेज़ तो सभी कुछ डुबाना चाहते थे, तो फिर यह पूछा जा सकता है कि कोल्हापुर, ग्वालियर और होलकर के राज्य क्यों रह गये ? इसलिए इन सब बातों पर विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि मराठाशाही डूबने में एक अमुक व्यक्ति ही कारणीभूत था अथवा अमुक एक पुरुष या एक जाति कारणीभूत थी यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए यही कहा जा सकता है कि उस समय अङ्गरेज़ी सत्ता का जो पूर आया था उस पूर में मराठी राज्य बह गया, और पूर में जिस तरह सब वृक्ष उखड़ कर बह नहीं जाते, कुछ बने भी रहते हैं उसी प्रकार ऊपर बतलाये अनुसार कुछ मराठी राज्य अभी तक बने रह गये हैं।

जिस तरह मराठाशाही नष्ट करने का आरोप ब्राह्मणों पर करनेवाले कुछ व्यक्ति मिलते हैं, इसी प्रकार पेशवाई के अन्त में अङ्गरेज़ों से मिलकर अपना छुटकारा करानेवाले सतारा के महाराज पर पेशवाई डुबाने का दोषारोपण करनेवाले भी कुछ व्यक्ति हैं। सतारा के महाराज

स्वामी थे और पेशवा उनका सेवक था यह जानकर सतारा-नरेश को पेशवा का क़ैद करना तो अनुचित कहा जा सकता है; परन्तु अपने नौकर के विरुद्ध और वह भी स्वतः के छुटकारे के लिए अङ्गरेज़ों से सहायता माँगने में सतारा महाराज पर बेईमानी का लांछन किस प्रकार आरोपित किया जा सकता है यह समझ में नहीं आता।

क्या व्यापारिक नीति में भूल की गई?

अङ्गरेज़ लोग यहाँ व्यापारी बनकर आये और उन्होंने धीरे धीरे यहाँ राज्य स्थापन किया। इस बात को ध्यान में रखकर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि "क्या मराठों से यह भूल नहीं हुई कि उन्होंने अङ्गरेज़ों को व्यापार करने की आज्ञा दी।" परन्तु हमारी समझ में यह प्रश्न ही उचित नहीं है। प्रायः आज के विचार को गत काल पर लगाने की भूल मनुष्य सदा करते हैं। यही बात इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी है। आज यह भले ही दिखाई दे कि यह भूल की गई; परन्तु उस समय जब कि अङ्गरेज़ पहलेपहल भारत में व्यापार करने को आये थे यह प्रतिभासित होने का कोई कारण नहीं था कि ये लोग हमारे देश में न आवें तो अच्छा हो। उस समय मराठों को यह दुःस्वप्न नहीं हुआ था कि ये लोग हमारा राज लेकर अन्त में हमारा सर्वनाश करेंगे। क्योंकि उस समय उनके पहले के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं था कि किसी ने तराज़ू हाथ में लेकर फिर तख़्त ले लिया हो। वैश्यवृत्ति और क्षात्रवृत्ति भिन्न भिन्न बातें हैं; एक वृत्ति को छोड़कर दूसरी वृत्ति ग्रहण करना वृत्ति-संकरता है और यह एक वर्णसंकरता के समान ही पाप का कारण है। चातुर्वर्ण्य पर विश्वास रखनेवाले हिन्दुओं को

उस समय यदि यह विश्वास हुआ हो कि यह पाप कोई भी, चाहे वह विदेशी ही क्यों न हो, नहीं कर सकता तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। महाराष्ट्र ही में मारवाड़ी आदि वैश्यवृत्ति के अनेक लोग देशांतर से आये थे; परंतु उनमें से किसी ने भी राज्य की आकांक्षा की हो, इसका अनुभव मराठों को नहीं था। यद्यपि मुगल प्रभृति यवन लोगों ने आकर भारत में राज्य-स्थापन किया था तथापि वे विजयी होने के नाते से आये थे, व्यापारी बनकर नहीं। इसलिए मालूम होता है कि उस समय के मराठों का यही विश्वास था कि राज करने और व्यापार करने वालों की जाति भिन्न भिन्न है और उनका परिवर्तन नहीं हो सकता। इस कारण से यह नहीं कहा जा सकता कि मराठों ने भूल की।

जब कि स्वयं अङ्गरेज़ों को ही यह नहीं मालूम हो सका कि उनके हाथ से तराजू कब और क्यों छूटा और उसका स्थान तलवार ने कब लिया और क्या सब बातें स्वप्न-साक्षात्कार के समान सोते सोते हो हो गईं तो फिर टोपी-वालों को पहलेपहल देखते ही मराठों को यह भान कैसे हो सकता था कि ये भविष्य में हमारा राज्य लेंगे, अतः इन्हें राज्य में नहीं आने देना चाहिए; प्रत्युत उस समय उनका आना लाभदायक ही प्रतीत हुआ होगा। स्वदेशी का मंत्र आपत्ति-विपत्ति के समय में ही ध्यान में आता है। अच्छी हालत में उसका स्मरण नहीं होता। जब मूर्तिमान् भूत आँखों के आगे उपस्थित होता है तभी भगवान् का नाम याद आता है। भारतवासियों को बंग-विच्छेद के समय स्वदेशी का स्मरण हुआ और अङ्गरेज़ों को वर्तमान महायुद्ध के कारण इसकी याद आई। अंगरेज़ जब भारत में आये तब

भारतवासी अच्छी दशा में थे। अतः आज की स्वदेशी की आवश्यकता उन्हें उस समय कैसे भासित हो सकती थी? मनुष्य प्राणी स्वभावतः विलासप्रिय होता है। यदि सांपत्तिक स्थिति ठीक हो तो विलास-बुद्धि आप ही आप उत्पन्न हो जाती है। इसके सिवा ऐसा कोई देश नहीं है जिसे सर्व प्रकार की कला-कुशलता और कारीगरी का ठेका परमेश्वर ने दे रखा हो। इसलिए मनुष्य अपनी विलासिता के पदार्थ जहाँ से मिलते हैं वहाँ से खरीदता है। इसके बिना विलासेच्छा पूरी नहीं होती। भारत में पहलेपहल अंगरेज़ व्यापारी ही नहीं आये थे। उनके पहले यवन, डच, पोर्तुगीज़ आदि विदेशी लोग व्यापार के लिए यहाँ आचुके थे और विदेशी वस्तुएँ ख़रीदने की परिपाटी यहाँ अच्छी तरह प्रचलित थी तथा मराठे अकेले ही उस समय सर्व-सत्ताधारी नहीं थे। उनका राज्य पहले ही से थोड़ा था। उनके अधिकार में समुद्र-किनारे की केवल एक ही पट्टी थी और उस पट्टी में अंगरेज़ों का व्यापार भी थोड़ा था। उनका व्यापार प्रायः उसी प्रदेश में बहुत था जिस में मराठों का अधिकार नहीं था और वहाँ वे इतने बलवान बन गये थे कि यदि मराठे उन्हें अपने राज्य में नहीं भी आने देते तो भी वे अपना बोरिया-बँधना बाँधकर भारत से चले नहीं जाते। सारांश यह कि उस समय अंगरेज़ों के व्यापार में रुकावट डालकर उनका अपने राज्य में प्रारंभ से ही बहिष्कार करना स्वाभाविक रीति से अशक्य था।

किंतु यही कहना उचित है कि उस समय मराठों को यही स्वाभाविक दिखा होगा कि अंगरेज़ों के व्यापार में

रुकावट डालने की अपेक्षा उन्हें उत्तेजना और सुभीते देकर राज्य में बुलाया जाय और स्वाभाविक बुद्धि का अर्थ-शास्त्र यही शिक्षा देता है कि व्यापारी को अपने आश्रय में रखा जाय और उसके लाभ से अपना लाभ उठाया जाय। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यह उदाहरण नहीं मिलता कि उसने अपने आप आये हुए व्यापारी को आश्रय न दिया हो। अपने कारीगरों को आश्रय देना और विदेशी व्यापारियों का बहिष्कार करना भिन्न भिन्न बातें हैं। किंबहुना, स्वदेशी कारीगरी की चीजों का फैलाव करने के लिए विदेशी व्यापारियों की सहायता आवश्यक हुआ करती है। अपनी कारीगरी के माल का मूल्य विदेशों से ही अधिक आ सकता है; क्योंकि उसकी अपूर्वता वहीं प्रगट होती है। उसी तरह आयात माल से जगात की आमदनी भी बहुत होती है। सुखमय अवस्था में उस आमदनी को कौन छोड़ना चाहता है? इसी नियम के अनुसार उस समय भारत में विदेशी व्यापारियों की चाह थी; क्योंकि उनके द्वारा करोड़ों रुपयों का माल विदेशों में जाता था और उसके बदले में मूल्यवान् सोना-चाँदी यहाँ आती थी। इसके सिवा विलासिता की भी अनेक वस्तुएं जो यहाँ नहीं होती थीं उनके द्वारा विदेशों से यहाँ आती थीं। इस प्रकार दुहरा लाभ होता था। भला इस लाभ को कौन छोड़ेगा? हमारे पूर्वजों को यदि कोई हस्त-रेखा के समान यह भविष्य-चित्र बतला देता कि ये व्यापारी भविष्य में अपनी स्वतन्त्रता और राज्य छीन लेंगे और स्वयं सत्ताधीश बन जायेंगे तो शायद वे ऐसा नहीं करते; परन्तु जब उन्हें यह भविष्य-चित्र नहीं दिखा तब उनपर यह दोष

रोपण भी नहीं किया जा सकता कि उन्होंने विदेशी व्यापारियों को देश में क्यों घुसने दिया। "यह विचारकर मकान न बनवाना कि उसमें आगे कभी घूस बिलकर लेगी" के समान ही यह दोषारोपण है और घूस का घर में बिल करना तो बहुत स्वाभाविक है; परन्तु अंङ्गरेज़ों के राज्य ले लेने की उस समय कल्पना होना इतनी स्वाभाविक नहीं हो सकती थी। यह तो केवल दैवगति का विचित्र परिवर्तन है; मराठों की व्यापारिक नीति की भूल नहीं।

अङ्गरेज़ों की सहायता।

जिस प्रकार कई लोगों की यह समझ है कि मराठों ने अंगरेज़ों को व्यापार करने की आज्ञा देकर बहुत बड़ी भूल की उसी प्रकार कुछ लोगों की समझ है कि मराठों ने अङ्गरेज़ों की सहायता लेकर अपने राज-कार्य में जो उन्हें हाथ डालने दिया यह उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। पहली भूल भूल नहीं थी यह हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। पर दूसरी भूल के लिए यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसे भूल समझने में सत्य का बहुत अंश है। तो भी यह एक प्रश्न ही है कि उस स्थिति में अंगरेज़ों की सहायता के बिना मराठों का काम चल सकता था या नहीं। अपने झगड़े में दूसरों को न घुसने देने की भावना स्वाभिमान-बुद्धि की है और अन्त में इससे हित ही होता है। स्वावलम्बन सदा सुख-पर्यवसायी हुआ करता है; परन्तु बदला लेने के लिए शत्रु का प्रतीकार करने की तथा स्वहितार्थ स्वार्थपूर्ण बुद्धि उत्पन्न होने पर संपन्न मनुष्य भी जो साधन हाथ में आवे उसका उपयोग करने से नहीं चूकता, तो जो मनुष्य सङ्कट

में फँसा हो और आत्म-रक्षा करना चाहता हो वह यदि उन साधनों का उपयोग करे तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? अङ्गरेज़ लोग अपने इस बाने को कि गोरे लोगों के परस्पर के युद्ध में काले लोगों की सहायता नहीं लेना, बोअर-युद्ध तक निभा सके; परन्तु यूरोप के इस महायुद्ध में प्राण-संकट उपस्थित होने पर उन्हें अपने इस बाने को खूँटी पर टाँग देना पड़ा। अब तो वे निग्रो से भी दसगुने अधिक काले को, यदि वह कन्धे पर बन्दूक रख सकता है, तो अपना सहायक बनाने को तैयार हैं। यह प्रसिद्ध है कि इस युद्ध में फ्रांस वालों ने मोरोकन लोगों को और अङ्गरेज़ों ने भारतवासियों की सहायता यूरोपियनों के विरुद्ध ली। उनका वह बाना और वर्णमद संकट के कारण नष्ट हो गया।

परन्तु, यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि मराठों ने जो अंगरेज़ों की सहायता की वह संकट के कारण नहीं; किन्तु द्वेष-बुद्धि अथवा स्वार्थ-बुद्धि के प्रशमनार्थ ली थी। अंगरेज़ों का हाथ मराठी राज्य-कार्य्य में प्रवेश करने देने का दोष प्रायः रघुनाथराव पर रक्खा जाता है, किन्तु यह भूल है। हमारी समझ से यह दोष नाना साहब पेशवा को देना उचित है। रघुनाथराव ने तो राज्य के लिये यह किया; परन्तु नाना साहब पेशवा ने तो अपने एक विरोधी सरदार का पराभव करने के लिए अंगरेज़ों की सहायता ली। नाना साहब यह अच्छी तरह जानते थे कि अंगरेज़ हमारे भावी प्रतिस्पर्धी हैं और यह भी जानते थे कि आंग्रे के पराभव से कोंकन-किनारे पर अंगरेज़ों का एक शत्रु कम हो जायगा, तो भी वे आंग्रे के पराभव करने की अपनी इच्छा को न दबा सके और उसके लिए उन्होंने अंगरेज़ों से सहायता ली। रघु-

नाथराव ने तो सन् १७७४ में सूरत की सन्धि से अङ्गरेज़ों को अपने घर में घुसने दिया; परन्तु नाना साहब पेशवा ने यही काम उसके बीस वर्ष पहले ही अर्थात् १७५५ में बंबई की सन्धि करके किया। संभव है कि सामान्य पाठकों को इस संधि का स्मरण न हो। इस संधि में यह शर्त हुई थी कि आंग्रे का पराभव करने में अंगरेज़ पेशवा को सहायता दें और इसके पुरस्कार में अंगरेज़ों को सम्पूर्ण किनारे का अधिकार, बाणकोट और हिम्मतगढ़ तथा इनके समीप के पाँच गाँव मिलें। इस संधि के अनुसार अंगरेज़ों ने विजय दुर्ग का क़िला लिया और आंग्रे का जहाज़ी बेड़ा जला दिया। इसके सिवा वे क़िले के भीतर से दूश लाख रुपयों का माल लूटकर स्वयं ही हज़म कर गये। संधि के विरुद्ध पहले-पहल उस क़िले को अङ्गरेज़ों ने अपने ही अधिकार में रखा। आंग्रे का पराभव होने के पहले अंगरेज़ों का बम्बई के दक्षिण की ओर प्रवेश नहीं था; परन्तु आंग्रे का भय नष्ट हो जाने से अंगरेज़ स्वच्छन्द होकर सञ्चार करने लगे। कहिए इसमें नाना साहब ने कौनसा स्वाभिमान और कितनी दूरदर्शिता तथा स्वावलम्बन दिखलाया? भले ही तुलाजी आंग्रे ताराबाई के पक्ष का रहा हो; परन्तु अंगरेज़ों की अपेक्षा तो वह नज़दीक का ही था। आंग्रे, शिवाजी के समय से मराठी फ़ौजी जहाज़ी बेड़े का अधिपति था और लगभग १०० वर्षों तक, आंग्रे घराने ने, मराठी फ़ौजी जहाज़ी बेड़े का नाम ऊंचा बना रखा था। ताराबाई का पक्ष ग्रहण करने के कारण, संभव है कि वह पेशवा के मन में काँटा सा चुभता रहा हो, परन्तु उसने अपने पक्ष के लिए अङ्गरेज़ों से सहायता नहीं ली, प्रत्युत वह भी

पेशवा के समान अङ्गरेज़ों से लड़ता ही रहा। इसके सिवा इस घटना के भी पहले पेशवा ने हबशियों के विरुद्ध भी अङ्गरेज़ों की सहायता माँगी थी; परन्तु उन्होंने नहीं दी। यद्यपि हबशी मराठा नहीं थे तो भी अङ्गरेज़ों की अपेक्षा वे भारतीयों के अधिक निकट सम्बन्धी थे। आज हम लोग चाहते हैं कि हमारी उक्त भावना उस समय होनी चाहिए थी; परन्तु मालूम होता है कि उस समय अपने-पराये को पहिचानने की बुद्धि आज के समान नहीं थी।

स्वकीयों के विरुद्ध अङ्गरेज़ों की सहायता लेना यदि अपराध माना जाय, तो यह अपराध करने में त्रुटि किसी ने भी नहीं की है, क्योंकि जब से यह मालूम हुआ कि अङ्ग-रेज़ सहायता देने में समर्थ हैं तब से स्वकीयों के विरुद्ध सहायता लेने की रीति का पालन प्रायः सबों ने किया है। अलीबाग़ के आंग्रे भले ही बलवान् हो गये हों, पर थे तो वे मराठा ही। फिर उनके विरुद्ध नाना साहब पेशवा ने अङ्ग-रेज़ों की सहायता क्यों ली? यदि अङ्गरेज़ों से सहायता लेने के कारण रघुनाथराव को नाम रक्खा जाय, तो फिर टीपू और सिंधिया के विरुद्ध नाना फड़नवीस ने अङ्गरेज़ों से जो सहायता ली उसके लिए नाना का नाम क्यों न रक्खा जाना चाहिए? जिस अर्थ में अङ्गरेज़ परकीय कहे जा सकते हैं उस अर्थ में टीपू भी परकीय हो सकता है; परन्तु तब वह स्वकीय नहीं था? भारतवर्ष में स्वकीयों के विरुद्ध यदि किसीने सहायता नहीं ली है तो वे केवल अङ्गरेज़ ही हैं। भारत की सब जाति के अर्थात् ब्राह्मण, मराठे, राजपूत, राजा, नवाब आदि सब लोगों ने एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने में, गृह-कलह मिटा देने में, अङ्गरेज़ों की सहायता और

मध्यस्थी के लिए याचना की; परन्तु अङ्गरेज़ों ने यह बात दिखला दी कि भारत में सब अङ्गरेज़ एक हैं; उनमें न तो पक्ष-भेद है और न हित-विरोध है। हिन्दुस्थान के तीनों खूँटों में बसनेवाले अङ्गरेज एक ही आज्ञा के बड़े पाबंद हैं। उक्त तीनों के सब प्रयत्न, एक ही व्यक्ति के विचारे हुए प्रयत्न के समान एक ही पद्धति से होते हैं। वे अपने अधिकारी की आज्ञा कभी अमान्य नहीं करते। उनमें यदि स्पर्धा भी हो, तो वह भी कम्पनी का अधिकाधिक हित जिस बात से हो उसीकी ओर दृष्टि रखकर होती है।

अंगरेज़ों की स्थिति भी उस समय इस प्रकार की थी कि यहाँ के राजा महाराज उनसे ही सहायता लें, किसी परदेशीय राजा को सहायता अपने आपसी झगड़े में न लें। अंगरेज़ों की सहायता लेने के दो कारण थे, एक तो मराठों के परस्पर के झगड़े; दूसरे अंगरेज़ों की कवायदी फ़ौज और युद्ध-सामग्री। अंगरेज़ों की ओर देखा जाय तो पहले तो उनमें परस्पर कोई झगड़े ही नहीं हुए और हुए भी हैं तो यह निर्विवाद है कि उन झगड़ों को मिटाने के लिए उन्होंने कभी भारतवासियों की सहायता नहीं ली। दिल्ली के बादशाह के सूबेदार जिस प्रकार स्वतंत्र रीति से राजा और नवाब बन गये उसी प्रकार वारन हेस्टिंग्ज़ भी बन सकता था। दिल्ली से २०० मील की दूरी के लोगों ने जब स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी तो कंपनी का मुख्य काम-काज ठहरा छः हज़ार मील की दूरी पर। भला, उसका महत्वाकांक्षी नौकर यदि चाहता तो भारत में क्यों न स्वयं ही राज्य प्राप्त कर लेता! छः हज़ार मील की दूरी पर से उस

का पराभव होना कितना कठिन था यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ से कितनी गोरी फ़ौज आ सकती थी ? और किस प्रकार यहाँ के सैन्य-समुदाय को टक्कर झेल सकती ? अंगरेज़ों का यहाँ मुख्य आधार यहाँ की ही सेना पर था। विलायत से तो बहुत थोड़ी सेना आती थी। यदि कोई गोरा विद्रोही यहाँ के राजे-रजवाड़ों से सहायता माँगता तो उसे वह सहायता अवश्य मिल गई होती। परन्तु कोई गोरा विद्रोह करने को तैयार नहीं हुआ। यद्यपि बुद्धि और तलवार के बल कितने ही अंगरेज़ और फ्रेंच लोगों ने व्यक्तिशः लाखों रुपयों की संपत्ति प्राप्त की, कितनों ही ने निज की जागीरें हस्तगत कीं और कितने ही हिन्दू अथवा मुसलमान राजाओं के आश्रय में सेनापति अथवा दीवान बनकर रहे; परन्तु यूरोप की कम्पनियों के विरुद्ध किसी यूरोपियन ने न तो विद्रोह किया, न कोई फूटकर शत्रु से ही मिला तथा न किसीने और जाति भाइयों के विरुद्ध किसी भारतीय की सहायता ही ली। यह बात नहीं है कि यहाँ के प्रवासी अंगरेज़ों में परस्पर बैर नहीं था। वारन हेस्टिंग्ज़ का समय अपनी कौंसिल के सभासदों से झगड़ा करने में ही व्यतीत हुआ; परंतु उसने अपने प्रतिस्पर्धियों के पराभव के लिए भारतीय सेना की सहायता कभी नहीं ली। यही हाल फ्रेंचों का भी था। डुप्ले प्रभृति अनेक फ्रेंच नीतिज्ञों का परस्पर झगड़ा होता था; परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें उन्होंने अपने झगड़े मिटाने में भारतीयों की सहायता ली हो। अंगरेज़ और फ्रेंचों ने परस्पर में युद्ध करते समय भारतवासियों की सहायता ली थी; परन्तु अंगरेज़ों ने अंगरेज़ों

के विरुद्ध या फ्रेंचों ने फ्रेंचों के विरुद्ध कभी भारतीयों की सहायता नहीं ली। इतना ही नहीं, भारतीय राजा-महाराजाओं की नौकरी करने के पहले युरोपियनों की यह शर्त हुआ करती थी कि अपने भाइयों से हम नहीं लड़ेंगे। कहा जाता है कि जब होलकर के आश्रित यूरोपियन, अपने भाइयों से नहीं लड़े तब उन्हें तोप से उड़वा दिया था। बाजीराव पेशवा द्वितीय के आश्रय में कप्तान फ़ोर्ड नामक अङ्गरेज़ था। परन्तु १८१७ के युद्ध में उसने अपने भाइयों से लड़ना अस्वीकार कर दिया था। अब इसका विचार पाठक ही करें कि हम इन गोरों को नमकहराम कहें या स्वदेशाभिमानी। हमारी समझ से वे सर्वथा नमकहराम नहीं कहे जा सकते; क्योंकि वे नौकरी करते समय ही यह शर्त किया करते थे कि हम अपने भाइयों से न लड़ेंगे और यह शर्त मंज़ूर हो जाने पर ही वे नौकरी करते थे। यद्यपि उनके भाइयों के विरुद्ध लड़ने के काम में उनका उपयोग नहीं हो सकता था तो भी कवायदी फ़ौज तैयार करने के काम में उनका उपयोग पूरा हो सकता था, और इतना ही बस समझा जाता था। अङ्गरेज़ और फ्रेंच परस्पर में लड़े; परन्तु स्वदेशियों के विरुद्ध कभी नहीं लड़े। इससे यही सार निकलता है कि वे धर्मनिष्ठ होने की अपेक्षा स्वदेशभक्त अधिक थे। वे ईसाई धर्म के अभिमानी होने की अपेक्षा देशाभिमानी अधिक थे और वे स्वदेश परदेश पर से ही स्वकीय और परकीय, अपने और पराये की कल्पना करते थे। मालूम होता है कि आपस में झगड़ा कर तीसरे का फ़ायदा न करने की उनकी यह बुद्धि विदेश में ही अधिक जागृत हुई होगी।

यदि भारत-वासी भी इसी तरह विदेशों में गये होते तो उनमें भी कदाचित् यही बुद्धि उत्पन्न हुई होती; परन्तु उनके निजके देश में तो यह बुद्धि जागृत न हो सकी। तभी उनकी स्वतंत्रता का नाश आपस में झगड़े और उसमें विदेशियों से सहायता लेने से हुआ है। इस संबन्ध में तो उस समय के एक भी भारतीय राजनीतिज्ञ में दूरदर्शिता का सद्भाव नहीं दिखलाई देता। बड़े बाजीराव और नाना साहब पेशवा ने आंग्रे के विरुद्ध अङ्गरेज़ों की सहायता ली। रघुनाथराव ने नाना फड़नवीस के विरुद्ध ली। नाना फड़नवीस ने होलकर के विरुद्ध ली। बाजीराव (दूसरे) ने सिंधिया के विरुद्ध ली और (नागपुर के) भोंसले ने पेशवा के विरुद्ध ली। इस प्रकार सभों ने अपने अपने भाइयों के विरुद्ध सहायता ली। दिल्ली, बंगाल, अवध, हैदराबाद और कर्नाटक में जो राजनीतिक उथल-पुथल हुई हैं वे सब अङ्गरेज़ अथवा फ्रेंचों की सहायता ही से हुई हैं। यदि युद्धों में किसीने अङ्गरेज़ों की सहायता नहीं ली तो वे सिंधिया, होलकर और विशेषतया हैदरअली तथा टीपू हैं; परन्तु टीपू ने अङ्गरेज़ों की सहायता नहीं ली तो फ्रेंचों की ली; ली अवश्य, चाहे किसी की भी ली हो। अब इन सब बातों पर से इनमें राजनीतिज्ञों को अदूरदर्शी कहने की अपेक्षा यही क्यों न कहा जाय कि उस समय की परिस्थिति ही ऐसी थी कि बिना सहायता लिये काम ही नहीं चल सकता था। राज-काज में सभी की सहायता लेना ही पड़ती है। कहा भी है, 'शृङ्गेन कार्यम् अवनीश्वराणाम् ।' स्वयं अङ्गरेज़ों ने टीपू के विरुद्ध मराठे और निज़ाम की सहायता ली थी। परन्तु मराठों का अपराध इतना ही है कि वे

सहायता की आवश्यकता नष्ट हो जाने पर विदेशियों को अलग नहीं कर सके। यदि स्वतः के पैरों में शक्ति हो तो दूसरे की सहायता अधिक बाधक नहीं होती; परन्तु जिनका सब आधार दूसरों पर होता है उन्हें वे दूसरे यदि सर्वथा हड़प जायँ तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? इसके लिए मराठों का आंग्रे के विरुद्ध अङ्गरेज़ों की सहायता लेने और अङ्गरेज़ों का टीपू के विरुद्ध मराठों की सहायता लेने का उदाहरण दिया जा सकता है। दोनों के पैरों में ताक़त थी, अतः काम होते ही दोनों भिन्न हो गये और किसी ने किसी की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं की। अप्रत्यक्ष में परिणाम कुछ भी हुआ हो; परन्तु प्रत्यक्ष में किसी की कुछ हानि नहीं हुई। ठीक इसके विरुद्ध रघुनाथराव, बाजीराव (दूसरा), निज़ाम और कर्नाटक के नवाब का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है। इन सबों ने सहायता लेने के लिए अपने आपको इतना जकड़ लिया कि कार्य समाप्त हो जाने पर ये सहायक को फटकार कर दूर न कर सके। घोड़े ने अपने शत्रु के नाश के लिए मनुष्य को पीठ पर बैठा लिया; परन्तु शत्रु का नाश हो जाने पर वह मनुष्य को पीठ पर से न हटा सका। यह एक इसप नीति की कथा का रहस्य है, और यह हिन्दुस्तान के हिन्दू या मुसलमान राजा-महाराजा और अंगरेज़ों के पारस्परिक सम्बन्ध में पद पद पर घटित होता है।

नाश के वास्तविक कारण।

यह नहीं कहा जा सकता कि अङ्गरेज़ों को अपने राज्य में व्यापार करने की आज्ञा देने से और अवसर पड़ने पर उनकी सहायता लेने से मराठों का राज्य नष्ट

हुआ। क्योंकि इन दो बातों के करने पर भी राज्य की रक्षा हो सकती थी। हमारी समझ से तो राज्य नष्ट होने के वास्तविक कारण दो हैं। पहला कारण है मराठों में दूसरे लोगों से प्रेम; परन्तु आपस में विरोध-भाव तथा राष्ट्राभिमान का अभाव। दूसरा कारण है शिक्षित सेना और सुधरी हुई युद्ध-सामग्री का न होना। पहले कारण के सम्बन्ध में तो इतना कह देना बस है कि रघुनाथराव और गायकवाड़ के घरू झगड़ों में अङ्गरेज़ों का प्रवेश हो जाने पर भी मराठे यदि कुछ समझते और एकता रखते तो भी अङ्गरेज़ों का कुछ भी ज़ोर न चलता; परन्तु यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मराठों को मिलकर और एक दिल से काम करने का अभ्यास ही नहीं था। एक भी मराठा सरदार ऐसा नहीं है जो अङ्गरेज़ों से न लड़ा हो; परन्तु सब मिलकर नहीं लड़े, यहाँ तक कि दो दो तीन तीन सरदार भी मिलकर नहीं लड़े। इसी बात से अङ्गरेज़ों का सबसे अधिक लाभ हुआ। जब रघुनाथराव के कलह काल में पेशवा, सिंधिया और होल्कर ने मिलकर युद्ध किया तब उनके सामने अङ्गरेज़ों का कुछ वश न चला और वड़गाँव में मराठों की शरण आकर उन्हें अपमान-पूर्ण संधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। फिर जब इस संधि को अपमान-पूर्ण कहकर इन्होंने तोड़ा और युद्ध छेड़ा तब फिर भी उन्हें मराठों के आगे हारना पड़ा, क्योंकि उस समय भी मराठे सरदारों ने मिलकर युद्ध किया था तथा अङ्गरेज़ों को अपनी यह बात कि "अङ्गरेज़ों की शरण आनेवाले व्यक्तियों को अङ्गरेज़ अभय देते हैं" छोड़नी पड़ी और रघुनाथराव को नाना फड़नवीस के सुपुर्द करना पड़ा। इसी प्रकार सिन्

निज़ाम की मराठों से रक्षा करने का बीड़ा अङ्गरेज़ों ने उठाया था और जिसकी सहायता से अङ्गरेज़ लोग टीपू का पराभव कर सके उसी निज़ाम पर मराठों ने जब सन् १७९६ में चढ़ाई की तब अङ्गरेज़ों को तटस्थ रहना पड़ा। क्योंकि उस समय भी सब मराठे सरदार एक थे। उनमें फूट नहीं हुई थी। फिर जब बाजीराव को गादी देने का प्रश्न खड़ा हुआ तब सिंधिया और होलकर यदि एकता रखते तो बाजीराव, अङ्गरेज़ों के पास जाने का साहस नहीं करता। ये दोनों जिसके लिए कहते उसे ही गादी दी जाती; क्योंकि इनके पास सैनिक शक्ति थी और नाना फड़नवीस के पास केवल चातुर्य्य था। यदि पदच्युत करने पर बाजीराव अङ्गरेज़ों के पास गया होता तो बसई की संधि थी ही। रघुनाथराव का पक्ष करने का परिणाम अङ्गरेज़ भूले नहीं थे। इसलिए पहले तो वे बाजीराव का पक्ष ही न लेते और लेते भी तो सिंधिया और होलकर के आगे उनकी एक न चलती; परन्तु यह नहीं हुआ और बाजीराव अङ्गरेज़ों की शरण में गया तथा उसने बसई में सन्धि की। इस सन्धि की शर्तों पर, सिंधिया और होलकर दोनों अप्रसन्न थे। अपने हाथ के पेशवा को अङ्गरेज़ों की शरण में जाते देख उन्हें बहुत क्रोध आया था और वे बसई की सन्धि को तोड़कर पेशवा को फिर मराठी आश्रय में रखना चाहते थे। इनके दूसरे झगड़े अंगरेज़ों से चाहे कुछ भी हों, परन्तु यह विदित है कि इस विषय में दोनों एक थे। पर दोनों हो अङ्गरेज़ों से मिलकर लड़े नहीं। जब सिन्धिया का पराभव हो गया तब होलकर को युद्ध करने की इच्छा हुई। इस प्रकार एक एक से लड़ने में अङ्गरेज़ों को सुभीता हो रहा। यदि दोनों एक

साथ लड़ते, तो अंगरेज़ों को बसई की संधि का संशोधन अवश्य करना पड़ता; परन्तु होल्कर, सिंधिया के पराभव को दूर से ही बैठकर देखने लगे। जब पराभव हो गया तब आप उठे। यह भी नहीं हुआ कि सिंधिया के पराभव की घटना से शिक्षा लेकर चुपचाप बैठे रहते और इस प्रकार अकेले होल्कर ने युद्ध छेड़कर बिना प्रयोजन अपना नाश कर लिया। सन् १८१७-१८ में भी यही बात हुई। बाजीराव को चाहिए था कि जब अङ्गरेज़ों ने उनपर इतने उपकार किये थे और सबों के पक्ष छोड़ देने पर भी उनका पक्ष लेकर उसे गद्दी पर बैठाया था और इस प्रकार उसके पिता को दिया हुआ वचन किसी भी तरह से क्यों न हो पूरा कर दिखाया था तो अङ्गरेज़ों से युद्ध न करता; परन्तु बसई की सन्धि की लज्जा और अङ्गरेज़ों के त्रास के कारण वह अङ्गरेज़ों से युद्ध करने को तैयार हुआ। उस समय भी सिंधिया और होल्कर की दृष्टि से वही सन् १८०२ की स्थिति प्राप्त हुई। उस समय तो इन्हें फिर जोड़ी से आकर बाजीराव की सहायता करना चाहिए थी; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बिलकुल बाजीराव के शरण आने पर अकेले होल्कर ने अपने हाथ पाँव हिलाकर और अधिक मज़बूत बंधवा लिये। यद्यपि सिंधिया, होल्कर, भोंसले आदि की यह इच्छा अंतःकरण से थी कि मराठी राज्य में अङ्गरेज़ों का प्रभाव न बढ़े, परन्तु वह शुद्ध नहीं थी। इसमें स्वार्थ का मिश्रण था। प्रत्येक सरदार के मन में यह गुप्त भावना थी कि अपने सिवा अङ्गरेज़ और इतर सरदारों का प्रभाव कम हो तो अच्छा अथवा दूसरे सरदारों का प्रभाव अङ्गरेज़ों के द्वारा कम हो और अङ्गरेज़ प्रबल हो जायें तो कोई हानि नहीं; प्रत्युत अच्छा

ही है। परिणाम यह हुआ कि किसी का कुछ भी काम नहीं हुआ और दूसरे सरदारों के नाश के साथ साथ उनका भी नाश हुआ।

यह बात नहीं है कि दूरदर्शी मराठे नीतिज्ञों को अङ्गरेज़ों की पद्धति नहीं दीखती थी अथवा वे अङ्गरेज़ों के दाव-पेंचों को नहीं समझते थे; परन्तु यह बात ठीक है कि वे अङ्गरेज़ों से टक्कर न ले सके। जब औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुगल बादशाहत का पतन हुआ तब साम्राज्य-सत्ता के बुद्धि-बल-शतरंज का दाँव भारत के विशाल पट पर एक ओर से अङ्गरेज़ और दूसरी ओर से मराठा खेलने को बैठे। उस समय दोनों के मुहरे और मुहरों के घर समान थे। दोनों ही को अपने अपने मोहरों द्वारा सम्पूर्ण पट पर आक्रमण करना था और अपने अपने प्रतिपक्षी के मोहरे जितने हो सके निकम्मे कर पट पर से उठा देना था। यद्यपि शतरंज के दोनों खिलाड़ियों को परस्पर में एक दूसरे के मुहरों की चाल के हेतु की कुछ न कुछ कल्पना अवश्य होती है; परन्तु वास्तविक बुद्धि-बल इसीमें है कि मुहरों की चाल ऐसी चली जाय कि सामने वाला खिलाड़ी अथवा अन्य परीक्षक समझ न सके और यदि समझ भी ले तो प्रतीकार न कर सके। जिसमें बुद्धि-बल अधिक होता है वही प्यादा भी भी कर सकता है। यह बात नहीं है कि मराठों को साम्राज्य-पट पर शतरंज खेलना ही न आता रहा हो; क्योंकि अङ्गरेज़ दक्षिण में जितने घुसे थे मराठे उत्तर में उससे कहीं अधिक घुस गये थे; परन्तु नाक़े के स्थान लेने में अङ्गरेज़ों ने बहुत अधिक चातुर्य दिखलाया, इसलिए जब मुहरों की

जिन्होंने अपने हाथ-पाँव चलाकर नया राज्य प्राप्त किया उन्हें दोष देने की अपेक्षा जिन्होंने अपने हाथ का राज्य गँवाया उन्हें ही दोष देना उचित है। जहाँ कोई एक बार राज्य लेने के पीछे पड़ा कि वह फिर न्याय, अन्याय का सूक्ष्म विवेक करने के लिए नहीं ठहरता। वह अपना काम करता ही जाता है। मराठों के सम्बन्ध में ही देखिए कि उन्हें उत्तर भारत में राज्य लेने का क्या अधिकार था? उनका दक्षिण में मुग़लों के हाथ से राज्य ले लेना तो न्याय की बात कही जा सकती है, परन्तु साम्राज्य-सत्ता प्राप्त करने के लिए उत्तर भारत में जब वे उछल-कूद मचाने लगे तब न्याय कहाँ रहा? यदि कोई यह तर्क करे कि मुग़लों से सनद लेकर उस सनद के बल पर यदि मराठों को राजपूतों पर तलवार चलाने का हक़ था तो मुग़लों के दीवान बनकर उन्हीं प्रयत्नों से दक्षिण में मराठों को जीतकर मुग़लों का बचा हुआ काम पूरा करने का हक़ अङ्गरेज़ों का भी हो सकता है। फिर इस तर्क का उत्तर देना बहुत कठिन होगा। इसलिए सामर्थ्य और महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो मराठों का राज्य लेने के कारण अङ्गरेज़ों पर क्रोध न कर अपने हाथ का राज्य गँवा देने की जो नादानी मराठों ने की उसीपर वास्तविक क्रोध करना चाहिए।

यह बात प्रत्येक मनुष्य स्वीकार करेगा कि मराठों की अपेक्षा राज्य प्राप्त करने में अङ्गरेज़ों को अधिक अड़चनें थीं। अङ्गरेज़ छः हज़ार मील की दूरी से चलकर भारत में आये थे और मराठे थे अपने ही देश में; देश में क्यों, घर में थे। अङ्गरेज़ों के लिए सारा देश पराया था। उन्हें प्रत्यक्ष प्रवास के द्वारा देश की लंबाई-चौड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर उस पर से

नक़्शा बनाये बिना देश का परिचय होना कठिन था। मराठों का तो सब देश देखा भाला और जाना हुआ था।

जो कठिन मार्ग, गुफाएँ, दर्रे और खोहें मराठों के पावों तले सदा रहती थीं अङ्गरेज़ों को उनका पता तक लगाना कठिन था। यदि मराठों ने यह विचार किया होता कि महाराष्ट्र में अंगरेज़ों का पाँव न जमने पावे, तो अंगरेज़ों की सत्ता का बीज-रोपण ही न हुआ होता, उसका ऐसा विशाल वृक्ष होना तो दूर की बात है। यदि यही विचार कर लिया होता कि अपने को विलायती माल नहीं चाहिए, तो फिर अंगरेज़ यहाँ व्यापार काहे का करते? और नहीं, विलायती माल पर यदि कर ही बैठा दिया जाता तो व्यापार लाभदायक न होने के कारण अंगरेज़ों को तुरंत ही अपना बसना बोरिया बाँधना पड़ता। दूसरे, अंगरेज़ व्यापारी जब अपने पास फ़ौज आदि रखने लगे तब मराठों की आँखें क्यों नहीं खुलीं? अंगरेज़ों का कम्पनी-रूपिणी ऊँटनी का बढ़ना जो उनकी आँखों के आगे बढ़ रहा था, उन्हें क्यों नहीं दिखा और मराठों ने उसका ख़याल क्यों नहीं किया? अंगरेज़ों के पास बंदूक आदि फ़ौजी सामान एकत्रित होता हुआ देखकर भी मराठों ने उनके समान फ़ौजी सामान बनाने के लिए कारख़ाने क्यों नहीं खोले? उस समय शस्त्र-आईन तो था ही नहीं। सब यूरोपियन राष्ट्र भारतवासियों के हाथों हथियार बेचने को तैयार थे और अंगरेज़ों के सिवा अन्य यूरोपियन, मराठों के यहाँ नौकर रहकर उन की फ़ौज को सुशिक्षित बनाने और तोप-बंदूक आदि का कारख़ाना खोलने को भी तैयार थे। फिर मराठों ने इससे लाभ क्यों नहीं उठाया? जिस प्रकार छः हज़ार मील की दूरी से अंगरेज़ भारत में आये उसी प्रकार भारत

कर मराठों को दूसरे देशों में जाने और वहाँ से विद्या प्राप्त करने, मैत्री करने और व्यापार करने की किस ने मनाही की थी? अंगरेज़ों के मन में कितना ही राज्य का लोभ होता, पर यदि उनकी सेना में भारतवासी सम्मिलित ही न होते तो वे क्या कर सकते थे? अंगरेज़, जब अंगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने को तैयार नहीं होते थे तो मराठों को मराठों के विरुद्ध लड़ने के लिए अंगरेज़ों से क्यों मिलना था?

अंगरेज़ों की फ़ौज में प्रतिशत बीस से अधिक अंगरेज़ी सिपाही कभी नहीं थे। प्रतिशत अस्सी हिन्दुस्तानी ही थे। जब अंगरेज़ अङ्गरेज़ में अपनेपन का भाव था तब हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी में इतना भी नहीं, तो हिन्दू हिन्दू ही में, कम से कम, मराठों मराठों में, यह भाव क्यों नहीं हुआ? सबसे महत्व की बात तो यह है कि यदि अंगरेज़ों को मराठों ने अपने आपसी झगड़ों में न डाला होता तो उन्हें बिना कारण केवल विजगीषा से झगड़े खड़ेकर मराठों के राज्य पर चढ़ाई करना कठिन जाता और उन्हें मराठों को जीतने के लिए तीन चार सौ वर्ष भी पूरे न होते। यदि यह मान भी लें कि मुगलों ने उत्तर हिन्दुस्तान, अपनी मूर्खता से अङ्गरेजों को दे दिया, तो भी अठारहवीं शताब्दि के अन्त तक यमुना नदी के दक्षिण की ओर अंगरेजों की बीता भर भी ज़मीन नहीं थी। ले देकर पश्चिम किनारे पर बंबई, सूरत प्रभृति थाने और पूर्व किनारे पर कुछ थोड़ासा राज्य ही उनके अधिकार में था। ऐसी दशा में टीपू के विरुद्ध सहायता देकर सैकड़ों मील का राज्य अङ्गरेज़ों को किसने दिलाया? मराठों ही ने न? अङ्गरेज़ों को घर में घुसा लेने की निज़ाम और मद्रास के मुसल्मानों की बात को यदि छोड़ दी जाय तो भी उत्तर में यमुना नदी-

ईशान में कटक, संबलपुर, पूर्व में समुद्र, आग्नेय में कावेरी, दक्षिण में मैसूर, नैऋत्य में मलाबार, पश्चिम में पश्चिम समुद्र, और वायव्य में राजपूताना इतने बड़े विशाल क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दि के अन्त तक अङ्गरेज़ों को पाँव रखने तक की जगह कहाँ थी ? फिर उन्हें मराठों ने अपने आपसी झगड़ों में न्यायाधीश या सहायक क्यों बनाया ?

यह कहने में कुछ हानि नहीं है कि उस समय इस देश में सब जगह मराठों का राज्य था और एक ही छत्रपति का अधिकार था। पेशवा, सिंधिया, होलकर, गायकवाड़, भोंसले और पटवर्धन आदि मराठे और ब्राह्मण सरदार, औपचारिक रीति से ही क्यों न हो, एक ही राजा का शासन मानते थे। ये सब सरदार एक ही राज्य के आधार-स्तंभ थे। इन्हें यह भय होना भी स्वाभाविक था कि यदि उस मुख्य राज्य का पतन हो जायगा तो वह हमारे ही ऊपर आकर पड़ेगा और फिर उसका संभालना कठिन होगा। वे यह भी जानते थे कि यदि राज्य बना रहेगा तो उससे हम सबों का कल्याण होगा। तो भी फिर मराठों ने अपने अपने राज्यों में अङ्गरेज़ों को प्रवेश क्यों होने दिया। यदि कोई एक सरदार अङ्गरेज़ों से मिल गया होता और शेष सरदार परस्पर मिल-जुलकर रहते, तो भी सब प्रबंध हो सकता था। अंगरेज़ों को बंबई, कलकत्ता और मद्रास से जो एक दूसरे से अत्यन्त दूर हैं षड्यंत्र करने पड़ते थे; परन्तु मराठे सरदार तो इसकी अपेक्षा एक दूसरे से बहुत ही नज़दीक थे। यदि मराठे मिल कर रहते तो अङ्गरेज़ों की डाक तक नहीं आ-जा सकती थी और न उन्हें सैन्य ही मिलती। यदि वे दूसरे लोगों की सेना से भर्ती करते तो उस सेना का मराठी राज्य में प्रवेश होना

कठिन था। यदि प्रवेश होता तो रसद मिलना कठिन हो जाता और छापे डालकर मराठों ने उस सेना को काट डाली होती। अङ्गरेज़ों की कलकत्ता या मद्रास से बंबई के लिए सेना कभी समुद्र-मार्ग से नहीं आई, क्योंकि उनके पास जहाज़ी बेड़ा इतना बड़ा नहीं था। उनकी सेना का आना जाना मराठी राज्यों में से ही प्रायः हुआ करता था और मराठे उसे होने देते थे। परन्तु यदि सब मराठों में एका होता तो अङ्गरेज़ों की सेना तो क्या, कागज़ का एक टुकड़ा भी, मराठी राज्यों में से होकर नहीं जा सकता था। ऐसी दशा में अङ्गरेज़ मराठों का राज्य लेने के झगड़े में नहीं पड़ते तथा ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों में से राज्य लेने के झगड़े में न पड़ने की सलाह देनेवाला जो पक्ष था उसीकी विजय हुई होती। इन सब कारणों से कहना चाहिए कि अङ्गरेज़ों ने मराठों को मराठों की सहायता से जीता। उन्होंने थोड़ासा विलायती माल और बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता की पूँजी पर भारत का व्यापार और राज्य प्राप्त किया। उन्होंने मुग़लों के जीर्ण-शीर्ण राज्य पर ही छापा नहीं मारा, वरन जोशीले, तेज़ तर्रार, उत्साही, नई दमवाले, महत्वाकांक्षी एवं उद्योन्मुख मराठों के राज्य को भी जीत लिया। उनकी यह जीत केवल दो बातों के बल पर हुई। एक तो उनकी बुद्धि और हिम्मत, दूसरी मराठों की अदूरदर्शिता और परस्पर की फूट।

मध्यवर्ती सत्ता का अभाव

शिवाजी की स्वराज्य-स्थापना के समय राजा और अष्ट प्रधान ये ही दो राज्य के अंग थे। राज्य एक सत्तात्मक था

और अष्ट प्रधान (सलाह देने वाले तथा) ही उत्तरदायी कर्मचारी थे। शाहू के शासन-काल में पहले पहल सरंजामी सरदार उत्पन्न हुए। इन सरदारों को अपने अपने प्रान्तों में दीवानी, फ़ौजदारी, मुल्की और फ़ौजी व्यवस्था करने का अधिकार था। इस व्यवस्था करने के खर्च से बची हुई परन्तु पहले से जमाबंदी के द्वारा निश्चित, रकम उन्हें छत्रपति को देनी पड़ती थी। कई ऐतिहासिकों का कहना है कि सरंजामी सरदारों की नियुक्ति और महाराष्ट्र के बाहिर मराठों की सत्ता का विस्तार एकही समय में हुआ; परन्तु पहले सरदार बनाये गये, फिर राज्य विस्तार हुआ यह कहने की अपेक्षा राज्य-विस्तार होने के कारण ही सरंजामी सरदारी का प्रारंभ हुआ, यह कहना अधिक सयुक्तिक होगा। शाहू की सनद की प्रतीक्षा न कर दाभाड़े, बांडे, भोसले और आंग्रे प्रभृति सरदारों ने मुग़ल राज्यों के टुकड़े टुकड़े करना प्रारंभ कर दिया था और वे जीते हुए राज्य में स्वतंत्र रीति से कारबार भी करते थे। ऐसे सरदारों को आश्रय में रखने में छत्रपति का लाभ ही था और इन्हें भी शक्ति कम होने के कारण छत्रपति की सत्ता का रक्षण अपने ऊपर चाहिए था। इस प्रकार दोनों ओर की आवश्यकताओं से सरंजामी सरदारी का मंडल तैयार हुआ। इस समय यदि स्वयं शिवाजी महाराज होते तो वे सरंजामी सरदार नियुक्त करने की पद्धति स्वीकार करते या नहीं इसमें सन्देह ही है। यूरप में 'फ़्यूडल'-पद्धति का प्रारंभ भी इसी प्रकार हुआ था। मराठों में दो आनुवंशिक मुख्य गुण, चाहे इन्हें दोष कहिए, थे। एक तो स्वातन्त्र्य-प्रियता, दूसरा स्वदेश-प्रेम। यूरप में भी 'फ़्यूडल' पद्धति प्रारंभ होने से ये ही दो मनो-धर्म

कारणीभूत हुए। यूरोप की इस पद्धति के नाश होने में कितनी ही शताब्दियाँ लगी। यदि महाराष्ट्र में भी दूसरे किसी का सम्बन्ध न हुआ होता और मराठों की राज्य घटना को स्वतंत्र रीति से उत्क्रान्त होने के लिए शताब्दियों का अवसर मिला होता तो यहाँ भी सरंजामी सरदारी की पद्धति नष्ट होकर एकतंत्री राज्य-सत्ता स्थापिता हुई होती; परन्तु उत्क्रांति का यह प्रयोग सिद्ध न हो सका। अष्ट प्रधानों पर पेशवा को नियुक्त करना, यह उत्क्रान्ति की ही एक सीढ़ी थी। और यदि छत्रपति और पेशवा दोनों की एक सी प्रबल जोड़ी मिली होती तो यह सरंजामी सरदारी-पद्धति का शायद शीघ्र ही पतन हो गया होता। पेशवा ने राज्य-विस्तार का जो उद्योग प्रारंभ किया था उसे यदि छत्रपति के बल की सहायता मिल जाती तो नये और पुराने सरदार अपने पेशे को – नौकरी को – नहीं भूलते। पेशवाई का मुख्य आधार, पेशवा की निज की कर्तृत्व-शक्ति ही थी। इस शक्ति के बल उन्होंने अपनी पेशवाई नहीं जाने दी, यही बहुत किया। यदि राजा भी स्वतः कर्तृत्वशील, तेजस्वी, स्वाभिमानी और चपल होता तो उसे सरंजामी सरदारों की सत्ता और अधिकारातिक्रमण को रोकना बहुत सरल हो गया होता। किंबहुना स्वयं पेशवा भी इतने स्वतन्त्र न हो गये होते और जब मुख्य प्रधान को ही स्वतन्त्रता नहीं होती, तो सरदारों को तो होती ही कहाँ से ?

ऐतिहासिकों का कहना है कि "शाहू महाराज और बालाजी विश्वनाथ के शासन-काल में महाराष्ट्र की राज्य-पद्धति को इङ्गलैंड की वर्तमान संयुक्त साम्राज्य पद्धति का स्वरूप प्राप्त हो गया था; परन्तु अंतर केवल यही था कि

इंग्लैण्ड में वंशपरंपरा से चली हुई राज्य-सत्ता को लोक-निर्वाचित प्रतिनिधियों और प्रतिनिधियों में से नियुक्त अनेक मंत्रि-मंडलों की सत्ता का बन्धन है और पेशवाई के समय में सम्पूर्ण सत्ता एक मुख्य प्रधान ही में संचित थी।" परन्तु हमारी समझ से केवल यही अन्तर इतना बड़ा है कि इसके कारण पेशवाई को साम्राज्य सत्ता का नाम ही नहीं दिया जा सकता और यदि नाम भी दिया जाय तो भी दोनों साम्राज्य का साम्य सिद्ध नहीं हो सकता। संसार में या तो शुद्ध एकतन्त्री राज्य-पद्धति चल सकती है या शुद्ध प्रतिनिधि सत्ताक राज्य-पद्धति; परन्तु केवल एकतन्त्री-प्रधान सत्ता कभी नहीं चल सकती। जो आदर साधारण जन समाज में वंश परंपरागत राजवंशीय व्यक्ति के प्रति हो सकता है, वह प्रधान के प्रति, चाहे वह कितना ही गुणवान और बलवान क्यों न हो, नहीं हो सकता। दूसरी प्रतिनिधि-सत्ताक-पद्धति को प्रजा का बल होता है; परन्तु प्रधान होने के कारण पेशवा के प्रति सर्वसाधारण का आदर नहीं था और एकतन्त्री प्रधान सत्ता होने से प्रजा का बल भी नहीं था। इस प्रकार छत्रपति और प्रजा के बल के बिना पेशवा की सत्ता की इमारत बिना नींव के खड़ी की गई थी। इसलिए पेशवा को अपने आधार के लिए सरंजामी सरदारों का मंडल रखना पड़ा और अन्त में यही मंडल पेशवाई के लिए सिर का बोझ हो गया। इन सरदारों को पेशवा यह नहीं लिख सकते थे कि तुम्हें अमुक कार्य करने की "आज्ञा दी जाती है।" यदि पेशवा कोई भी बात सरदारों को सूचित करते तो उसे मानना न मानना उन सरदारों पर निर्भर था क्योंकि पेशवा को उनपर आज्ञा करने का अधि-

कार नहीं था और जब आज्ञा करने का अधिकार नहीं था तो आज्ञा भंग करने पर दंड देने का अधिकार तो हो ही कैसे सकता है? पेशवा की आज्ञा मान्य न करने के उदाहरण तो मिलते हैं; पर सरंजामी सरदारों को पदच्युत करने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। जब तक पेशवा स्वयं सेनापति रहे और चढ़ाई पर जाते रहे तब तक तो उनका कुछ अधिकार चलता भी था; परन्तु बड़े माधवराव पेशवा के पश्चात् यह बात भी बंद हो गई और सत्ता के सूत्र फड़नवीस के हाथों में आये। फिरसे मध्यवर्ती सत्ता की अवनति हुई और वह एक सीढ़ी नीचे और उतरी। जो स्वामि-भक्ति की भावना शाहू महाराज के संबंध में थी वह माधवराव के प्रति नहीं थी और जो माधवराव के प्रति थी वह नाना फड़नवीस के संबंध में नहीं थी। ऐसी दशा में कोकणस्थ फड़नवीस की जगह देशस्थ फड़नवीस-किंबहुना कारभारी भी होता तोभी वही बात होती; क्योंकि घड़ी का मुख्य पुर्जा ही शिथिल और निर्जीव हो गया था अर्थात् छत्रपति महाराज की सत्ता भिन्न भिन्न भागों से सरंजामी सरदारों तक बह चुकी थी। अतः मराठाशाही संयुक्त-साम्राज्य स्वरूप न होकर एक काम चलाऊ नाम-मात्र के संघ के रूप में थी। संयुक्त स्वराज्य (अर्थात् फेडैरेशन) और संघ (अर्थात् कान्फिडरेसी) में बहुत महत्वपूर्ण अंतर है। इन दोनों की रचना अनेक अवयवों के मिलने से होती है। परंतु संयुक्त स्वराज्य (अर्थात् फ़ेडेरेशन) में ये अनेक अवयव एक दूसरे से जकड़े हुए और एक जीव होते हैं तथा संघ (कान्फ़िडरेसी) में ये अनेक अवयव अंग विशेष के एक बिंदु से परस्पर में मिले हुए होते हैं। सारांश यह है कि फ़ेडरेशन रचना बलिष्ठ और

मज़बूत होती है और कान्फ़िडरेसी कमज़ोर। अतएव फ़ेडरेशन की अपेक्षा कान्फ़िडरेसी धक्का लगने मात्र से टूट सकती है। एकतंत्री-राज्य-पद्धति में जो काम राजनिष्ठा की भावना से होता है संयुक्त स्वराज्य-पद्धति में वही काम सामुदायिक प्रेम की भावना से होता है, क्योंकि उसमें संयुक्त स्वराज्य में अनेक मिलकर एक हो जाते हैं। संघ अथवा कान्फ़िडरेसी में नैष्ठिक प्रेम नहीं होता। उसमें संयोग का कारण केवल काम चलाऊ स्वार्थ ही होता है, और यह स्वार्थ सात्विक अथवा उदार न होने के कारण चाहे जहाँ नाम-मात्र के कारण से अपना स्वरूप बदल सकता है। मराठाशाही के सरंजामी सरदार-मंडल का प्रत्येक सरदार ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाता था, त्यों त्यों अधिकाधिक स्वतंत्र होता जाता था। पेशवा के फड़नवीस की बुद्धि अथवा उनके माने हुए अधिकारों के समान कमज़ोर और नाज़ुक सम्बन्धों आधार पर लटकने वाला सरंजामी सरदार मंडल का बोझा अधिक दिनों तक टिक भी कैसे सकता था? कई लोगों की समझ है कि शिवाजी के समय के स्वराज्य की सीमा से यदि मराठों का राज्य बाहर न गया होता तो वह गड़बड़ न होने पाती; परन्तु इसपर हमारा कहना इतना ही है कि भारत में ऐसे उँगलियों पर गिनने लायक बहुत से राज्य थे; पर अन्त में वे भी कहाँ टिके? वास्तविक बात तो यह है कि मराठी राज्य के विस्तार में कोई भूल नहीं हुई; किन्तु विस्तार के साथ साथ जिस अत्यन्त सुदृढ़ता की आवश्यकता थी वह उसे प्राप्त न हो सकी। यह सुदृढ़ता या तो सब जगह प्रबल राज-सत्ता द्वारा प्राप्त होती है या स्वार्थ-त्यागी सज्जन लोक-सत्ता से। इन दो के सिवा तीसरा

मार्ग नहीं है और इन दोनों सत्ताओं में से मराठाशाही के अन्तिम दिनों में एक भी प्रबल नहीं थी। इस संबंध में जितना दोष ब्राह्मण पेशवा को दिया जा सकता है उतना ही मराठे सरदारों को भी दिया जा सकता है यदि पेशवा कोई भूल कर रहे थे तो उसे सुधारने में मराठा सरदारों की क्या हानि थी? किसी भी तरह उन्हें मराठाशाही को बचाना चाहिए था। इसके लिए यदि वे चाहते तो राज्य-क्रान्ति कर पेशवा की गादी उलट देते और मराठा-मंत्रि-मंडल स्थापित कर मराठा-शाही बचाते; परन्तु उन्होंने यह भी कहाँ किया?

अंगरेज़ों ने राज्य कैसे पाया?

यह प्रश्न बहुधा उठा करता है कि अङ्गरेज़ों ने राज्य कैसे पाया? तलवार के बल पर या इतर साधनों से? जो यह कहते हैं कि अङ्गरेज़ों को चाहिए कि वे भारतवासियों को स्वराज्य दें और स्वातंत्र्य देने की अपनी विरद के अनुसार भारत में भी काम करें, यहाँ तलवार के बल पर शासन न करें, वे उक्त प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि अङ्गरेज़ों ने भारत को तलवार के ज़ोर से नहीं पाया और उनके इस उत्तर का समर्थन प्रोफ़ेसर सीली आदि इतिहासकार भी करते हैं; परन्तु हमें यह उत्तर प्रायः मान्य नहीं है, क्योंकि अङ्गरेज़ों के राज्य-विस्तार का इतिहास देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रायः आधा राज्य तो उन्होंने प्रत्यक्ष युद्ध करने के पश्चात् जो संधियाँ हुईं उनके अनुसार पाया है और शेष आधा राज्य प्राप्त करने में यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष रीति से तलवार का योग नहीं करना पड़ा तो भी उनकी तलवार के भय का उपयोग अवश्य हुआ है। अंगरेज़ों ने मुग़लों से जो दीवानगीरी की सनद प्राप्त की थी उस सनद के अनुसार अङ्गरेज़ों को पूर्व

में कुछ प्रदेश कारबार करने को मिला और फिर आगे उसपर उन्हींका स्वामित्व हो गया, यह बात ठीक है; परन्तु यह बात भी ठीक है कि अङ्गरेज़ों को मुग़लों से नहीं, तो मुग़लों के निश्चित नवाबों से लड़ना पड़ा था। यदि बक्सर और पलाशी के युद्ध उन्हों ने जीते न होते तो बङ्गाल प्रान्त का राज्य उन्हें मिला न होता। निज़ाम से अङ्गरेज़ों को जो राज्य मिला वह बिना युद्ध किये ही मिला यह भी ठीक है; परन्तु उसके लिए भी अङ्गरेज़ों को अपनी इतनी शक्ति दिखलानी पड़ी कि वे निज़ाम की रक्षा करने योग्य बल रखते हैं और यह दिखलाने पर ही उन्हें निज़ाम से राज्य प्राप्त हुआ। निज़ाम ने उन्हें स्नेही समझकर पारितोषक में नहीं दिया था और न ईश्वरीय लीला दिखाने वाले फ़क़ीर समझकर धर्म में ही दिया था। लार्ड डलहौसी के शासन-काल में वारिस न रहने के कारण बहुत से राज्य अङ्गरेज़ों ने खालसा कर लिये थे; परन्तु अपने आपको अधिराजा अथवा साम्राज्य के स्वामी होने का अधिकारी बतलाये बिना अङ्गरेज़ इन राज्यों को खालसा कैसे कर सके होंगे? अङ्गरेज़ कुछ मराठों की सन्तान नहीं थे जो मराठा राज्य के उत्तराधिकारी हो सके, फिर इस अधिकार को, साम्राज्य-सत्ता के स्वामित्व को तलवार के बल का प्रयोग करने के सिवा किस प्रकार प्राप्त कर सकते थे। यह स्वीकार कर लेने पर कि मैसूर, महाराष्ट्र, उत्तरभारत, बंगाल और पंजाब प्रान्त अङ्गरेज़ों को तलवार ही के बल पर जीतने पड़े और फिर बचे हुए शेष प्रदेश, शान्ति के साधनों से, फिर चाहे उन्हें सन्धि, इकरार, बदला, जागीर, नज़राना, कौलाधिकार, उत्तराधिकार अथवा कपट-प्रयोग

ही क्यों न कहो, पर उन्होंने प्राप्त किये अवश्य। हाँ, यह स्पष्ट दीखता है कि ऐसे प्रदेश बहुत थोड़े थे। सारांश यह कि यही उपपत्ति अधिक ठीक प्रतीत होती है कि अङ्गरेज़ों ने तलवार के बल राज्य प्राप्त किया। प्रोफ़ेसर सीली प्रभृति के कथन का तात्पर्य न समझकर अथवा उसपर पूरा विचार न कर हम प्रायः उसका कुछ का कुछ अर्थ लगाया करते हैं। यह हमारी बड़ी भारी भूल है। प्रोफ़ेसर सीली के कथन का यह तात्पर्य है कि दूसरे देशों में विजय की इच्छा रखनेवाले राजा को जितने झगड़े आदि करने पड़ते हैं अङ्गरेज़ों को भारत में उतने नहीं करने पड़े। उनका कार्य्य बहुत थोड़े प्रयास से सिद्ध हो गया और उसमें भी भारतवासियों का ही विशेष उपयोग हुआ। फिर चाहे इसे भारतवासियों का अङ्गरेज़ों के प्रति प्रेम कहिए या उनकी मूर्खता। भारत में भारतीयों की अङ्गरेज़ी सेना की अपेक्षा अङ्गरेज़ों की सेना सदा कम ही रहती थी। इसके सिवा, अङ्गरेजों ने अपने देश का धन भी लाकर यहाँ ख़र्च नहीं किया था; क्योंकि कम्पनी सरकार की पद्धति पहले से ही राज्य लेने की ओर नहीं थी। ऐसी दशा में भी अङ्गरेज़ों ने राज्य प्राप्त किया। प्रोफ़ेसर सीली ने इसी बात को बहुत महत्व देकर जगत के दूसरे स्थानों पर होने वाले राज्य-संपादन और भारत के अङ्गरेज़ों के राज्य-सम्पादन के अन्तर का विवेचन बहुत सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

अंगरेज़ यदि विलायत से फ़ौज कम लाये थे तो इसका अर्थ यह है कि उन्होंने देशी फ़ौज भी नहीं रखी थी? या विलायत से पैसा नहीं लाये तो यहाँ से पैदा किया हुआ पैसा भी उन्होंने राज्य-प्राप्त करने में ख़र्च नहीं किया? उन्होंने विलायती फ़ौज

और पैसा की सहायता नहीं ली, तो क्या यहाँ से ही पैसा पैदा कर उसीकी सहायता और अधिकांश में यहीं की सेना के बल पर उन्होंने राज्य प्राप्त नहीं किया ? ईस्टइन्डिया कंपनी की राज्य-प्राप्त न करने की इच्छा की बात चाहे कुछ भी हो; पर उसकी अंतिम कृति क्या थी ? उसने राज्य प्राप्त होने पर उसका शासन किया या राज्य नहीं लिया—जिसका तिसका वापिस कर दिया—यही देखना चाहिए।

प्रोफेसर सीली प्रभृति कुछ भी कहें; परन्तु हम यदि विचार करें तो क्या कहें ? यही देखना उचित है। यदि कहा जाय कि "अङ्गरेज़ों ने मराठों का राज्य नहीं जीता" तो फिर इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा कि उन्हें वह राज्य मिला है ? मराठों ने उनके यहाँ गिरवी तो रक्खा ही न था ! अङ्गरेज़ों को मराठों ने न दान में और न इनाम में ही दिया था, फिर उन्हें मिला, तो मिला कैसे ? राज्य कुछ ऐसी चीज़ तो है ही नहीं कि उसके स्वामी को नींद लग जाने पर उसकी चोरी की जा सके और फिर जग जाने पर भी सौ, सौ वर्षों तक चोरी का माल वापिस लेने का उसका स्वामी प्रयत्न ही न करे। सिंधिया, होल्कर, पेशवा, सतारा और नागपुर के भोंसले आदि में से किसी का आधा, किसी का पूरा, किसी का पौन हिस्सा राज्य अङ्गरेज़ों ने लिया सो इन लोगों ने कुछ प्रसन्न होकर अपनी खुशी से तो दिया ही नहीं था और न यही कहा जा सकता है कि राज्य जाने पर ये लोग वैराग्य-वृत्ति से, सौ वर्षों से, सन्तोष-पूर्वक व्यापार करते आ रहे हैं। लिये हुए राज्यों में से अङ्गरेज़ों ने केवल मैसूर और तञ्जावर को ही राज्य वापिस दिया और जिन्हें दिया गया उन्होंने लिया भी; पर जिन्हें नहीं मिला वे मन ही मन में कुढ़ते रहे। यदि

तलवार चलाकर किसी को राज्य प्राप्त करने की आशा होती तो वह प्रयत्न किये बिना कभी न चूकता। परन्तु, यह देखकर कि पूरा लेने के प्रयत्न में कहीं जो कुछ बच रहा है वही न चला जाय उन्होंने कुछ न किया, अथवा यह हुआ हो कि अङ्गरेज़ों की श्रेष्ठ सत्ता देखकर वे जहाँ के तहाँ चुपचाप बैठे रहे। सार यह है कि किसी भी तरह से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अङ्गरेज़ों ने सैनिक-सत्ता के बल पर राज्य प्राप्त नहीं किया और न उसी बल पर उसे आज तक बनाये हुए हैं। यद्यपि यह किसी अंश में ठीक है कि महाराष्ट्र के लोगों के मन में पेशवा और मराठों की राज्य-कार्य-प्रणाली के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हो गया था और अङ्गरेज़ों की व्यवस्था तथा चातुर्य्य के कारण उनसे लोग प्रेम करने लगे थे, तो भी अङ्गरेज़ों ने यदि बाजीराव से राज्य नहीं लिया होता तो प्रजा अपने आप अङ्गरेज़ों को प्रार्थना पत्र देकर राज्य नहीं देती। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि अङ्गरेज़ों ने तलवार के बल राज्य प्राप्त नहीं किया। हाँ, यह कहा जाना उचित है कि अङ्गरेज़ों की तलवार को हमारी निज की सहायता बहुत मिली।

दुःख है कि जिस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि अङ्गरेज़ों ने तलवार के प्रत्यक्ष उपयोग से या उसका भय दिखाकर राज्य प्राप्त नहीं किया उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने दूसरे साधनों से कोई भी राज्य नहीं लिया। सिंधिया, होलकर, पेशवा और भोंसले से अङ्गरेज़ों ने युद्ध किया था; अतः इनसे जो राज्य प्राप्त किया वह राजनीति के सर्वानुमोदित और प्रगट आधार के अनुसार था। परन्तु जिन राज्यों को दत्तक लेने की आज्ञा न दे लावारिस कहकर अङ्गरेज़ों ने खालसा कर लिया उनके

सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अङ्गरेज़ों ने सर्वांश में न्याय ही किया। किन्तु जिन राज्यों से स्नेह और बराबरी के नाते की संधि हो चुकी थी उन्हें लावारिस ठहरा कर खालसा कर लेना एक बड़ा भारी अन्याय था और इसमें किसी प्रकार का संदेह ही नहीं है। अङ्गरेज़ों के इस अन्याय के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण देना बस होगा। यह उदाहरण है सतारा राज्य का। दुर्दैव से इस राज्य के खालसा करने की चर्चा पार्लिमेन्ट तक पहुँच गई थी और इसके सम्बन्ध में अङ्गरेज़ों अङ्गरेज़ों में जो विवाद हुआ उसे सुनने का जगत् को अवसर मिला; परन्तु ऐसे कितने ही राज्य खालसा किये गये थे जिनके सम्बन्ध में जगत् को कुछ भी मालूम न हो सका। अस्तु; सतारा का राज्य मराठाशाही में अग्रणी था; अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार-पूर्वक वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा।

यह प्रसिद्ध है कि सतारा के महाराज का प्रत्यक्ष शासन शाहू महाराज के समय से दिन पर दिन कम होता जा रहा था। दूसरे बाजीराव के समय में तो वे नाममात्र के महाराज रह गये थे और इस स्थिति से उद्धार करने के लिए उनके कर्मचारी आदि प्रयत्न कर रहे थे। खड़की की लड़ाई के चार-छः वर्ष पहले इस प्रयत्न को अङ्गरेज़ों की ओर से उत्तेजना मिलना प्रारंभ हुआ और अंत में आष्टी के युद्ध में अङ्गरेज़ों ने पेशवा का पराभव कर महाराज को पेशवा के पंजे से छुड़ाया और सतारा लाकर फिर उन्हें उनकी गद्दी पर बैठाया। बाजीराव के भागने पर अङ्गरेज़ों ने जो घोषणापत्र प्रकट किया था उसमें बाजीराव पर यह दोषारोपण किया गया था कि

"सतारा के महाराज को क़ैदकर उसने महाराज की बहुत बड़ी अवज्ञा की और उनकी सर्वसत्ता छीन ली" तथा सब सरदारों और जागीरदारों को यह आश्वासन दिया गया था कि "यद्यपि बाजीराव से हमने युद्ध प्रारंभ किया है, तो भी मराठाशाही नष्ट करने की हमारी इच्छा नहीं है, मराठों का राज्य बराबर क़ायम रहेगा"। इस आश्वासन से बहुत से मराठे सरदारों और जागीरदारों को समाधान हुआ और वे लड़ाई से हाथ खींचकर अपने अपने स्थान को चले गये। फिर तारीख़ २५ सितम्बर, १८१९ को अङ्गरेज़ और सतारा के महाराज की संधि हुई। उस संधि में ये शब्द हैं-"सतारा के छत्रपति का खान्दान बहुत दिनों से है; अतः उनके और उनके कुटुम्बियों की शान क़ायम रखने के लिए कुछ राज्य देना उचित है" इसलिए याद्दी में लिखा हुआ राज्य "छत्रपति महाराज को दिया जाता है। इस राज्य का शासन महाराज छत्रपति, उनके पुत्र अथवा वारिस और रेज़ीडन्ट सा० सदा करते रहें"। इसपर महाराज ने यह स्वीकार किया था कि "मैं यह राज्य लेकर सरकार अङ्गरेज़ बहादुर के आश्रय और कहने में सदा रहकर सरकार अङ्गरेज़ बहादुर की सलाह से सब काम करता रहूँगा।" इसके सिवा संधि में पर-राज्य से संबंध न रखने, युद्ध-प्रसंग पर सहायता देने आदि सामान्य क़रार भी महाराज ने किये थे। इस संधि के अनुसार दक्षिण में कृष्णा और वारणा, उत्तर में नीरा और भीमा, पश्चिम में सह्याद्रि और पूर्व में पंढरपुर तथा बीजापुर-इस प्रकार की सीमा से घिरे लगभग १५ लाख वार्षिक की आमदनी का राज्य, महाराज का स्वतंत्रवंश-परंपरा का राज्य कह कर, दिया गया। बीस वर्ष के बाद प्रतापसिंह महाराज

पर कुछ दोषारोपण कर उन्हें बनारस में रक्खा और उनके भाई शहाजी महाराज उर्फ भाऊसाहब से नवीन संधि कर उन्हें गादी पर बैठाया। सन् १८४८ में शाहजी महाराज ने मरने के पहले व्यंकोजी महाराज को गोद लिया। उस समय प्रसिद्ध नीतिज्ञ और भावी गवर्नर सरवार्टन फ्रीअर सतारा के रेज़ीडेन्ट थे। उन्होंने संधि के आधार पर राज-मंडल को बुलाकर और दरबार भरकर व्यंकोजी को गादी पर बैठाया; परंतु कंपनी सरकार के डायरेक्टरों ने यह कहकर कि सरकार की आज्ञा के बिना दत्तक लिया गया है, दत्तक नामंजूर किया और राज्य खालसा कर लिया। यह सरासर अन्याय किया गया; क्योंकि यह राज्य स्वतंत्र था। इसे दत्तक के लिए आज्ञा लेने का नियम लागू नहीं हो सकता था; परंतु राज्य की आमदनी उस समय तीस-पैंतीस लाख तक बढ़ गई थी, अतः कंपनी उसे लेने के लोभ को न रोक सकी। बाजीराव ने युद्ध किया, इसलिए उसे पदच्युत कर उसका राज्य ले लेना उचित कहा जा सकता है; परंतु सतारा के महाराज का निष्पुत्र मरना कुछ अपराध नहीं था। फिर, इस निमित्त के आधार पर राज्य ले लेना उचित नहीं कहा जा सकता और बहुतसे अङ्गरेज़ों ने भी यही कहा है। सतारा के पहले और उस समय के रेज़ीडेन्ट सर बार्टल फ्रीअर, जनरल ब्रिग्स और मि० स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन प्रभृति इसे बहुत बड़ा अन्याय समझते थे और इसीलिए उन्होंने बहुत झगड़ा भी किया था। इस बात का प्रमाण भी कागज़-पत्रों से मिलता है कि द्वितीय बाजीराव का कारबार जिस प्रकार खराब था उस प्रकार सतारा महाराज का नहीं था; अतः राज्य खालसा होने में इस ओर से भी कोई कारण

नहीं था। जब कि अङ्गरेज़ों के मत से सतारा महाराज को क़ैद में रखना, बाजीराव का अपराध था तब मराठाशाही बनाये रखने का वचन दे देने पर और पेशवा को निकाल कर अपना लड़ाई का ख़र्च ले चार करोड़ की आमदनी का सारा राज्य सतारा के महाराज को देने में कौनसी अनुचित बात थी।

यद्यपि यह बात सबको मान्य है कि सतारा के महाराज राज्य का काम-काज न कर सतारा में निश्चेष्ट पड़े रहते थे, तथापि यह कहना कि उन्हें पेशवा ने एक प्रकार से क़ैद सा कर रखा था सबको मान्य नहीं है। यहाँ तक कि दूसरे बाजीराव के समय में भी ऐसी स्थिति नहीं मानी जा सकती। सतारा के रेज़ीडेन्ट जनरल ब्रिग्ज़ ने सब क़ाग़ज़-पत्रों को देखकर अपनी यही सम्मति दी है। सन् १८२७ में जनरल ब्रिग्ज़ ने बंबई-सरकार को जो रिपोर्ट की थी उसमें लिखा था कि :—

Besides these proofs of the respectable treatment experienced by the Rajas of Satara, there is abundant testimony to confirm the fact of pains being taken to prevent the Raja forgetting the dignity of his station. I find that the movement of troops, preparations for war, the favourable results of battles and compaigns were regularly reported to the Raja. Honours were granted by him and the succession to the great hereditary offices and estates received confirmation from the Maharaja alone.

युद्ध अथवा संधि करना, राज्य के अष्टप्रधान से लेकर अन्य सब कर्मचारियों की नियुक्ति कर उन्हें वस्त्र तथा अधिकार-पत्र देना, सरदार लोगों को चढ़ाई करने और राज्य जीतने को भेजना या वापिस बुलाना, इनाम, सन्मान, सरंजाम, नियुक्ति और धर्मादाय देना, वंश-परम्परा के लिए काम देना या वेतन बढ़ाना या घटाना आदि इत्यादि बातों की सनद या कागज़पत्र आदि देने का अधिकार सतारा के महाराज को ही था। यद्यपि इन सब बातों में पेशवा अपनी सम्मति देते तथा सिफ़ारिश करते थे; परन्तु महाराज की इच्छा और स्वीकृति के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता था और जो सिक्के आदि चलाये जाते थे वे उनकी आज्ञा और अधिकार से चलाये जाते थे। पेशवा की ओर से महाराज के पास सब कामों की सुनाई कराने के लिए कोई कारभारी या मंत्री रहा करते थे जो पेशवा की ओर से लिखकर आये हुए काम को महाराज के सन्मुख उपस्थित करते और समझाते थे। उन पर महाराज जो आज्ञा दिया करते थे वही किया जाता था। यद्यपि पेशवा की ओर से जो सम्मति आती थी महाराज उसीके अनुसार आज्ञा देते थे तो भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि महाराज के किसी बात को अस्वीकार करने पर पेशवा ने बलात् उस बात को राजकीय मुहर लगाकर किया हो। पेशवा को यदि ऐसी ज़बरदस्ती करनी होती तो वे सिक्के आदि बनाते ही में क्यों रुकते, पता न ले आये होते, अथवा जो बातें वे अपने आप कर सकते थे स्वयं कर लेते, जैसे कि संधि अपने नाम से करना, अपनी मुहर से सनद आदि देना; पर उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया। स्वतः बाजीराव द्वितीय के वक्त सतारा

से ही आये थे और इतना ही नहीं; किन्तु १८१० में जब सतारा के महाराज पूना आये तब बाजीराव ने उनका स्वागत अपने स्वामी के समान ही किया और वैसाही सन्मान अङ्गरेज़ों से करवाया। बहुतसी छोटी छोटी बातों में भी सतारा के महाराज की आज्ञा आवश्यक होती थी और वह याती पीछे अथवा समय पर ही महाराज की ओर से दी जाती थी। इसके सिवा फ़ौजी और मुल्की अधिकारियों और सेना-सम्बन्धी समाचार, युद्ध-प्रसङ्ग, सन्धि तथा राजकाज की अनेक छोटी छोटी बातों तक का विवरण सतारा के महाराज को बाजीराव द्वितीय के समय तक बताया जाता था। इसका प्रमाण देने से विस्तार होने का भय है; अतः जिन्हें इस सम्बन्ध में प्रमाण देखने की आवश्यकता हो उनसे हमारा निवेदन है कि वे सतारा के महाराज, शहाजी राजा उर्फ़ अप्पासाहब का वह प्रार्थना-पत्र जो इन्होंने महारानी विक्टोरिया को अपना राज्य वापिस देने के लिए विलायत भेजा था देखें। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पेशवा ने कभी अपने को मराठी राज्य का स्वामी माना था। यद्यपि विलायत की सिविल लिस्ट के अनुसार राज्य की आय में से महाराज के निजी ख़र्च के लिए कुछ रक़म नियत कर दी जाती थी, तो भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निजी ख़र्च के लिए और भी स्वतंत्र वृत्ति अथवा रक़म दी जाती थी और महाराज उसे राज्य से देने की आज्ञा दिया करते थे। पूना में पेशवा के कार्यालय में सम्पूर्ण राज-कार्य होने का प्रारम्भ शाहू महाराज के समय से हुआ और उन्हींके समय से विशेषकर उनके पश्चात्-सतारे के महाराज आलस्य अथवा व्यसनों में अपना

समय व्यतीत करने लगे। वे राज-कार्य की कुछ सँभाल नहीं करते थे, इसलिए पूना के कार्यालय में राज्य-कार्य ज़ोर पकड़ते गये, परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि अपने मंत्री के सिरमौर होजाने पर सतारा के किसी भी महाराज ने स्वाभिमानपूर्वक सिर उठाया हो। यदि महाराजा चाहते तो सिन्धिया, होलकर और नागपुर के भोंसले से गुप्त पत्र-व्यवहार कर पेशवा के पंजे से अपनेको छुड़ा सकते थे और यदि पेशवा ने सतारा के महाराज को वास्तव में क़ैद सा कर रखा होता तो मराठा सरदारों ने अपनी मूल राजगद्दी तथा जातीयता के अभिमान के कारण महाराज को मुक्त अवश्य कराया होता; परन्तु जब यह कुछ नहीं किया गया, तब इसका अर्थ यही होता है कि "महाराजाओं का व्यक्तिगत नादानपना और पेशवा के द्वारा पचासों वर्षों में बढ़ा हुआ राज्य-वैभव तथा पूना में राज-कार्य की सुव्यवस्था देखकर इस दशा को मराठा सरदारों ने असन्तोषजनक नहीं समझी होगी और न इसे पलटने के लिये उन्होंने शस्त्र उठाने की ज़रूरत समझी होगी। अङ्गरेज़ों को तो सतारा के महाराज का ही स्वामित्व मान्य था। पेशवा को तो वे सदा नौकर माना करते थे और पेशवा के व्यवहारों को "अधिकार अतिक्रमण" का नाम दिया करते थे; परन्तु जब सतारा के महाराज बाजीराव के हाथ से छूटकर अङ्गरेज़ों के दल में उपकृत स्नेही के नाते से आ मिले तब फिर उन्हें एक स्वतन्त्र नरेश मानने में अङ्गरेज़ों की क्या हानि थी? हानि, यह थी कि यदि उन्हें स्वतंत्र मान लिया जाता तो फिर दत्तक न लेने देने का कारण उपस्थित कर राज्य खालसा करने का सुअवसर नहीं

मिल सकता था । एलफिन्स्टन ने १८१७ में जो प्रसिद्धि-पत्र प्रगट किया था उसमें लिखा था कि--

The Raja of Satara who is now a prisoner in Bajirao's hands will be released and placed at the head of an independent sovereignty of such an extent as may maintain the Raja and his family in comfort and dignity

इन शब्दों से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि सम्पूर्ण मराठी राज्य महाराज को न मिलकर उसमेंसे कुछ खालसा होगा; परन्तु जो कुछ मिलेगा वह (Independent sovereignty) स्वतन्त्र राज्य होगा इन शब्दोंको सत्य करने के लिए महाराज से आगे जाकर जो सन्धि हुई उसमें ऐसी शर्तें करना, अङ्गरेज़ों को उचित नहीं था जिनसे महाराज की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित होती । अन्ततोगत्वा यह उचित भी मान लिया जाय कि पर-राज्यों से पत्र व्यवहार अङ्गरेज़ों के द्वारा करने तथा अपने सरदारों और जागीरदारों की व्यवस्था अङ्गरेज़ों के द्वारा कराने की शर्तें करना गत अनुभव पर से आवश्यक था, तो भी दत्तक की आज्ञा लेने का पचड़ा महाराज के पीछे सदा के लिए लगा देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता और न इसका कोई कारण ही था । पहले ही तो चार करोड़ की आमदनी के राज्य में से महाराज को केवल पन्द्रह लाख की आमदनी का ही राज्य दिया गया और साथ ही किसी प्रकार का झगड़ा-झाँसा न करने के लिए खूब अच्छी तरह से संधि की शर्तों से बाँध लिया । फिर भी उनके पीछे दत्तक का झगड़ा लगाना कैसे न्याय कहा जा सकता है ? नाममात्र का पन्द्रह लाख की आमदनी का

राज्य औरस संतति को मिला तो क्या और दत्तक को मिला तो क्या? उससे अंगरेज़ों को विषाद क्यों होना चाहिए था? प्रसिद्ध-पत्र का "स्वतंत्र राजा" शब्द प्रसिद्ध-पत्र में ही रहा और संधि के समय महाराज "subordinate ally" के समान अप्रधान श्रेणी के राजा माने गये; पर दत्तक का प्रश्न उठने पर वह बात भी गई और महाराज से "Dependent (ally)" आश्रित राजा के समान व्यवहार किया गया। सबसे अधिक दिल्लगी यह कि राज्य खालसा करने के समय महाराज को स्वतंत्र न मानने में यह युक्ति उपस्थित की गई कि "जब तुम पेशवा के समय में ही स्वतंत्र राजा नहीं थे तो हमारे शासन में तुम स्वतंत्र कैसे माने जा सकते हो?" हम पूछते हैं कि अङ्गरेज़ों से स्नेह-संबंध होने पर भी पेशवा के समय की परतंत्रता ही यदि महाराज से चिपटी हुई थी तो फिर अंगरेज़ों ने उनपर उपकार ही क्या किया? १८१८ अथवा १८२६ की संधियों में ऐसे कोई शब्द नहीं हैं जिन से महाराज अङ्गरेज़ों के आश्रित स्वरूप माने जा सकें। पेशवा की अपेक्षा अङ्गरेज़ उस समय कितने ही श्रेष्ठ रहे हों पर वे राजाधिराज नहीं बन पाये थे, किन्तु उस समय उनकी गणना मुग़लों के दीवान, कारभारी अथवा सेनापति के नाते की ही थी। १८३१ तक तो अंगरेज़ सरकार अपने को व्यापारी कम्पनी ही कहती थी। सतारा के महाराज से जो १८१८-२१ में संधियाँ हुईं उन दोनों की अङ्गरेज़ी मुहरों में यही शब्द थे कि 'व्यापारी कम्पनी और दिल्ली के बादशाह के नौकर"। इधर शिवाजी महाराज ने मुग़लों को जीतकर अपना राज्याभिषेक कराया था और उनके स्वतंत्र राज्य के

उत्तराधिकारी महाराज प्रतापसिंह १८३९ में थे। १८३९ तक उसी प्रकार नाता पाला जाता था। यदि क़ानूनी भाषा में कहा जाय तो कहना होगा कि दिल्ली के बादशाह के सम्बन्ध से महाराज का पद श्रेष्ठ और अङ्गरेज़ों का कनिष्ठ था। यदि बादशाह की ओर से मराठों को जो चौथ सरदेशमुखी की सनद मिली थी, उस दृष्टि से देखाजाय तो किन्हीं बातों में दोनों बादशाह के सनदी नौकर होने से दोनों का दर्ज़ा समान ही ठहरता है।

अङ्गरेजों को यह बात विदित थी कि मन्त्री राजा के अधिकार मर्यादित कर सकता है। १८१८ में सतारा के महाराज को जो अधिकार थे उससे अधिक अधिकार इँग्लैण्ड के राजा को भी नहीं हैं। इँग्लैण्ड में भी सब राज-काज मन्त्रि-मंडल राजा के नाम से करता है। बाजीराव अथवा उसके पहले के पेशवाओं की सिफ़ारिशें सहसा नामंज़ूर करने का साहस यदि सतारा के महाराजाओं में नहीं था तो इसका कोई कारण होना चाहिए। क्या इङ्गलैंड के राजा भी सहसा मंत्रि-मंडल की सिफ़ारिश नामन्ज़ूर करने का कभी साहस करते हैं? सारांश यह कि पेशवा के मनमाने काम करने से महाराज की पदभ्रष्टता मानी नहीं जा सकती। इसी प्रकार अङ्गरेज़ों को सूचना दिये बिना पर-राज्यों से सम्बन्ध न करने की शर्त मान लेने से भी महाराज का स्वातंत्र्य नष्ट नहीं माना जा सकता; क्योंकि एक राजा की विजय दूसरे राजा पर होने से विजित राजा को विजयी की कुछ शर्तें माननी ही पड़ती हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके मान लेने से राजा का स्वातन्त्र्य सर्वथा नष्ट हो जाय। इटाली ने कार्थेज को जीता और उस

से अन्याय तथा अत्याचारपूर्ण शर्तें स्वीकार कराईं; पर ऐसा कहीं सुनने में नहीं आया कि उससे उनका राजकीय स्वा-तन्त्र्य नष्ट हो गया हो।

अङ्गरेज़ और सतारा के महाराज में जो सन्धि हुई थी वह युद्ध में जय, पराजय होकर नहीं हुई थी; किन्तु दोनों ओर से स्नेह की ही सन्धि थी। और श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ राज्यों में अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए अमुक अमुक कार्य करने तथा न करने की शर्तों की ऐसी सन्धि हो भी सकती है। १८०६ में काबुल के अमीर ने जो अङ्गरेज़ों से सन्धि की थी उसमें अमीर ने यह स्वीकार किया था कि मैं अपने राज्य में किसी भी फ्रेन्च को न रहने दूँगा तथा १८१५ में नैपाल के राजा ने अङ्गरेज़ों से सन्धि कर यह शर्त की थी कि सिक्किम के राजा से झगड़ा उपस्थित होने पर अङ्गरेज़ों की मध्यस्थता में उसे छुड़ाऊँगा और अङ्गरेज़ इस सम्बन्ध में जो करेंगे वह मान्य करूँगा; परन्तु इन संधियों से अमीर की अथवा नैपाल की स्वतन्त्रता नष्ट होती हुई नहीं सुनी गई और न इन दोनों राजाओं को दत्तक लेने के लिए अङ्गरेज़ों से आज्ञा लेने की कोई आवश्यकता ही हुई। यही बात सतारा के महाराज के सम्बन्ध में भी थी। सतारा के महाराज भले ही निर्बल हो गये हों और अङ्गरेज़ प्रबल हों; पर सन् १८१७ के घोषणापत्र में उन्हें "स्वतन्त्र राजा" ही माना था, जागीरदार नहीं; और यह बात कभी उलट नहीं सकती। एक राजा का राज्य या सैनिक शक्ति दूसरे से कम होने के कारण दूसरे की सहायता पर यदि उसे अवलंबित होना पड़े तो इससे उस राज्य का स्वातंत्र्य नष्ट नहीं हो जाता।

आज यह सिद्ध हो गया है कि यूरोप में निर्बल राजा भी स्वतंत्र राजा हो सकते हैं। इँग्लैण्ड स्वयं अपने मुँह से यह स्वीकार करता है कि निर्बल और आत्मरक्षा करने में असमर्थ राजाओं का स्वातंत्र्य नियमानुसार सिद्ध करने ही के लिए हम इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए हैं। सन् १८१९ की संधि में दोनों ओर के—अङ्गरेज़-मराठों के—सुभीते पर ही प्रायः अधिक ध्यान दिया गया था। सतारा के महाराज को अपनी आत्मरक्षा करना था और अङ्गरेज़ों को मराठे राजाओं को सन्तुष्ट कर भावी युद्ध टालने के साथ साथ अपना ख़र्च और राज्य बचाना था। इसलिए दोनों ने परस्पर मिलकर वह सन्धि की थी। दत्तक की आज्ञा लेने का बन्धन यदि अङ्गरेज़ों को डालना था तो उसी समय अन्य शर्तों के समान इसे स्पष्ट रीति से क्यों नहीं कह दिया? उस समय यदि सतारा के महाराज को स्वतंत्र राज्य अङ्गरेज़ों ने नहीं दिया होता तो कौन उनका हाथ पकड़ता था? परन्तु, जब उन्होंने एक बार—चाहे वह उदार मत से ही क्यों न हो—राज्य दे दिया था तो फिर अङ्गरेज़ों को उसे वापिस लेने का अधिकार नहीं था। सारांश यह कि क़ानून, न्याय, नीति आदि किसी भी दृष्टि से महाराज का राज्य खालसा करना, अन्याय ही सिद्ध होता है। सतारा-राज्य के संबंध में इतने विस्तार-पूर्वक चर्चा करने से हमारा यही प्रयोजन है कि जिस प्रकार यह बात ठीक है कि अङ्गरेज़ों ने भारत में बहुतसा राज्य तलवार के बल प्राप्त किया उसी प्रकार उन्होंने कुछ राज्य, न्याय की ओर न देखते हुए, राज्य लेने की तृष्णा से भी, प्राप्त किया, यह भी असत्य नहीं है। लार्ड डलहौसी के शासन-काल में अङ्गरेज़ों को जो राज्य मिले

उनके लिए प्रायः वही बात कही जा सकती है जो कि सतारा-नरेश को राज्य देने के सम्बन्ध में कही गई है । परन्तु, अब इस विषय पर अधिक विस्तार-पूर्वक चर्चा करने की हमारी इच्छा नहीं है ।

मराठाशाही के नाश होने के वास्तविक और अवास्तविक कारणों का विवेचन और भी अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है, परन्तु विस्तार-भय से यहाँ पर केवल एक और कारण पर विचार कर इस प्रकरण को हम समाप्त करेंगे ।

जाति-भेद और राज्य-नाश ।

कई लोगों का यह भी कहना है कि मराठाशाही की अवनति का एक कारण जाति-भेद भी था; परन्तु हमें इस बात के कहने में बहुत संदेह है । यद्यपि यह ठीक है कि महाराष्ट्र में जाति-भेद था; परन्तु उसकी उत्पत्ति बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय में ही नहीं हुई थी ? वह सनातन-काल से चला आता था और न यह केवल महाराष्ट्र ही में था, वरन भारतवर्ष के दूसरे भागों में भी महाराष्ट्र ही के समान हज़ारों वर्षों से प्रचलित था । ऐसी दशा में उसका दुष्परिणाम अठारहवीं शताब्दि के अन्त में ही हुआ यह नहीं कहा जा सकता । पहले जब मुसलमानों ने महाराष्ट्र का बहुतसा भाग जीत लिया उस समय भी जाति-भेद था; मुग़लों की चढ़ाई के समय में भी था और फिर मराठों ने मुग़लों से राज्य छुड़ाया और शिवाजी महाराज ने नवीन स्वतंत्र राज्य की स्थापना की उस समय भी यह था; शिवाजी के पश्चात् मुग़लों ने जब फिर महाराष्ट्र पर अधिकार किया उस समय भी यह था; राजाराम महाराज

के समय में बीस वर्षों तक बराबर झगड़कर मराठों ने जब स्वातंत्र्य की रक्षा की तब भी वह था। इसके पश्चात् जब सवाई माधवराव के समय में दिल्ली तक मराठी सत्ता हो गई उस समय भी वह मौजूद ही था और अन्त में बाजीराव के समय में जब मराठाशाही का नाश हुआ तब भी वह विद्यमान् था। सारांश यह कि शिवाजी महाराज के दो सौ वर्ष पहले से दो सौ वर्ष पीछे तक जाति-भेद एक ही स्वरूप में महाराष्ट्र में विराजमान था। मुगलों के समय में तो जाति-भेद आड़े नहीं आया; परन्तु अंगरेज़ों के समय में वह आड़े आ गया, इसका प्रमाण क्या?

मुग़लों के समय में जो मराठे और ब्राह्मण कंधे से कंधा मिलाकर उनसे लड़ते थे क्या वे अपने मन और कार्य के कारण आज की दृष्टि से समाज-सुधारक कहे जा सकते हैं? नहीं। जिस समय महाराजा शिवाजी ने महाराष्ट्र-मंडल को मिलाकर मुसलमानों से देश की रक्षा करने की योजना की उस समय उन्होंने जाति-भेद के विरुद्ध कोई व्याख्यान नहीं दिया था। उन्होंने अपने राज्य में केवल गुण की ओर देखा और कर्तव्य-परायण पुरुषों को अपने पास खींच लिया तथा अकर्मण्यों को दूर कर दिया। उनके सम्बन्ध की यह बात प्रसिद्ध ही है। उन्होंने कभी यह भेद नहीं किया कि अमुक ब्राह्मण है और अमुक मराठा है। और ऐसी स्थिति में भी जब कि महाराज शिवाजी, सनातन पद्धति के अनुसार जाति-भेद के कट्टर माननेवाले थे उन्होंने लोगों का चुनाव सद्गुणों के कारण किया, न कि जाति-भेद अथवा समाज-सुधार के द्वेष से। इसी प्रकार पेशवा के समय में भी जाति-भेद मान्य था। फिर भी प्रत्यक्ष राज्य-व्यवहार में

स्वजातीय लोगों की नियुक्ति आदि का व्यवहार कभी नहीं दिखलाया गया; किन्तु राज्य-कल्याण की दृष्टि से ही व्यक्ति का गुणाग्र शासित होता था। बालाजी विश्वनाथ के समय में जिन लोगों की वृद्धि हुई उनमें प्रतिशत पाँच सौ ब्राह्मणेतर लोग ही थे। उस समय की सरंजामी सूची देखने से विदित होता है कि उस समय बड़े बड़े सरंजामदार प्रायः ब्राह्मणेतर सरदार ही थे। पेशवा पर एक यह भी दोष लगाया जाता है कि उन्होंने कोंकणस्थ ब्राह्मणों का बहुत उपकार किया; परन्तु इस दोषारोपण के लिए कुछ भी विशेष आधार नहीं है। बेहरे, फड़के, रास्ते, पटवर्धन, मेहेंदले तथा [illegible] और दूसरे को छोड़ जिसे हम नहीं जानते होंगे और कौन कोंकणस्थ सरदार था? पेशवा के सिवा शेष सब मन्त्रि-गण तथा विंचूरकर पानसे, पुरन्दरे, मुजुमदार, हिंगणे आदि सब सरदार-मण्डली देशस्थ थी। इनके सिवा गोविंदपन्त बुन्देला के समान कराड़े सरदार भी अनेक थे। ले-देकर सिर्फ कर्मचारी ही कोंकणस्थ ब्राह्मण थे। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि पेशवा जातिपक्ष करते थे अथवा उन्होंने कोंकणस्थ ब्राह्मणों का बहुत कल्याण किया था?

यह बात ठीक है कि उच्चपद पर जिस जाति का व्यक्ति होता है उस जाति के लोग धीरे धीरे उसके कार्य-विभाग में थोड़े बहुत भर ही जाते हैं, परन्तु यह नियम केवल कोंकणस्थों के लिए ही लागू नहीं है, बल्कि हिन्दुओं की सब जातियों और यहाँ तक कि मुसलमान, पारसी, अंग्रेज आदि के लिए भी मनुष्य स्वभावतः होने के कारण लागू हो सकता है। आज अंग्रेजी राज्य में भी इसके उदाहरण

जितने चाहो उतने मिलेंगे। यदि किसी एकाध कलेक्टर का सेक्रेटरी या रिश्तेदार, एकप्रभू अथवा सारस्वत जाति का होता है तो थोड़े ही दिनों में कई महत्व के स्थान उसके जातिवालों से भरे हुए पाये जाते हैं। यदि कोई गत कुछ वर्षों के भीतर बम्बई प्रान्त में मुन्सिफ़ों का पद किन किन जातिवालों को दिये गये इसकी सूची प्रकाशित करे तो हमारे उक्त विधान का समर्थन उससे अच्छी तरह हो सकेगा। बम्बई के कर्मचारी-मंडल में इस बात की शिकायत बड़े ज़ोर शोर से है कि बम्बई की म्युनिसिपालिटी तथा ओरियंटल इन्शुरेन्स कंपनी के कार्यालय में पारसी लोग बहुत भर गये हैं। जो बात पार्सियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है वही क्रिश्चियनों के सम्बन्ध में भी लागू है। हेलिबरी कालेज से भारत में जो सिविलियन आते थे उनके सम्बन्ध में विलायत में भी यह शिकायत थी कि प्रायः ठहरे हुए कुछ घरानों के लोग ही भेजे जाते हैं। भारतीय ब्रिटिश शासन के पहले सौ वर्षों का इतिहास यदि देखा जाय तो उसमें प्रायः एक ही उपनाम के एक पर एक आये हुए अधिकारी देखने को मिलेंगे। स्वयं विलायत अथवा अमेरिका में भी यदि जाति-भेद नहीं है तो भी पक्ष-भेद बहुत ज़्यादा है और विलायत में कल तक बहुतसे घरानों में एक ही राजकीय पक्ष बड़ी निष्ठा और अभिमानपूर्ण व्यवहार करता हुआ दिखलाई पड़ता था। सारांश यह है कि चिरपरिचित, आँखों के आगे के, अपने हाथ के और हित-सम्बन्धी तथा काम कर सकनेवाले अपने मनुष्यों को छोड़ कर दूसरे दूर के मनुष्यों को ढूंढकर उन्हें नियत करने की लोकोत्तर निःस्वार्थ भावना, पक्षपात-शून्यता और परोप-

कार-युक्ति आजतक किसी भी राष्ट्र में और कभी भी विशाल रूप में नहीं देखी गई है। पेशवा, कोकणस्थ ब्राह्मणों के जितने घराने उत्तम दशा में लाये उनसे भी यदि अधिक लाये होते तो भी उनका ऐसा करना ऊपर दिखलाये हुए मनुष्य स्वभाव के अनुसार ही होता; परन्तु ऊपर बतला चुके हैं कि पेशवा के हाथ से ऐसा कोई काम नहीं हुआ।

यदि पेशवा पर कोई यह आरोप करे कि उन्होंने अपनी निजी सत्ता की अभिलाषा की तो इस विषय में हम उनका विशेष रीति से समर्थन नहीं करना चाहते; क्योंकि जो बात पेशवा के लिए कही जा सकती है वही ब्राह्मणेतर सरदारों की भी थी। शिवाजी के समय में अष्टप्रधान और सरदारों की नौकरी वंशपरंपरा के नहीं दी गई थी। इसका कारण यह था कि उस समय राज्य का प्रारम्भ काल ही था; तो भी, उनके समय में भी, परंपरा-गत नौकरी की जड़ जम गई थी और आगे आकर यही पद्धति सरदारी में भी लागू हो गई थी। इंग्लैण्ड में आज भी यह पद्धति देखने को मिलती है। वहाँ कायदा-क़ानून बनाने का अधिकार जिन दो सभाओं को है उनमेंसे हाउस आफ़ लार्ड्स में सैकड़ों ऐसे लार्डों ने स्थान रोक रखा है जो न तो प्रजा के द्वारा ही चुने जाते हैं और न जिन्हें राजा ही नियुक्त करते हैं। वे केवल जन्म-सिद्ध अधिकार के बल सैकड़ों वर्षों से उक्त लार्ड सभा में स्थान पाते और कायदे कानून-बनाने के हक़ का उपभोग करते आ रहे हैं।

यह भी कहा जाता है कि जाति-भेद के कारण ही महाराष्ट्र में फूट हुई और अवनति का प्रारंभ हुआ; परन्तु इस कथन के लिए प्रमाण बहुत कम है, क्योंकि

इसके सम्बन्ध में कई उल्टी-सीधी बातें अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध की जा सकती हैं। जाति-भेद के प्रबल होने पर भी जब मराठा शिवाजी महाराज ने चन्द्रराव मोरे सरीखे मराठा सरदार को जान से मारा, अनेक प्रभू घरानों को ऊँचा उठाया और इतने भारी पराक्रम से प्राप्त किया हुआ राज्य ब्राह्मण रामदास के चरणों में अर्पण करने की तत्परता दिखलाई तो फिर जाति-भेद किस तरह दोषी सिद्ध किया जा सकता है। सिंधिया और होलकर के ब्राह्मणेतर होने पर भी दोनों में तीन पीढ़ियों तक द्वेष क्यों रहा? यदि यह कहा जाय कि पेशवा के समय में देशस्थ और कोंकणस्थ का भेद अत्यधिक होगया था तो पेशवा पेशवा में जो झगड़ा हुआ वह तो कोंकणस्थों का ही परस्पर का झगड़ा था;सो क्यों हुआ? हरिपंत फड़के और परशुराम भाऊ ने जो नानाफड़नवीस का पक्ष लिया था वह कोंकण-स्थ के नाते से नहीं लिया था। एक ओर रघुनाथराव और मोरोबादादा;दूसरी ओर माधवराव,नानाफड़णनवीस प्रभृति; इस प्रकार पेशवाई में जो गाँठ पड़ गई थी वह जाति-द्वेष के कारण नहीं पड़ी थी। इसी प्रकार के झगड़े आगे-पीछे सिंधिया, होलकर, आंग्रे, भोंसले, गायकवाड़ आदि के घरानों में भी हुए, पर इनका कारण जाति-भेद नहीं कहा जा सकता। यद्यपि हम यह जानते हैं कि मूल झगड़ों को जाति-भेद के कारण कुछ बल मिला जैसा कि ब्राह्मण और काय-स्थों के झगड़े के कारण उस समय मराठाशाही में असं-तोष फैल गया था परन्तु वे झगड़े सदा रुपये-पैसे तक ही होते थे अर्थात् झगड़ा और फूट का कारण शुद्ध जाति-भेद न होकर अन्य कोई हुआ करता था।

न्यायमूर्ति रानडे ने भी जाति-भेद का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि देशस्थ ब्राह्मणों ने रघुनाथराव का और कोकणस्थ ब्राह्मणों ने नानाफड़नवीस का पक्ष लिया था; परन्तु देशस्थों ने जिस रघुनाथराव का पक्ष लिया था वह रघुनाथराव स्वयं कोकणस्थ ब्राह्मण था। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यह पक्ष जाति-भेद के कारण लिया गया था। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि देशस्थों ने एका कर किसी देशस्थ को या मराठों ने मराठे को पेशवा बनाना चाहा था तो बात दूसरी है। सारांश यह कि जिस प्रकार मराठों की आपसी कलह के प्रमाण बहुत हैं उसी प्रकार यह कलह जाति-भेद अथवा जातीय मत्सर के कारण हुई इसके लिए अधिक प्रमाण नहीं मिलते हैं। किम्बहुना ऐसे ही प्रमाण अधिक प्राप्त हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के सम्बन्ध में लोग जाति-पाँति के भावों को खूँटी पर टाँग देते थे और अपने स्वार्थ के लिए दूसरी जाति के लोगों को अपना लेते थे। उस समय के जाति-भेद के सम्बन्ध में न्याय-मूर्ति रानडे ने जो विधान किया है उसकी अपेक्षा उनका यह दूसरा विधान हमें अधिक ग्राह्य है जो उन्होंने "मराठा सत्ता का उत्कर्ष" नामक पुस्तक के "बीज कैसे बोया गया?" नामक प्रकरण में किया है। यह विधान इस प्रकार है—"हिन्दुओं की फूट के कारण ही भारत में विदेशी लोग घुस सके हैं। हिन्दुओं को व्यवस्थित काम करने का न तो ज्ञान है और न मिलकर काम करने का उन्हें अभ्यास ही है। उन्हें नियमानुसार शांति के साथ काम करने में प्रायः घृणा है और स्वच्छन्दता तथा छोटे बात के बड़े बनकर चलने का

उपदेश उन्हें रुचता ही नहीं है। ऐसी दशा में व्यवस्थित रीति से संगठित सेना के आगे हिन्दुओं की सत्ता यदि नहीं टिक सकी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिवाजी महाराज इस बात का सदा प्रयत्न करते रहे कि हिन्दुओं के ये दोष नष्ट हो जाँय और वे छोटी सी बात से बड़े से बड़े राज-कामों तक में समाज के हित को अपना हित, समाज के उत्कर्ष को अपना उत्कर्ष और समाज के अपमान को अपना अपमान समझने लगें।" श्रीयुक्त रानडे का यह विधान वास्तव में ठीक है, परन्तु शिवाजी महाराज ने जिन मार्गों से प्रयत्न किया उसपर यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि जिस दृष्टि से आज जाति-भेद को नाम रखा जाता है और मराठाशाही की अवनति का कारण माना जाता है उस दृष्टि से जाति-भेद नष्ट करने का प्रयत्न शिवाजी महाराज ने कभी नहीं किया।

शिवाजी महाराज पूर्ण हिन्दू-धर्माभिमानी थे। इसी धर्माभिमान के ज़ोर पर महाराज ने राष्ट्र को जागृत किया था। महाराज को जिस धर्म का अभिमान था वह सनातन-धर्म ही था, और उस सनातनधर्म का मुख्य आधारभूत चातुर्वर्ण्य नहीं था या आचार का मुख्य अंग जाति-भेद भी नहीं था, ऐसा कोई भी प्रमाणिकता पूर्वक कह नहीं सकता। शिवाजी के जाति-भेद नष्ट करने के प्रयत्न करने की बात तो दूर रही, किन्तु उनकी इस प्रकार की भावना के सम्बन्ध में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जाति-भेद की संस्था अथवा व्यवस्था राष्ट्र-हित की दृष्टि से बहुत घातक है और इससे राजकीय प्रगति में बाधा उपस्थित होती है। महाराजा शिवाजी की "गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक" यह विरद थी और

यह चिन्ह उन्होंने सुवर्णाक्षरों से लिख रखी थी; परन्तु इसे उन्होंने उस समय के ब्राह्मणों से डरकर या किसीको फँसाने के लिए नहीं लिखा था। इससे यही सिद्ध होता है कि उनकी जाति-भेद पर श्रद्धा ही थी। ऐसी दशा में भी जब उन्होंने चातुर्वर्ण्य विशिष्ट हिन्दू-धर्म का अभिमान प्रदीप्त कर ब्राह्मण और मराठों को कंधे से कंधा भिड़ा कर प्राण हथेली में ले लड़ने को तैयार किया तो इससे यही प्रयोजन निकलता है कि उन सब को धर्म का ही महत्त्व अधिक मालूम होता था और उनके हृदय पर धर्म की जो छाप बैठी थी उससे उनके कार्य में जाति-भेद अथवा जाति-द्वेष आड़े नहीं आता था। इसमें भी यदि अधिक विवेक-पूर्वक कहा जाय तो कहना होगा कि शिवाजी महाराज ने अपने आसपास के लोगों को व्यक्तिगत हित भूलकर समाजहित के लिए जो तैयार किया सो वे महाराज के समाज-सुधारक होने के कारण तैयार नहीं हुए और न महाराज का सनातनधर्म के अलौकिक तथा दिव्य उपदेष्टा होने के ही कारण हुए, किन्तु महाराज के सर्वसाधारण को आकर्षित करने के गुण तथा शूर, साहसी और बुद्धिमान महाराष्ट्र भक्त अगुआ होने के कारण ही लोगों का ऐसा परिवर्तन हो सका। अतएव उन्नति-अवनति का आधार जाति-भेद पर रखा जाना उचित नहीं है। जिस प्रकार शिवाजी महाराज से पहले अवनति का कारण जाति-भेद था, ऐसा नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उनके बाद की जाति-भेद-दृढ़ बुद्धि को उस काल की अवनति का कारण नहीं कहा जा सकता है।

शहाजी, शिवाजी और शंभाजी—इन तीन पीढ़ियों के स्थित्यन्तर के कारण देखे जाँय तो उनमें धार्मिक विचार किंवा आचार में विशेष अन्तर न मिलकर व्यक्तिगत लोकोत्तर गुणावगुणों का ही अंतर मिलेगा। जो दशा इन तीन पीढ़ियों की थी वही उस समय के सम्पूर्ण मराठी समाज की तीन पीढ़ीयों की थी। यदि महादजी सिंधिया और नाना फड़नवीस के समान नेता उनके पश्चात् एक के बाद एक मराठी राज्य को मिले होते तो आज जाति-भेद के इस निःसार, सूखे विवाद को करने का अवसर ही नहीं मिलता। महादजी दौलतराव अथवा बड़े माधवराव और दूसरे बाजीराव के समय की दशा देखी जाय तो कहना होगा कि इन परिस्थितियों में समाज-स्थिति कारणीभूत न होकर लोकोत्तर व्यक्ति का अभाव ही कारण था। लोकोत्तर व्यक्ति का जन्म होना, अधिकतर सामाजिक स्थिति पर अवलंबित नहीं होता। हां, सामाजिक स्थिति यदि लोकोत्तर व्यक्ति के अनुकूल हुई, तो फिर सोने में सुगंध के समान होता है और उससे विभूति का तेज और अधिक चमकने लगता है। मनुष्यों में से व्यक्तिगत स्वार्थ नष्ट करने के लिए उनके दृष्टि के आगे आदर्श व्यक्ति उत्पन्न होना चाहिए अथवा कम से कम संकीर्ण राष्ट्र-प्रेम की भावना तो भी उदित होना चाहिए। आजतक अनेक बार यह बात सिद्ध हो चुकी है कि महाराष्ट्र में व्यक्तिगत स्वार्थ भूल जाने की पात्रता है; परन्तु महाराष्ट्र में इस पात्रता का उद्दीपन राष्ट्रीय प्रेम-वृद्धि पर अवलंबित न होकर विभूति-पूजन की बुद्धि पर अवलंबित है और आज भी यही हाल है। यहाँ यह कह देना भी उचित प्रतीत होता है कि राष्ट्राभिमान के लिए

जाति-भेद के नाश की आवश्यकता नहीं है। सामुदायिक हित के लिए व्यवस्थित रहना, नियमों के उल्लंघन नहीं करना और राष्ट्रीय हित के शत्रुओं के विरुद्ध सदा आपस के लोगों का अभिमान रखना, जाति-भेद के रहते हुए भी हो सकता है। जाति-भेद के रहते हुए राष्ट्र-हित-बुद्धि उत्पन्न हो सकती है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" में ही दिया जा सकता है। क्योंकि जाति-भेद और धर्म-भेद दोनों समान हैं। तो जब कि यूरोप में धर्म-भेद के कट्टर अनुयायियों में भी राष्ट्र-हित की बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, तो जाति-भेद के रहते हुए उसकी उत्पत्ति होने में क्यों बाधा हो सकेगी। यूरोप में अनेक धर्म-पंथ के लोग एकही राष्ट्र के अभिमानी देखे जाते हैं। स्पेन का रोमन कैथोलिक राजा जब प्रचंड जहाज़ी बेड़े को लेकर इंग्लैण्ड पर चढ़ाई करने आया तब इंग्लैण्ड के प्रोटेस्टेंटों के साथ-साथ रोमन कैथोलिक लोगों ने भी उसका सामना करने की तैयारी की थी। आज भी यूरोप में जो महायुद्ध हो रहा है उसमें प्रोटेस्टेण्ट इंग्लैण्ड, कैथोलिक फ्रान्स और रोमन-कैथोलिक इटली एक-दूसरे से कंधा भिड़ाकर प्रोटेस्टेंट जर्मनी और कैथोलिक आस्ट्रिया से लड़ रहे हैं। मुसलमान धर्मावलंबी अरब लोग इंग्लैण्ड की ओर से लड़ते हैं और तुर्क जर्मनी के पक्ष में हैं।

जाति-भेद रहना उचित है या नहीं इसका तात्त्विक उत्तर कुछ भी हो और स्वयं लेखक भी उसका न होना ही उचित है ऐसा समझने वालों में से एक है, तो भी उसका विचार तात्त्विक न्याय-बुद्धि और व्यवहार इन दो दृष्टियों से करना पड़ता है। न्याय-बुद्धि से देखने पर ईश्वर का किसी एक जाति को सदा के लिए जन्म-सिद्ध श्रेष्ठ अधिकार देना

और दूसरी जाति को सदा के लिए कनिष्ठ स्थिति में रखना कभी न्याय नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहना ईश्वर के न्याय की हँसी करना है। उत्कृष्ट राजा के शासन के समान ईश्वर के शासन में सम्पूर्ण प्राणि-मात्र के उत्क्रान्ति करने का समान अवसर मिले ऐसी इच्छा न करना मानो ईश्वर को अन्यायी मनुष्यों से भी अधिक अन्यायी कहना है। यदि व्यवहार-दृष्टि से देखा जाय जिन्हें तो राजकीय स्वातंत्र्य प्राप्त करने की इच्छा है उन्हें जाति-बंधन शिथिल करने के शास्त्रों को आज तक राजनीतिक क्षेत्र में उपयोग में नहीं लाया हुआ शास्त्र समझ उपयोग में अवश्य लाना चाहिए। चाहे उनके तात्विक विचार कुछ भी हों। हर समय प्रत्येक राष्ट्र की कोई न कोई सर्वश्रेष्ठ अथवा सबों को आकर्षित करनेवाली भावना होती ही है। शिवाजी महाराज के समय में राष्ट्रीय भावना धर्म की अपेक्षा राजनीति पर ही अधिक अवलंबित रहती थी और आज इस बीसवीं शताब्दि में भी हमारी दृष्टि धर्म की अपेक्षा राजनीतिक कार्यों पर ही अधिक है। राष्ट्र-भक्ति की ओषधि जो पहले थी वही अब है। उस समय सनातनधर्म कल्पना के अनुपान में दी जाती थी। परन्तु आज उस कल्पना को और अधिक उदार बनाकर बदली हुई सामाजिक परिस्थिति के अनुपान में देना चाहिए। यह विवेचन वर्तमानकाल के लिए है। परन्तु आज जिसका संबंध सम्पूर्ण जगत् के साम्राज्यों से है उस स्थिति को मन से पहले के काल में संक्रमित कर आज की अड़चनों को ही उस समय की अड़चनें समझना और यह कहना कि जाति-भेद के ही कारण राष्ट्र का नाश हुआ उचित नहीं है।

प्रकरण तीसरा।

मराठाशाही की राज्य-व्यवस्था।

अङ्गरेज़ ग्रंथकारों ने जहाँ-तहाँ मराठों का उल्लेख "चोर लुटेरे और डाकू" के नाम से ही किया है, और यह ठीक भी है। क्योंकि अङ्गरेज़ों को भारत में पहले-पहल मराठे ही बराबरी के प्रतिस्पर्धी मिले थे। फिर भला वे शत्रु के विषय में क्यों अच्छे उद्गार प्रगट करने लगे? और न ऐसा किसीने किया भी है। मराठों की अपेक्षा अंगरेज़ों को लिखने-पढ़ने का अधिक प्रेम था और वे प्रायः इतिहास, प्रबंध, दैनिक कार्य-विवरण (डायरी), टिप्पणियाँ, कैफ़ियत, वर्णन और विवेचन लिखा करते थे। इसलिए अङ्गरेज़ों ने मराठों के संबंध में जितना लिख रखा है उतना मराठों ने अङ्गरेज़ों के संबंध में नहीं लिखा। केवल इतिहासकार और बखरियों ने कहीं कहीं प्रसंगानुसार, बहुत थोड़ा उड़ती हुई दृष्टि से उल्लेख किया है। आजकल अङ्गरेज़ी राज्य होने और अङ्गरेज़ी ग्रंथों के छप जाने के कारण वर्तमान काल के सुशिक्षित लोगों के पढ़ने में यही अङ्गरेज़ों का लिखा हुआ ऐतिहासिक साहित्य आता है। एक ही ओर का साहित्य पढ़ने से बुद्धि में

भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। परंतु गत पच्चीस तीस वर्षों में महाराष्ट्र के इतिहासभक्तों ने ऐतिहासिक संशोधन से जो देश की सेवा की है उससे मराठों के संबंध में इतना सच्चा साहित्य उपलब्ध हुआ है कि यदि कोई मराठों के संबंध में पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहे तो उसे साहित्य का अभाव नहीं खटकेगा। अब हमें ईसपरीति की कथा के अनुसार मनुष्य के द्वारा बनाये हुए सिंह के चित्र पर अवलंबित रहने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि अब सिंह के द्वारा बनाया हुआ मनुष्य का चित्र भी देखने को मिलने लगा है। मराठों ने जो अङ्गरेज़ों का वर्णन लिखा है उसकी अपेक्षा उनके लिखे हुए कागज़पत्रों में उन्होंने अकल्पित रीति से निज का जो चित्र लिख दिया है इस समय उसीसे हमें अधिक काम है। इस चित्र को अच्छी तरह देखने से मराठों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे केवल खीर के मूसल ही थे। लड़ने व लूट करने के सिवा उन्होंने कुछ किया ही नहीं तथा वे शान्ति के सुख जानते ही न थे और न संघटित राज्य-पद्धति के मूल तत्वों के ही जानकार थे।

स्वर्गीय न्यायमूर्ति माधवराव रानडे ने अपनी "मराठी सत्ता का उत्कर्ष" नामक पुस्तक में बड़ी अधिकारयुक्त वाणी से मराठों पर किये गये इन आरोपों का अच्छी तरह खंडन किया है और उनकी योग्यता दूसरे प्रान्तवासियों को समझा दी है। आपने अपने इस कार्य से पूर्वज-ऋण और राष्ट्र-ऋण को बड़ी अच्छी तरह से चुकाया है। ग्रांट डफ नामक अङ्गरेज़ इतिहासकार ने लिखा है कि सह्याद्रि पर्वत के जंगल में जिस प्रकार बबूला उठता है और उसमें सूखे पत्ते इकट्ठे होकर उसमें एक दम आग लग जाती और थोड़ी ही देर में

शान्त भी हो जाती है उसी प्रकार मराठों की सत्ता की दशा थी। श्रीयुक्त रानडे ने इसका उत्तर स्पष्ट और ठीक शब्दों में दिया है और सिद्ध किया है कि ऐसे लोगों ने मराठी इतिहास के मर्म को समझा तक नहीं है। रानडे कहते हैं कि लुटेरों के हाथों से पीढ़ी दर पीढ़ी चलनेवाली बादशाहत की स्थापना कभी नहीं हो सकती या यों कहिये कि देश के एक बड़े भाग के राजकीय नक्शे को मनमाना रंगने और उसे स्थायी बना देने का काम उनसे नहीं हो सकता। इसकेलिए मनुष्यों में किसी विशेष प्रकार के उत्साह की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार क्लाइव और वारन हेस्टिंग्ज़ के समान साहसी अङ्गरेज़ों के हाथों से भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना होने में वास्तविक रीति से परन्तु परोक्ष भाव से धनी, बलवान् और दृढ़-निश्चय ब्रिटिश राज्य की बुद्धि और सत्ता कारणीभूत हुई उसी प्रकार मराठों के सम्बन्ध में भी हुआ। यदि मराठे व्यक्तिशः कितने ही साहसी, शूर और बलवान् होते, परन्तु उनमें राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति नहीं होती और वे मराठा राष्ट्र को कुछ महत्व नहीं देते होते तो उनके द्वारा मराठा साम्राज्य की स्थापना कभी नहीं हो पाती। महाराष्ट्र में वीरों के समान सज्जन शिष्ट पुरुषों की परम्परा भी सैकड़ों वर्षों तक अखण्डित रीति से चली और इस परंपरा को चलाये रखने में मराठा-राष्ट्र की अत्यंत कल्पना ही उपयोगी हुई। राष्ट्र कोई फिनिक्स पक्षी के समान कोई वस्तु तो है नहीं जिसकी चिता में से तुरन्त ही नवीन और सजीव प्राणी उत्पन्न हो जाय और न अलिफलैला अलिफलैला ही है जिनके एक बल-बिंदु से केवल स्वर्गसिद्ध महत्वाकांक्षा की भूमि में सैकड़ों, अलिफलैला-अलिफलैला उत्पन्न हो जायें। मराठों के अन्त में अङ्गरेज़ों

ने जीता। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अङ्गरेज़ मराठों की अपेक्षा अधिक राष्ट्र-प्रेमी, उद्योगी, एकनिष्ठ, तथा भौतिक और नैतिक सामर्थ में श्रेष्ठ थे; परन्तु एक ने दूसरे को जीता, इसलिए एक सर्व-गुण-संपन्न और दूसरा बिलकुल मूर्ख नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष में सैंकड़ों जातियों के रहते हुए जो बात दूसरी जातियाँ न कर सकीं अर्थात् मुगलों का सामना कर उसमें यश प्राप्त करना और सम्पूर्ण देश में स्वराज्य की स्थापना करना वह मराठों ने की और एक इसी बात से उनकी विशिष्टता सिद्ध होती है। जब राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में राष्ट्रीय बुद्धि का बीज बो दिया जाता है अथवा उनके हृदय में राष्ट्रीय स्वाभिमान की मज़बूत और गहरी नींव डाल दी जाती है, तभी ऐसे अलौकिक पराक्रम किये जा सकते हैं जिन्हें राष्ट्रीय राज-करण कह सकते हैं ऐसी विलक्षण प्रकार की जो एक के बाद एक घटनाएँ हुई हैं। उन्हींसे मराठा-राज्य की स्थापना हुई। मानव-शास्त्र की दृष्टि से मराठी राष्ट्र का विचार करने पर कोई भी यह कहने का साहस नहीं कर सकेगा कि सब मराठों के धर्म, भाषा, राजकीय विचार, सामुदायिक महत्वाकांक्षा और ध्येय आदि अंतस्थ हेतु समान नहीं थे। इन्हीं अंतःस्थ हेतुओं और शत्रु, परिस्थिति, संकट आदि ऐक्य हेतुओं की जोड़ मिल जाने से उन का एका और भी अधिक शीघ्र फलप्रद हुआ होगा। उक्त अंतः- स्थ कारणों से ही मराठों को भूतकाल में इतना महत्व प्राप्त हुआ। रा० ब० रानडे ने भविष्य-कथन की भाँकर कहा है कि "समय आने पर भारतवर्ष के राष्ट्रीय तत्वानुसार विभाग होंगे और वे विभाग स्वतंत्र संस्था न बन

कर; बादशाही सत्ता के सामान्य सूत्र में बद्ध होंगे। ऐसे समय में कौन कौनसी बातें साध्य की जा सकेंगी और भविष्य में भारतवर्ष की योग्यता किस प्रकार की होगी, इसका गहरा विचार करनेवाले को मराठी इतिहास से बहुत कुछ सीखना पड़ेगा, और उसमें भी वर्तमान के मराठों को भविष्य के इतिहास में कौनसा कार्य-भार उठाना पड़ेगा, इसके निर्णय के काम में तो मराठों का इतिहास बहुत ही उपयोगी होगा।"

मराठों की सैनिक व्यवस्था।

किसी भी राष्ट्र के इतिहास का अध्ययन करते समय स्वाभाविक रीति से उस राष्ट्र का सैनिक सामर्थ्य और पराक्रम की ओर लक्ष जाता है, क्योंकि राज्य-संपादन और राज्य की रक्षा करने के कार्य में सैनिक शक्ति की आवश्यकता सबसे पहले होती है। राजकाज को यदि शतरंज के खेल की उपमा ठीक बैठती भी हो तो भी सर्वांश में वह घटित नहीं होती क्योंकि शतरंज के खेल में दोनों पक्षों के मान्य नियमों का बंधन होता है; इसलिए एक पक्ष के राजा के मुहरे को प्यादा मार देते समय उस पक्ष का खेलनेवाला कितना ही बलवान् क्यों न हो तो भी दूसरे पक्ष का हाथ पकड़कर यह बात नहीं कह सकता कि तुम मार मत दो; परन्तु राजकार्य में यह बात नहीं है। भले ही कुछ समय तक खेल के नियमानुसार राजकार्य में धर्म न्याय धर्मनीति आदि का अवलंबन किया जाय, परन्तु अन्त में जब कठिन प्रसंग उपस्थित हो जाता है तब सब नियम एक ओर रख दिये जाते हैं और अन्त में जिसकी तलवार उसीका

यही नियम सत्य ठहरता है। नाना फड़नवीस यद्यपि बहुत बड़े राजनीतिज्ञ थे; तथापि जब वास्तविक तलवार से सामना हुआ तब उनकी राजनैतिक चतुरता की तलवार को झुकना ही पड़ता था। महाराज शिवाजी राजनीतिज्ञ थे; परन्तु तलवार बहादुर भी थे। यदि वे तलवार बहादुर नहीं होते तो केवल राजनीति के बल वे स्वराज्य की स्थापना न कर पाते। सारांश यह कि राज्य-स्थापना और रक्षा के कार्य में सैनिक-शक्ति मुख्य है अतः यहाँ पर सब से पहले मराठे की सैनिक शक्ति पर विचार करना उचित है।

पेशवा की तैयार फ़ौज बहुत थोड़ी थी। सरंजामी और तैनाती फ़ौज ही अधिक थी। मराठी राज्य के मुख्य स्वामी सतारे के महाराज थे; परंतु उनके पास भी हज़ार दो हज़ार तैयार फ़ौज कभी रही होगी या नहीं इसमें संदेह ही है। सन्मान की दृष्टि से महाराज के बाद पेशवा थे; परंतु उनके पास भी दश पाँच हजार से अधिक तैयार फ़ौज नहीं थी। पेशवा की मुख्य फ़ौज हुजरात और खास पायगा थी और उसका प्रबंध पेशवा के द्वारा नियुक्त कृपापात्र सरदार के द्वारा होता था।

पेशवा के आश्रय में जो सरदार थे और उन्हें जितनी फ़ौज रखने की आज्ञा दी गई थी तथा उस फ़ौज के खर्च के लिए जो जागीर प्रदान की गई थी उसकी सूची मराठी "काव्येतिहास संग्रह" में प्रकाशित हुई है। उस पर से यहाँ संक्षेप में उन सब का वर्णन दिया जाता है:—

सरदार	सेना	जागीर
मल्हारराव होलकर	२२ हजार सवार	६५ लाख की

आनंदराव पवार	१५ हज़ार स्वार	४१ लाख
पटवर्धन चिंतामणपांडुरंग / गंगाधरगोविंद	३ " "	११ "
पटवर्धन परशुराम रामचंद्र	६॥ " "	६॥ "
पटवर्धन कुरुंदवाडकर	३ सौ "	२॥ "
प्रतिनिधि	५ हज़ार "	१४ "
रास्ते	३ " "	११ "
मुधोलकर घोरपड़े	८ सौ "	४ "
पानसे	तोपखाना	३॥ "
थोरात	५ सौ "	१। "
भापकर	डेढ़ सौ "	६० हज़ार
हरिपंत फड़के	०	१ लाख ८० हज़ार
नाना फड़नवीस	७ सौ	४॥ लाख
त्र्यंबकराव पेठे	१२ सौ	३॥ लाख
अक्कलकोटकर भोसले	१ हज़ार	४॥ "
सुल्तानराव	५ सौ	१॥ "
पुरंदरे	३ सौ	२ " ३२ हज़ार
[illegible]	१॥ "	६० "
[illegible]	०	८० "
सुल्तानी भोसले (खानदेश)	२ सौ	७१ "
मालगांवकर	५ "	१ " ५० "
राजेबहादुर	३ हज़ार	४ "
विठ्ठलराव सुंदर	३ "	१२ "
खंडेराव दरेकर	८ सौ	३ " ५० "
अली बहादुर	१० हज़ार	२२ "

दाभाड़े	५ सौ	१ लाख ३५ हज़ार
रघूजी भोंसले	२५ हज़ार	१ करोड़
गायकवाड़	५ "	७२ लाख
इसलामपुरकर मंत्री	३ सौ	७५ "
आंग्रे (कुलावा)		३ "
सुमंत		२५ "
चिटनवीस		७५ "
अमात्य		१५ "
सचिव		२ लाख ३२ "
राजाज्ञा		३० "

(सब मिलाकर राज मंडल १ करोड़ ८० लाख)

कोल्हापुर का राजमंडल	३ हज़ार	६ लाख २२ हज़ार
बारामती के नायक	२ सौ	१ " ६५ "
भोंसले शंभुमहादेव		४५ हज़ार
चारों जगह के निंबालकर		२ लाख ५७ हज़ार

सर देशमुखी चौथ के संबंधमें घाँसदाना आदि इस प्रकार नियत थाः—

सरंजाम की बाबत	२० लाख
दूसरे सरंजाम	२ लाख

दौलतराव सिंधिया आलीजाह बहादुर *	२२ हज़ार सेना ६० लाख जागीर।
घोरपड़े मंडली (गुत्तीवाले)	१९ " ६२ हज़ार।

*—सिंधिया, होलकर और पँवार को सरंजामी जागीर के सिवा बादशाही राज्य के सूबे दिल्ली और अकबराबाद, आदि सर करने के कारण

शिवाजी और संभाजी के समय में स्वयं छत्रपति महाराज सेना के साथ सेनापति बनकर युद्ध करने जाया करते थे; परन्तु उनके बाद यह पद्धति बन्द हो गई और केवल पेशवा ही जाने लगे और सवाई माधवराव तक यह पद्धति बनी रही। खर्डा के युद्ध क्षेत्र पर स्वयम् सवाई माधवराव गये थे; परन्तु दूसरे बाजीराव के समय में यह पद्धति भी नहीं रही। उसने सिर्फ दूर से लड़ाइयाँ देखीं और वह भी भागने के मौके पर। नाना-फड़नवीस के समान राजनीतिज्ञ को भी लड़ाई पर जाना पड़ता था। जब ब्राह्मणों की यह दशा थी तो मराठों के विषय में तो कहना ही क्या? उन्हें तो मानों जन्मघुट्टी के साथ ही युद्ध-क्षेत्र के प्रेम की घुट्टी पिलाई जाती थी। मराठी सेना में पैदल की अपेक्षा सवार ही अधिक होते थे। पहले से ही उनकी युद्ध-पद्धति इस प्रकार थी जिसमें सवार का उपयोग अधिक होता था। सामना बांधकर या खाई खोद कर लड़ने की उनकी पद्धति नहीं थी। उनके गुरु ने उन्हें कभी धीरे धीरे लड़ना नहीं सिखाया था। यदि शत्रु उनके पकड़ में आ जाता तो उसपर आक्रमण कर उसे घेर लेते थे और एक हल्ले में उसके जितने टुकड़े कर सकते उतने कर डालते थे। यदि शत्रु प्रबल होता तो चारों ओर से उसे घेर लेते थे और उसका रसद आदि सामग्री लूट कर उसे कष्ट पहुंचाते थे। यदि कभी

कागज़ों में से क्रमशः २८, २३, १०, प्रतिशत दिया जाता था और १० प्रतिशत [illegible] देते थे इनके अनुसार [illegible] की तारीख़ [illegible] ५ [illegible] की थी।

विकट प्रसंग आ जाता तो क़िला अथवा गढ़ी जैसे मज़बूत स्थान का आश्रय ले लेते थे। इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लड़ाई की इस प्रकार की पद्धति में सवारों का ही अधिक उपयोग हो सकता था।

मुग़लों तक यह पद्धति उनके लिए विशेष उपयोगी रही; परन्तु जब अंगरेज़ों से लड़ाई का काम पड़ने लगा तब उन्हें पैदल की आवश्यकता मालूम होने लगी। पहले की युद्ध-पद्धति में उन्हें तो परवाने की ज़रूरत नहीं पड़ती थीं; परंतु यूरोपियन से संबंध होने पर उन्हें तो परवाने का प्रबंध भी करना पड़ा। घुड़सवारों के दो भाग होते थे। एक का नाम खास पायगा और दूसरे का शिलेदार था। खास पायगा के सवारों के पास घोड़ा और लड़ाऊ सामान सरकारी होता था और उन्हें मासिक वेतन दिया जाता था। इन सवारों को "बारगीर" कहते थे। शिलेदार सवार अपने निजके घोड़े रखकर नौकरी करते थे। सैनिक पेशा के शिलेदार अपनी तनख्वाह ठहरा लेते थे और बदले में सरकार को वचन देते थे कि काम पड़ने पर इतने घुड़सवार देवेंगे। खासगा पायगा के बारगीर सवारों को केवल उदरपोषणार्थ ८) से १०) रु० तक मासिक वेतन मिलता था और शिलेदारों को निजके पोषण तथा घोड़े के ख़र्च के लिए ३५) रु० मासिक वेतन दिया जाता था। इसके सिवा जब चढ़ाई करने के लिए सेना निकलती थी तब उत्साही तरुण मराठे अपने अपने घोड़ों के साथ सेना में आ मिलते थे। प्रतिष्ठित श्रेणी के होने के कारण तथा उनका घोड़ा आदि पशु अच्छे होने के कारण उन्हें ४५) रु० मासिक तक वेतन दिया जाता था। पिंडारी लोग प्रायः

सवार ही होते थे; परंतु उनका वेतन नियत नहीं रहता था। वे अपना निर्वाह प्रायः लूट पर ही करते थे। ये लोग निरे "पेट-भरू" हुआ करते थे। इन्हें सैनिक वृत्ति का अभिमान नहीं होता था। युद्ध समाप्त होने पर इन्हें लूट करने की आज्ञा दी जाती थी और लूट में से कुछ हिस्सा इन्हें ठहराव के अनुसार, सरकारमें जमा कराना पड़ता था। परंतु ये लोग किसी को प्यारे नहीं थे। काम पड़ने पर ये अपने ही पक्ष का पड़ाव लूटने में नहीं हिचकिचाते थे। इसलिए, होल्कर प्रभृति एक दो सरदारों के सिवा दूसरे लोग इन लोगों को अपने पास नहीं रखते थे। तैयार पैदल सेना अथवा पागा के सवार बारहों महीना नौकरी करते थे; परन्तु सिलेदार आदि की सेना समय पर एकत्रित हो जाती थी। इसके लिए कोई नियत समय का प्रतिबन्ध नहीं होता था। अधिक तो क्या, यह सेना लड़ाई पर जाते समय अपने सुभीते के अनुसार आकर रास्ते में मिला करती थी और यही दशा उसके लौटने के समय रहती थी। उसके वापिस लौटने का कोई नियम नहीं था। दूर [illegible] सेना जाने पर अकेले-दुकेले लौटना संभव नहीं होता था; परंतु ज्योंही सेना लौटती त्योंही कोई आगे और कोई पीछे, घर आया करता था। यद्यपि सेना की हाज़िरी ली जाती थी तथापि सिलेदार फ़ौज के सिवा दूसरों की हाज़िरी नाम मात्र की ही होती थी। अपने सरदार के [illegible] और घोड़ों की संख्या के अनुसार मनुष्य और घोड़े की गिनती होने पर हाज़िरी का काम पूरा हो जाता था। समय पर यदि घोड़ा न हुआ और [illegible] [illegible] ही दिनों [illegible] जाता था। सिलेदार प्रभृति लोगों के घोड़ों के सिवा [illegible] पास नहीं

दिया जाता था। निकम्मे समय में वे प्रायः स्वतन्त्र होते थे। सेना के सब लोगों को, बहुत से उंचे दर्जे के सरदारों तक को, भी रात को पहरेदारी का काम करना पड़ता था। भाला, बनेठी, तलवार, बंदूक आदि चलाने की शिक्षा देने के लिए कोई शाला नहीं होती थी। इसके सम्बन्ध में तो यही कहना उचित होगा कि इन बातों का ज्ञान मराठों में प्रायः स्वाभाविक ही होता था। जिस प्रकार इन शस्त्रास्त्रों के चलाने का काम प्रत्यक्ष सीखे हुओं को आता है उसी प्रकार उन मराठे सैनिकों को भी आता था; परन्तु सैनिक शिक्षा-शाला और व्यवस्थित कवायद के अभाव से उनके सैनिक गुणों में जो उपयुक्तता की कमी थी वह पीछे जाकर उन्हें भी खटकने लगी थी। सेना-भरती के लिए मनुष्य और घोड़ों की कमी मराठों को कभी नहीं पड़ी। शांति के दिनों में घास की बीड़ में घोड़ों को छोड़कर चराने और अच्छी जातिवंत घोडियाँ रखकर अच्छे अच्छे घोड़े पैदा करके घोड़ों की पायगा बनाने का काम शिलेदारों का होता था। उस समय सब जगह घोड़े वालों की पूछ होने से गरीब से लेकर श्रीमंत तक सब को उत्तम घोड़े रखने का प्रायः शौक होता था। अतः महाराष्ट्र में एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि ऐसा एक भी घर नहीं था जिसके दरवाजे पर घोड़ा न हो और एक भी ऐसा मनुष्य नहीं होता था जिसे घोड़े पर चढ़ना न आता हो। भीमा और गोदावरी नदी के तीर पर के टट्टू मज़बूत और लंबी लंबी मंजिलें तय करनेवाले होते थे। दिखाऊ और अच्छे घोड़ों की पैदाइश महाराष्ट्र में नहीं होती थी; परन्तु इस कमी को सौदागर लोग पूरी कर देते थे। क़ाबुली, अफ़गानी, अर्बी, तिब्बती, काठियावाड़ी आदि

अच्छी नसल के घोड़े बेचने को सौदागर लाया करते थे और प्रत्येक धनिक की पायगा में ऐसा एकाध घोड़ा अवश्य होता था।

पैदल सेना में मराठों की अपेक्षा दूसरे ही लोग प्रायः अधिक होते थे। मराठों की सेना में मुसलमान लोग न केवल बिना किसी प्रतिबंध के भर्ती हो सकते थे बल्कि उन्हें उच्च उच्च पद भी दिये जाते थे। आज अङ्गरेज़ी राज्य में तोपखाने की नौकरी भारतवासियों को भूलकर भी नहीं दी जाती; परन्तु उस समय मराठों का सारा तोपखाना मुसलमानों के अधीन था। मुसलमानों के सिवा पैदल सेना में अरब और पुरबिये लोग भी बहुत थे। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसपर से यह कहा जा सके कि दक्षिणी लोगों ने उत्तर भारत में किसी राजा की नौकरी की हो, यहाँ तक कि महादजी सिंधिया ने जब नर्मदा के उत्तर तट पर अपना निवास स्थायी कर लिया तब उन्हें भी आवश्यकतानुसार मराठे सवार मिलना कठिन हो गया। अतः उन्हें अपनी सेना में उत्तर हिन्दुस्तान के लोगों को ही भर्ती करना पड़ा। परन्तु, मराठों को अपनी सेना में भर्ती करने के लिए अरबों, पुरबिये आदि की कमी नहीं पड़ी। इन लोगों की और मराठों की नौकरी की पद्धति में बहुत बड़ा अंतर था। मराठे लोग साधारणतया ईमानदार होते थे। वे इन लोगों के समान लोभी, झगड़ालू, और अभिमानी नहीं होते थे, अर्थात् जहाँ कहीं नौकरी और हुक्म के अनुसार तलवार चलाने का काम पड़ता वहाँ मराठों की अपेक्षा इन्हीं लोगों का उपयोग अधिक होता था। अतः उस समय महाराष्ट्र के सरदार या धनिक साहूकार लोग अनेक संस्थाओं का

खज़ाने पर अरबी या पुरबियों को ही नौकर रखा करते थे। घरद्वार छोड़ कर नौकरी के लिए दूर देश से आने के कारण तथा यहाँ कुछ घर-द्वार का झगड़ा न होनेके कारण वे उन्हें आठो पहर नौकरी के सिवा दूसरा कोई धंधा नहीं होता था; परंतु मराठों के पीछे घरद्वार, खेतीवाड़ी, गाय बैल आदि का कुछ न कुछ पचड़ा लगा ही रहता था। इसलिए मराठा सिपाही कितना भी ईमानदार हुआ तो भी उसकी नौकरी में कुछ न कुछ अंतर पड़ता ही था। इसके सिवा मराठा सिपाही विचारशील और कोमल-हृदय होने के कारण शत्रु को उसका भय जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता था। परदेशी सिपाहियों को नौकरी में रखने की चाल आगे जाकर इतनी बढ़ी कि छोटे, बड़े सबकी नौकरी में मराठे सिपाही का नाम भी नहीं रहा। प्रत्येक कीमत के दरवाज़े पर अरबी सिपाहियों का पहरा रहा करता था। बाजीराव के समय में नाना फड़नवीस जब अपने प्राण लेकर पहाड़ को भागे तो उन्हें अरबों का ही सहारा था। बड़ौदा में तो अरबों का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उनके विद्रोह को नष्टकर उनके चंगुल से गायकवाड़ को छुड़ाने के लिए अंगरेज़ों को बड़ा परिश्रम करना पड़ा था। गायकवाड़ सरकार को यदि ऋण लेना होता तो राज्य की आमदनी की ज़मानत पर क़र्ज़ न मिलकर अरब सरदारों की केवल वचन की ज़ामिन पर क़र्ज़ मिल-जाया करता था। इसे "बहाँदरी" कहते थे। उस समय गायकवाड़ी राज्य में इस पद्धति ने एक विशेष स्थान पा लिया था। बाजीराव द्वितीय के भागने के समय, अन्त में, उत्तर भारत में उनके पास जो सेना बची थी उसमें अरब लोग ही अधिक थे। उस समय

बाजीराव जब अंगरेज़ोंके अधीन होने लगा तो इन लोगोंने अपने चढ़े हुए वेतन के कारण उसे क़ैद कर लिया। यदि जनरल स्मिथ ने बीच बचाव किया होता तो वे बाजीराव के प्राण भी ले लेते। नागपुर के अप्पासाहब भोंसले को पदच्युत करने के बाद शांतिस्थापित करते समय सेना से अरब लोगों को निकालने में बड़ी कठिनाई हुई। आज भी दक्षिण हैदराबाद में साधारण मुसलमानों की अपेक्षा सिपाहियों में अरबों की ही प्रबलता अधिक देखने में आती है। जो बात अरब लोगों की थी वही पुरबियों की भी थी। इन्हें अपने स्वामी पर उलटने में देर नहीं लगती और न इन्हें ईमानदारी से च्युत हो जाने में ही कोई भय था। उस समय मराठी सिपाहियों में पुरबिये ही अधिक थे। नानाफड़नवीस पेशवा के खून करनेवालों में से सुमेरसिंह, खड़गसिंह नामके सैनिकों में से ही थे। आज अंगरेज़ सरकार सिक्खों को ही उच्च सैनिक सेवा में भरती करती है यह हमारा आक्षेप है। मराठाशाही में भी यह आक्षेप कुछ न कुछ अवश्य था; परन्तु इन दोनों की अपेक्षा में भेद है। आज देशी मनुष्य उच्च सैनिक पद बिलकुल पा नहीं सकते हैं; परन्तु उस समय पा सकते थे। मराठे सैनिक जितने मिलते उनसे अधिक जब कि [illegible] नहीं हो सकता था तब परदेशी लोगों को लिया जाता था। पर विदेशियों को इतनी अधिक संख्या में भरती करना एक दृष्टि से हानिकारक ही था।

कवायदी पैदल सेना और तोपखाने का उपयोग [illegible] में पहलेपहल भाऊसाहब की सरदारी में हुआ। कहा जाता है कि मराठों ने पानीपत के युद्ध में [illegible]

की अपनी पद्धति को पहलेपहल छोड़ा और आमने सामने की—छाती से छाती भीड़ा कर लड़ने की बुद्धि सदाशिव राव भाऊ को हुई। इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इस युद्ध में इब्राहीमखाँ की गारदी सेना ने बहुत काम किया। इसके बाद महादजी सिंधिया ने इस क़वायदी सेना की पद्धति को खूब यशस्वी बना दिया। मालूम होता है कि मराठों को यह सुधरी हुई पद्धति पसंद नहीं थी। इसीलिए कवायदी सेना में मराठों की अपेक्षा अन्य जाती के ही लोग अधिक भरती होते थे। सेना में कोई भी रहा हो; परन्तु इस सुधरी हुई सेना के कारण ही महादजी सिंधिया का पाँव टिक सका और दबदबा जमगया। महादजी ने यह विद्या यूरोपियनों से ली। महादजी के उत्तर भारत में होने के कारण उन्हें कंपनी सरकार की कवायदी सेना का प्रभाव देखने का अवसर मिला और उनके महत्वाकांक्षी होने से उन्होंने तुरंत इस पद्धति का उपयोग करना प्रारंभ कर दिया। सुदैव से फ्रेंच सिपाही और नीतिज्ञ डिवाइन का महादजी से सम्बंध हो गया, अतः महादजी के मन के अनुसार काम बन गया और महादजी ने केवल दश पद्रह वर्ष की अवधि में डिवाइन की सहायता से न केवल कवायदी सेना ही तैयार कर ली, किन्तु आगरा में एक छोटे मोटे शास्त्रों को बनानेवाला और तोपों को ढालने वाला कारखाना भी स्थापित कर दिया। बड़गांव और खर्डा के युद्धों में महादजी के तोपखाने का और क़वायदी सेना का बहुत उपयोग हुआ। महादजी के बाद इस पद्धति को होलकर ने अपनाया और यशवंतराव होलकर के अन्तिम दिन अर्थात् उनके पागल होने के पहले

के विनकवायदी सेना तैयार करने और तोप ढालने का कार-
खाना स्थापित करने में व्यतीत हुए अङ्गरेज़ों के समान फ्रेंच
सैनिक भी कवायदी हुआ करते थे। अतः दक्षिण भारत के
निज़ाम प्रभृति की सेना में कवायदी सेना का समावेश हो गया
था। टीपू ने भी इस पद्धति को अंगीकार कर लिया था। १७-
६३ के पहले अंगरेज़ों के साथ फ्रेंचों की जो स्पर्धा और लड़ाई
चल रही थी वह यहां के राजा-रजवाड़ों की सहायता से ही
चल रही थी। इसके बाद यद्यपि फ्रेंचों को राज्य-स्थापन करने
का अपना मनोरथ छोड़ना पड़ा तो भी अङ्गरेज़ों से भारतीय
राजा-रजवाड़ों के द्वारा बदला लेने की उनकी इच्छा बनी
ही रही, अतः अपनी निजकी कवायदी सेना रखने का
समय न रहने पर वे स्वयं यहां के राजाओं के आश्रय में
रहकर उनकी सेना को सुसंगठित और युद्ध-विद्या में निपुण
करने लगे। डिबाइन की सहायता से सिंधिया ने २० हज़ार
पैदल, दस हज़ार नजीब (बन्दूक वाले सिपाही), ३ हज़ार
तुर्क सवार और एक अच्छा खूब बड़ा तोपखाना तैयार
किया। पेशवा के आश्रित सिलेदारों की दशा देखकर
सिंधिया ने अपने सिपाहियों को वेतन पर नगद तनखाह
देने का प्रबंध किया। इन कारणों से प्रायः सम्पूर्ण हिन्दु-
स्तान पर मरहठों का प्रभाव जम गया। आगे चलकर
सिंधिया का सैनिक बल बहुत बढ़ गया था। बादशाह को
गद्दी पर बैठाने की धूमधाम के समय दक्षिण में सिंधिया की
जो सेना थी केवल उसी पर [illegible] रुपये मासिक खर्च होता
था और मुख्यतः इसी खर्च को पूरा करने के लिए पूना के सर-
दारों से विरोध कर बैठना पड़ा, यह प्रसिद्ध ही है।

घुड़सवारों की अपेक्षा पैदल सेना में ख़र्च कम हुआ करता है। आगे जाकर ज्यों ज्यों पैदल सेना का उपयोग अधिक होने लगा त्यों त्यों मराठों को भी बंदूकों की आवश्यकता पड़ने लगी; परन्तु उनके कारखानों में आवश्यकतानुसार बंदूकें तैयार नहीं हो सकती थीं; अतः मराठों और अंगरेज़ों का संबंध होने पर मराठे लोग अङ्गरेज़ों से अन्य वस्तुओं के साथ साथ बंदूकें भी खरीदने लगे। कंपनी भी व्यापार-दृष्टि से उनकी आवश्यकता को पूरी करने लगी। फिर कंपनी और मराठों में युद्ध प्रारंभ हुआ। तब कंपनी ने इस संबंध में अपना हाथ खींच लिया और मराठों की माँग को पूरा करने में आनाकानी होने लगी। अंत में कंपनी ने यह नियम किया कि अपनी सेना की बंदूकें मराठों के हाथ न बेंचकर उनकी नलियाँ तोड़कर विलायत वापिस भेज दी जाया करें। क्योंकि कंपनी के बंदूकों के कारखाने भारत में नहीं थे, किंतु विलायत में थे। अतः, प्रायः विलायत से ही भारत को हथियार पुराये जाते थे। परन्तु कंपनी के कितने ही अधिकारियों को यह नियम पसंद नहीं था। वे कहते थे कि 'कंपनी का बंदूकें बेंचना बंद कर देने से आवश्यकता के कारण मराठे लोग अपने कारखाने खोलेंगे और सिंधिया ने ऐसा कारखाना स्थापित कर उदाहरण भी दिखला दिया है तथा कंपनी के नियम करने पर चोरी से बन्दूकें बिकेंगी ही। अच्छी कीमत मिले पर भला कौन न बेंचेगा? फिर इस तरह चोरी-छिपा के मार्ग से व्यक्तिगत लाभ उठाने देने का अवसर देने की अपेक्षा कंपनी ही अधिक कीमत पर बन्दूकें बेंचकर लाभ क्यों उठावे? इसके सिवा निरुपयोगी बंदूकें लेकर मराठे

लड़ने लगे तो कंपनी का काम बिना परिश्रम के ही सिद्ध होगा । क्योंकि कंपनी के सिपाहियों के पास नवीन और अच्छी बंदूकें होंगी और मराठों के पास टूटी तथा निरुपयोगी होंगी । अतः युद्ध-प्रसंग उपस्थित होने पर कंपनी के सिपाही लंबी मार कर सकेंगे और मराठे नजदीक मार करनेवाली बंदूकें होने के कारण कंपनी के सिपाहियों पर मार न कर सकेंगे तथा निरुपयोगी बन्दूकें विलायत भेजने से जहाज़ों का जो स्थान रुकेगा उसमें दूसरा माल जा सकेगा और मराठों के पास जूनी बन्दूकें हो जावेंगी । इस तरह हमारा दुहरा काम चलेगा । इसके सिवा बंदूकें मिलने पर मराठों की दृष्टि पैदल सेना बढ़ाने पर रहेगी और इस तरह से उनकी सवार-सेना कम होने लगेगी । यद्यपि मराठों की सवार-सेना सुशिक्षित नहीं होती, तो भी बहुत कष्टदायक है । सवारों से लड़ने पर युद्ध आमने-सामने का नहीं होता और बिना कारण बखेड़ा हो जाता है । जब पैदल सेना से लड़ाई होने लगेगी तब कंपनी की पैदल सेना के पास दूर की मार करने वाली उत्तम बंदूकें होने के कारण कम्पनी की जय होने की अधिक सम्भावना है । यूरोप के राष्ट्रों में सन्धि होने पर भी हिन्दुस्तान में दूसरे राष्ट्रों से आवश्यकतानुसार बन्दूकें आवेंगी और टीपू सुलतान तो सदा मँगवाता ही है । दूसरे राष्ट्र भी व्यापार करने से नहीं रुकेंगे । फिर इंग्लैण्ड ही अपना यह व्यापार क्यों छुड़ावे !" कम्पनी कौंसिल की दृष्टि से इस युक्तिवाद में बहुत तथ्य था । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बन्दूकों के सम्बन्ध में मराठे प्रायः दूसरों पर ही अवलम्बित थे ।

मराठों के कारखाने में बन्दूकों के सिवा थोड़ी बहुत तोपें और गोला-बारूद भी बनाई जाती थी। यद्यपि बन्दूक की बारूद का मसाला उत्तम होता था तो भी उसका मिश्रण सशास्त्र न होने के कारण बारूद जैसी चाहिए वैसी उत्तम नहीं होती थी। तोपें भी बहुत थीं, परन्तु उनकी गाड़ियाँ ढीली ढाली टेढ़े और तिरछे चकों की होती थीं। तोपें गोलों के माप की न ढालकर तोपों के मुहरे के अनुसार गोले बनाये जाते थे। गोले ढाले नहीं, गढ़े जाते थे। उन्हें हथौड़े से ठोक ठांककर इच्छानुसार बना लेते थे। इसलिए उनमें गड्ढे रह जाते थे जिससे तोपों का मुँह बहुत जल्दी ख़राब हो जाता था। यद्यपि फौज़ के साथ तोपख़ाना रहा करता था; परन्तु उसपर मराठों का विश्वास बहुत कम होता था। मराठे लोग बाण का भी उपयोग करते थे। बंदूकों का उपयोग पहले सिंधिया ने किया था। मराठों के तो मुख्य शस्त्र भाला और तलवार ही थे।

मराठों की सेना का पड़ाव पड़ जाने पर उसके पास ही बाज़ार लग जाता था और आगे के मुकाम की डुडी इसी बाज़ार में पिटवा देने से उसकी सूचना सब सैनिकों को मिल जाया करती थी। सेना के साथ यदि स्वयं स्वामी की सवारी होती थी तो फिर बहुत वैभव बढ़ जाता था। फिर हाथी, घोड़े, पालकी, म्याने आदि बहुत प्रकार का सामान साथ में होता था। स्वामी के तथा सरदारों के तंबू बहुत सुशोभित रहते थे। मुख्य सरदार के तंबू के आगे द्वार पर प्रतिदिन शाम को दरबार भरता था जिसमें सब सरकारी काम व्यवस्थित रीति से किया जाता था। प्रत्येक मनुष्य सरदार से बड़ी सरलता के साथ मिल

सकता था । उस समय यूरोपियन लोग, मराठों का यह सादा वैभव देखकर बहुत आश्चर्य करते थे । अभिमानी मुग़लों की तुलना में मराठे बहुत ही सादे दीखते थे । शायद इसी सादगी के कारण मराठे पड़ाव उठाकर लंबी लंबी मंज़िलें पार कर सकते थे । वे न तो हवा की परवाह करते थे और न खाने पीने की । ज्वारी के भुट्टे हाथ से मसलकर खाते खाते उनकी निश्चित मंज़िलें पूरी हो जाती थीं । साथ में यदि तोपखाना होता तो उसके सवार गाँव गाँव से बैल लाकर तोपें खींच ले जाते थे । प्रतिदिन प्रायः बारह मील की मंज़िल हुआ करती थी मराठी सेना के साथ रसद नहीं रहती थी । बनिये और व्यापारी बंजारे लोग अपने टांडे और नौकरों को सेना से आगे भेजकर गाँवों से खाद्य-सामग्री ख़रीद करते और मांग के भाव से बाज़ार भरने की तैयारी करते थे । उन्हें सैनिक बाज़ार में ख़ासा मुनाफ़ा लेने की आशा रहती थी ।

मराठों ने कवायदी सेना की पलटनें यूरोपियनों से लीं, अतः उनके साथ साथ यूरोपियन अधिकारी भी उन्हें रखने पड़े । इन अधिकारियों की तनख्वाह बहुत ज़्यादह हुआ करती थी । सिंधिया के आश्रय में रहनेवाला डिबाइन तो एक प्रकार का जागीरदार ही बन गया था । डिबाइन के बाद सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित [illegible] कर्नल पेरन का वेतन पांच हज़ार रुपये मासिक था । एक हज़ार से तीन हज़ार मासिक वेतन तक के और कुछ गोरे अधिकारी थे । वेतन के सिवा इनके पास और भी मिल्कियत हुआ करती थी । होल्कर के यूरोपियन सेनापति और [illegible] के गोरे अधिकारियों को तीन तीन हज़ार रुपये मासिक वेतन

मिलता था। निज़ाम के सेनापति मारेमंड को सेना के ख़र्च के लिए तीस लाख की जागीर थी। अनुमान किया जाता है कि १७९६ के लगभग सब हिन्दू और मुसलमान सरदारों के यहाँ करीब तीन सौ यूरोपियन नौकर थे। इनमें से सात आठ उच्च अधिकारी और लगभग साठ दूसरी श्रेणी के अधिकारी थे। शेष सार्जंट, गोलंदाज़ आदि के काम पर थे। इन में बहुत से फ्रेंच लोग थे और ऐसे भी बहुत लोग थे जो अंगरेज़ कंपनी की सेना से भाग आये थे या जो जहाज़ की नौकरी छोड़कर यहीं रह गये थे। इन लोगों को तीस से ६०) रु० मासिक तक वेतन मिलता था। ये लोग प्रायः छटे हुए बदमाशों में से ही हुआ करते थे; परन्तु सैनिक नौकरी में ऐसे ही लोग प्रायः उपयोग में आते हैं। कवायदी सेना रखने की ओर मराठों का ध्यान जब से खिंचा तब से यूरोपियनों को नौकर रखने की प्रवृत्ति बढ़ी और किन्हीं किन्हीं बातों में सरकार की ओर से मराठों की अपेक्षा गोरे लोगों को अधिक सुभीते मिलने लगे। इन गोरे लोगों के लिए जो माल विलायत से आता था उस पर जकात भी माफ़ होने लगी। दरबार में पालकी में बैठकर आने के लिए स्वयं स्वामी के सिवा दूसरों को आज्ञा नहीं थी; परंतु यूरोपियनों को पालकी पर बैठने की भी स्वतंत्रता होने लगी थी। निज़ाम राज्य में हाथी पर पीला हौदा रखने की मुमानियत थी; परन्तु यूरोपियनों के लिए इस संबन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और गोरे लोगों का सामान लाने ले जाने के लिए बिना विरोध के बेगार मिलने लगी थी।

कहावत है कि स्तुति का एक भेद अनुकरण भी है। इस दृष्टि से देखने पर कहना होगा कि महादजी सिंधिया

जैसे प्रबल और प्रमुख मराठा सेनापति ने जब यूरोपियनों की सैनिक पद्धति का अनुकरण किया और उसके लिए अपने यहाँ अधिक वेतन पर यूरोपियन अधिकारी नौकर रखे तो मानो उन्होंने यह स्वीकार किया कि यूरोपियनों में और उनकी पद्धति में स्तुति के योग्य कुछ बात अवश्य है। इसके सिवा जो मनुष्य दूसरों का अनुकरण करता है उसे उनसे दबना भी पड़ता है। इसीलिए सब बातों में महादजी सिंधिया भी अङ्गरेज़ों से कुछ दबते थे। राजपूत, मुसलमान अथवा किसी की परवा महादजी ने कभी नहीं की। उनका विचार फ्रेंचों की सहायता से अपनी फ़ौजों को पुष्टकर अङ्गरेज़ों से टक्कर लेने का था। इस कार्य में उन्हें थोड़ा बहुत यश भी प्राप्त होने लगा था। अङ्गरेज़ों और महादजी में पहले लड़ाइयाँ जो हुईं उनमें दोनों समान रहे थे। अतः अंगरेज़ों ने, महादजी के जीते जी, उत्तर भारत में, उनका राज्य लेने का प्रयत्न कभी नहीं किया; परन्तु महादजी की मृत्यु के बाद उनके लिए चारों दिशाएँ खुल गईं। महादजी के बाद दौलतराव सिंधिया ने पूना की सत्ता लेने के इरादे से पूना में अपना अड्डा जमा लिया था और वहाँ [illegible] की सलाह से उसने पूना-वासियों को अनेक प्रकार के कष्ट दिये थे। दौलतराव के अतिरिक्त होल्कर भी इसी विचार से पूना गये थे और इन दोनों कारणों को [illegible] की सहायता [illegible] पर मराठाशाही को [illegible] किया था। इस शताब्दी के आरम्भ में भी मराठों के मुख्य सरदारों की सेना अङ्गरेज़ों की अपेक्षा बहुत ज़्यादह थी। एक अंगरेज़ इतिहासकार के अनु-

मान के अनुसार उस समय मराठे सरदारों की सेना इस प्रकार थीः—

	सवार	पैदल	कुल
पेशवा	४०,०००	२०,०००	६०,०००
सिंधिया	६०,०००	३०,०००	९०,०००
भोंसले (नागपुर)	५०,०००	१०,०००	६०,०००
होलकर	३०,०००	४०,०००	३५,०००
गायकवाड़	३०,०००		३०,०००
		कुल	२,७४,०००

इस संख्या को देखते हुए कहना पड़ता है कि मराठों की अपेक्षा अंगरेज़ों की सेना बहुत कम थी।

अठारहवीं शताब्दि में, भारतवर्ष में, काले गारदियों के समान गोरे गारदियों का भी प्रारंभ हुआ था। हाथ में तलवार और अंतरंग में साहस होने पर उस अशान्ति के समय में धन और यश प्राप्त करना कोई कठिन काम नहीं था। जो लोग अपना घर-द्वार छोड़कर हज़ारों कोस से आते हैं वे प्रत्येक प्रकार का अनुभव प्राप्त करने को सदा तैयार रहते हैं। ऐसे लोगों में वे भी होते हैं जो निज देश से अपयश के कारण लापता हो जाते हैं। जिनका साथ केवल साहस ने ही दिया था ऐसे बहुत से लोग काले गारदियों के समान गोरे गारदियों में भी थे। मालूम होता है कि ऐसे लोगों का प्रारंभ दक्षिण भारत से ही हुआ। क्योंकि सारे भारतवर्ष में अपने यहाँ यूरोपियन गारदियों को रखने का सबसे पहला मान शायद, हैदरअली को ही मिलेगा और उसके लड़के टीपू ने तो इस पद्धति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। फिर इनके पड़ोसी निज़ाम ने भी

यही पद्धति ग्रहण की । इन्हें देखकर सदाशिवराव भाऊ पेशवा ने भी गारदी सेना की कल्पना का अनुकरण किया । उत्तर में तो यूरोपियन और फ्रेंचों के अनुकरण से बहुत रजवाड़ों ने अपने यहाँ यूरोपियन गारद रखने की रीति शुरू कर दी थी । सिंधिया के यहाँ डिबाइन के नौकर होने के पहले गोहद के राजा ने मेडो नामक एक फ्रेंच सिपाही की सहायता से कवायदी फौज की एक पल्टन तैयार की थी । इस पल्टन पर सम्मरू नामक एक स्वाइजेन मुख्य अधिकारी और हामरलेग नामक आयरिश दूसरे दर्जे का अधिकारी था । यद्यपि इस प्रकार अनेक लोगों ने यह नवीन पद्धति का प्रारंभ कर दिया था; परन्तु इसे पूर्णता को पहुँचा देने का मान सिंधिया को ही मिला ।

डिबाइन ने यूरोप के अनेक राष्ट्रों की सैनिक नौकरी में भाग लिये थे और फिर इस संबंध में भारत की प्रशंसा सुनकर केवल अपना नसीब आजमाने के लिए वह यहाँ आया था । कंपनी सरकार की मद्रासी सेना की नौकरी से इस्तीफा देने पर वह वारन हेस्टिंग्ज के पास सन् १७८५ में गया । फिर हेस्टिंग्ज ने, बादशाह शाहआलम के दरबार में मराठों का प्रवेश किस तरह हो सकता है और उसकी अंग्रेजों द्वारा क्या असर है या नहीं, इसकी गुप्त जाँच करने के लिए जो ब्राउन को भेजा था उसके साथ डिबाइन भी दिल्ली गया और वहाँ से आगरा गया । उसने [illegible] अहल्ये [illegible] अंग्रेजों पर महादजी सिंधिया की नज़र नहीं जमी थी, अतः पता लगता है कि वारन हेस्टिंग्ज के पास से आने के कारण महादजी ने डिबाइन के स्वागत की ओर [illegible] उसके पर [illegible] । उस समय महादजी

सिंधिया और गोहद के रानों में युद्ध चल रहा था। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि महादजी के दरबार में रहनेवाले अंगरेज़ वकील की ही सलाह से डिवाइन गोहद के राना के पास नौकरी के लिए गया। डिवाइन ने पाँच हज़ार सेना तैयार करने के लिए प्रारंभ ही में एक लाख रुपया माँगे। परन्तु राना ने यह स्वीकार नहीं किया। तब सिंधिया के दूसरे शत्रु जयपुर के राजा के यहाँ दो हज़ार रुपये मासिक वेतन पर वह नियुक्त हुआ। फिर सालबाई की संधि हो जाने से उत्तर भारत में लड़नेवाले राजाओं में भी कामचलाऊ मैत्री हो गई। अतः जयपुर दरबार ने डिवाइन को दश हज़ार रुपये परितोषक में देकर काम से पृथक किया। डिवाइन की थोड़ी सी परीक्षा ले लेने से ही सिंधिया का मत उसके संबंध में अच्छा हो गया था। अतः जयपुर राज्य की नौकरी से छूटते ही सिंधिया ने उसे अपने यहाँ एक हज़ार रुपये मासिक वेतनपर नियुक्त किया और कंपनी सरकार के समान अपनी सेना तैयार कर देने का काम उसे दिया। डिवाइन ने तुरंत ही रंगरूटों को भर्ती किया और कितने ही यूरोपियन (स्काच, डच, फ्रेंच) लोगों को एकत्रित कर अपने हाथ के नीचे उन्हें अफ़सर बनाया तथा राना की नौकरी में रहनेवाले संब्स्टर को बुलाकर उसकी सहायता से आगरे में तोपें और बंदूकें बनाने का कारखाना खोला। डिवाइन की नियुक्ति पहलेपहल सिंधिया के सरदार अप्पा खंडेराव के हाथ के नीचे हुई। पहले तीन वर्षों में डिवाइन की सेना ने कालिंजर, लालसोट, आगरा और चकसाना के युद्ध में अच्छा पराक्रम दिखाया। इससे सिंधिया बहुत संतुष्ट हुए। जिस प्रकार कारीगर के घर

में घुसने पर वह अपना काम बंद नहीं होने देता नया नया काम निकालता ही जाता है इसी प्रकार डिबाइन ने भी किया। वह नवीन नवीन सेना तैयार करने के लिए सिंधिया से कहने लगा; परन्तु सिंधिया ने यह स्वीकार नहीं किया। तब डिबाइन ने इस्तीफा दे दिया। जब उत्तर भारत के जीते हुए प्रदेश की रक्षा के लिए जितने मराठा चाहिए उतने सिंधिया को नहीं मिले तब उन्हें फिर नयी सेना रखनी पड़ी और इसके लिए डिबाइन को लखनऊ से बुलाया। तब डिबाइन ने सोलह पैदल पल्टनों का कम्प और तोपखाना यूरोपियन पद्धति से तैयार किया और उन पर यूरोपियन अधिकारी नियुक्त किये। इस समय सिंधिया की सेना में अनेक जातियों के यूरोपियनों की भरती थी। आगरे के किले में बहुत तोप, बन्दूक आदि विविध सामान भरा गया। उस समय बंदूक भी बहुत सस्ती बनती थी। किंबहुना इन वर्षों में विलायती बंदूक के समान बंदूक तैयार हो जाती थी। सिपाहियों को भी नई तरह की पोशाक दी गई थी। इस नयी व्यवस्था में डिबाइन को जनरल का पद मिला था और उसका वेतन ४०००) से आरंभ होकर दस हजार तक बढ़ाया गया था। कहा जाता है कि डिबाइन ने यह शर्त की थी कि हम अंग्रेज़ों से नहीं लड़ेंगे, परन्तु इस बात में संदेह है कि यह शर्त महादजी ने स्वीकार की होगी। सेना के खर्च के लिए सिंधिया ने पहले डिबाइन को बीस लाख रुपयों की जागीर दी थी। फिर उसकी आमदनी बढ़ते बढ़ते पचीस लाख तक पहुँच गई थी। इस जागीर की व्यवस्था करने में डिबाइन को कुशल [illegible] हुआ। जागीर की आमदनी निश्चित रीति से वसूल

कर सेना का वेतन समय पर चुकाने का काम डिवाइन के जिम्मे किया गया। आमदनी पर दो रुपया सैकड़ा उसे दिया जाता था। इससे वह स्वयं भी बहुत धनवान हो गया था। इस प्रकार सिंधिया की सेना में एक ही समय में कवाइदी और बेकवाइदी ऐसी दो तरह की सेना हो गई थीं। सन् १७६० में कवाइदी सेना ने पाटन का युद्ध जीता उसमें राजपूतों के शौर्य को सिंधिया की व्यवस्था के आगे हाथ टेकना पड़े। इसी सेना के बलपर सिंधिया ने इस्माइलबेग का पराभव किया और इसी साधन से सिंधिया ने मेर्टा की लड़ाई जीती। सन् १७६१ और ६३ में सिंधिया ने और दो कंप तैयार कराये। अंत में कवाइदी सेना तीस हज़ार तक बढ़ गई। नई सेना के संगठन के पहले से ही सेना में एक सौ बीस रुपये से लेकर १४००) मासिक वेतन तक के १७-१८ यूरोपियन निम्न श्रेणी के अधिकारी थे और इन पर तीन हज़ार वेतन का कर्नल, दो हज़ार का लेफ्टनेंट कर्नल, बारह सौ के वेतन का मेजर, चारसौ वेतन का कप्तान और डेढ़ सौ-दो सौ के लेफ्टनेन्ट अधिकारी थे। इन गोरे लोगों को धवल नदी के दक्षिण की ओर नौकरी पर भेजने से ड्योढ़ी तनख्वाह दी जाती थी। वेतन के सिवा दूसरी आमदनी पर ध्यान देने से विदित होता है कि उच्च अधिकारियों के लिए दस लाख रुपये तक संग्रह करना कोई कठिन काम नहीं था। डिवाइन तो एक प्रकार से नवाब ही बन गया था। अंतर इतना ही था कि वह विलासी नवाब न होकर सैनिक नवाब था। इस कवाइदी सेना की बढ़ती से दूसरी मराठी सेनाएँ मन में ईर्षा करने लगी थीं। उत्तर भारत में सिंधिया और होलकर में सिंधिया

का पक्ष कमज़ोर था। जब इसके द्वारा वह होल्कर के बरा-
बर हो गया तब १७९१ में प्रथम तुकोजीराव होल्कर ने
शेवेलियर डुड्रेनेक नाम के फ्रेंच सिपाही को अपने यहाँ रख
कर कवायदी सेना की एक कोर तैयार करना आरंभ किया।
उस समय पूना दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए उत्तर
भारत का सब भार डिबायन को देकर महादजी सिंधिया
निश्चिंत होकर पूना चले आये थे। होल्कर भी पूना ही में
थे। महादजी सिंधिया जिस समय पूना में थे उस समय
राजपूतों से खंडनी वसूल करने के संबंध में होल्कर की
सेना से खटपट हो जाने पर डिबायन ने डुड्रेनेक के हाथ के नीचे
की होल्कर सेना का पराभव किया। तब होल्कर को अपने
राज्य की रक्षा के लिए मालवा वापिस आना पड़ा। सिंधिया
की अनुपस्थिति में सिंधिया का हिंदुस्थान का अधिकार
डिबायन ही को प्राप्त था। १७९४ में महादजी की मृत्यु हुई
और दौलतराव सिंधिया का शासन प्रारंभ हुआ। इसके
पहले ही मेजर पेरन के अधीन सिंधिया की सेना दक्षिण में
आई थी और उसकी सहायता से पेशवा ने खर्डा की
लड़ाई में एक [illegible] के समान विजय प्राप्त की थी। इसका
[illegible] होता है। सिंधिया की यह स्थिति
[illegible] होल्कर ने भी यूरोपियनों का [illegible] बहुत
सी पलटनें खड़ी कीं। [illegible] होल्कर के [illegible]
थे। सिंधिया के उत्तराधिकारियों ने अपने [illegible] हाथ के नीचे
यूरोपियन अधिकारी नियत किये थे। [illegible] ने [illegible]
[illegible] को नियुक्त किया और [illegible] से [illegible]
और [illegible] की। [illegible] के [illegible]
तैयार था। दौलतराव सिंधिया के [illegible], [illegible]

फिलोर्स, कप्तान ब्राउन, रिंग और कर्नल सेलर की नियुक्ति किया। बुंदेलखंड में अलीबहादुर और बराड़ में रघूजी भोंसले ने भी यही क्रम स्वीकार किया। यहाँ तक कि स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने यहाँ मेजर टोन और मेजर वाइड को नौकरी में रखकर अपने आश्रित सरदारों का अनुकरण किया।

बहुत से लोगों का कहना है कि मराठों ने अपनी परोक्ष युद्ध पद्धति छोड़कर जो कवाइदी पद्धति स्वीकार की वह उनके लिए लाभदायक नहीं हुई। एकने कहा है कि 'जिस दिन मराठों ने घोड़े की सवारी छोड़ी उसी दिन उनका राज्य भी चला गया।" कहा जाता है कि दौलतराव सिंधिया और उनके सरदार गोपालराव के बीच में भरे दरबार में इस प्रकार का संवाद हुआ था। गोपालराव पुराने चलन का सिपाही था। उसने कहा—"हमारे जिन बापदादों ने राज्य प्राप्त किया पहले उनका घर घोड़े के खोगीर पर था, फिर वह तंबू में हुआ; पर अब तुम मिट्टी की बेरक बनवा रहे हो। देखना कहीं आगे जाकर सबकी ही मिट्टी न हो जाय।" दौलतराव ने उत्तर दिया—"जब तक मेरी सेना और तोपें हैं तब तक मैं किसीसे नहीं डरता।" इस पर गोपालराव ने कहा—"वे तोपें ही अन्त में तुम्हारा घात करेंगी।" विलायत की पार्लमेन्ट में सर फिलिप फ्रांसिस ने एक बार स्पष्ट रीति से यह कहा था कि "मराठे लोग अब कवाइद सीखने और तोपें ढालने लगे हैं; परन्तु इसीसे उनका नाश होगा। क्योंकि उन्होंने अपनी स्वदेशी पद्धति छोड़ दी है और विदेशी पद्धति कभी किसीको नहीं फली। अब हमें उनसे डरने का कोई कारण

नहीं है।" कहा जाता है कि ड्यूक आव वेलिंगृन का भी यही मत था। एक दृष्टि से यह मत ठीक भी दीखता है; क्योंकि अंगरेज़ों ने होल्करराव सिंधिया का पूरा नाश केवल एक ही वर्ष में कर दिया जब कि अव्यवस्थित हुए पिंडारियों का पूरी रीति से पराभव करने में अंगरेज़ों को ७-८ वर्षों का समय लगा। फिर भी इस मत को सर्वथा ठीक भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि पिंडारियों की अव्यवस्थित पद्धति ही ठीक मानें तो अन्त में उन्हें भी सफलता कहां मिली? यद्यपि मुगलों से लड़ने में मराठों को अपनी पद्धति से सफलता मिली थी; परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वही पद्धति अंगरेज़ों से लड़ने में भी सफलता देती। छापा मारना अथवा दौड़कर भाग जाना यह युद्ध का एक भाग है; परंतु इसी ही से काम पूरा नहीं होता। इसके सिवा इस प्रकार के युद्धों में, आक्रमण की दृष्टि से किलों का जो उपयोग होता था, अंगरेज़ों की तोपों के कारण वह निरुपयोगी हो गया था। १८१७-१८ में किले पर से अंगरेज़ों के विरुद्ध बहुत समय तक मराठे न लड़ सके; इसका कारण अंगरेज़ों की तोपें ही थीं। अतएव शत्रु के युद्ध साधनों के समान अपने साधन बनाने के अतिरिक्त मराठों को सफलता मिलने की संभावना नहीं थी। मराठों को जो असफलता मिली उसका कारण सेना की अव्यवस्था नहीं थी, किंतु मराठे सरदारों की परस्पर फूट [illegible] कारण ही उन्हें असफलता मिली। इसके सिवा कहने में यह कहा जाता है कि सेना चतुरंग हुआ करती है। सेना में यदि एक अंग कमज़ोर हो तो फौज का रक्षा भी इससे [illegible] नहीं है कि सफल युद्धकर्त्ता का दूसरा भाग न रह जाय। तोप,

ने भी कवाइदी सेना रखी थी; परंतु छापा मारने की अपनी पद्धति उसने नहीं छोड़ी थी। टीपू के पराभव का कारण केवल यह था कि सब शत्रु मिलकर उसपर एक साथ टूट पड़े थे। सारांश यह है कि यह कहना उचित नहीं है कि कवाइदी सेना और तोपखाना रखने के कारण मराठों का नाश हुआ। इन युद्ध साधनों के रखने में किसी प्रकार की भूल नहीं थी। भूल सरदारों की थी। महादजी के समय में डिवाइन का जो प्रभाव और उपयोग था वह दौलतराव के समय में नहीं रहा। १८०६ में अर्थात् दौलतराव के शासन काल में टामस प्राउन के "मराठों की छावनी से लिखे हुए पत्र" यदि कोई पढ़े तो उसे मराठों के नाश का कारण सहज रीति से समझ में आजायगा।

मराठों का जहाज़ी बेड़ा।

बम्बई से दक्षिण की ओर कोकन प्रान्त में पेशवाई के अन्त तक अङ्गरेज़ों का शासन प्रारंभ नहीं हुआ था। कोकण पट्टी पर पेशवाई के पहले शिवाजी महाराज का और उन से पहले मुसलमानों का शासन था। कोकन में कभी कोई स्वतंत्र राजा नहीं हुआ। देश के एक अथवा अनेक राजाओं की सत्ता के नीचे कोकन प्रान्त सदा से रहा है; परंतु उसका अधिकारी अन्य प्रदेशों के अधिकारियों से अधिक स्वतंत्र हुआ करता था। क्योंकि उसे सैनिक जहाज़ी बेड़े का अधिकार और काम दिया जाता था, इसलिए इन कामों पर एक प्रकार से वहाँ के अधिकारियों का ही ठेका हो जाता था। सेना के समान जहाज़ी बेड़े का अधिकार एक व्यक्ति या घराने से ले लेना

सहज नहीं है। क्योंकि सिपाही जितनी जल्दी सिखाकर तैयार किया जा सकता है उतनी जल्दी मल्लाही तैयार नहीं किया जा सकता। अधिकारियों के स्वतंत्र होने का दूसरा कारण यह था कि यह प्रदेश पहाड़ी और समुद्र किनारे का होने के कारण इतर प्रदेश के अधिकारियों को वश में करने की अपेक्षा यहाँ के अधिकारी को वश में करने में अधिक परि-श्रम पड़ता था। तीसरा कारण यह था कि यह प्रदेश अधिक उपजाऊ नहीं था, अतः अर्थ-विभाग में इसे कोई महत्व नहीं दिया जाता था। घर में रहने के दरवाजों का जितना प्रबन्ध हम साधारणतया रखते हैं उतना ही प्रबन्ध था। लोग चौकीपहरा सा रखते थे। इसीलिए यहाँ के अधिकारियों में भी महत्वाकांक्षा नहीं होती थी। स्वतंत्र रीति से रहकर सामुद्रिक लूट-पाट से जो आमदनी हो उससे संतुष्ट रहते थे। परन्तु वे अपने कार्य-क्षेत्र में अत्यन्त बलवान होते थे। यद्यपि इतर प्रदेश के समान कोंकण प्रान्त के दुर्गों का वर्णन देने का कोई कारण नहीं है तो भी यह जानने का कोई कारण नहीं है कि समुद्र में लड़ने वाले कोंकण के मल्लाहियों और बन्दूकों से [illegible] कुछ कमी [illegible] की जाती। सामुद्रिक लुटेरों के कारण और [illegible] [illegible] [illegible] है। यदि कोई [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अधिक [illegible] [illegible] होती।

यद्यपि कोंकण [illegible] में [illegible] का व्यापार [illegible] [illegible] में [illegible] था, परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं हुआ। [illegible] के [illegible] और [illegible], [illegible], [illegible]

वालों और सावंतवाड़ीवालों के समान बलवान खला-सियों ने क्रमशः सब किनारे पर अधिकार कर रखा था। इन सबोंमें आंग्रे बहुत प्रबल था और कोकणपट्टी की ओर समुद्र-मार्ग से आने जानेवाले व्यापारियों को उसका बहुत भय लगा रहताथा। कानोजी आंग्रे ने अनेक जल-युद्धों में अंगरेज़ों का पराभव कर उनके कई जहाज़ पकड़े और डुबोये थे। अङ्गरेज़ों ने सन् १६३८ में राजापुर में वखार खोली;परन्तु वह बहुत जल्दी ही उन्हें उठानी पड़ी। शिवाजी के इस वखार के लूटने के बाद अङ्गरेज़ों में बहुत दहशत बढ़ी और जब वे शिवाजी के पराक्रम के कारण कोकणपट्टी में दिन पर दिन मुसलमानी शासन नष्ट होते देखने लगे तब इन्हें केवल सूरत को संभालने की चिंता हुई। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् वहां फिर मुसलमानी शासन होने लगा था, परन्तु प्रत्यक्ष शासन मुग़लों की ओर से शामल हबशी और मराठों की ओर से आंग्रे धुलप का था। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के पश्चात् कोकणपट्टी से मुसलमानी शासन सदा के लिए नष्ट हो गया। यद्यपि उस समय शिद्दी और हबशी मराठों से झगड़ते और उन्हें त्रास देते थे; परन्तु वे मुसलमानों की ओर से न झगड़कर स्वयं अपने को राजा मानकर झगड़ा करते थे। अंगरेज़ों को तो थोड़ा बहुत लाभ हुआ वह इस झगड़े से ही हुआ। वे बीच बीच में मराठों की सहायता से पोर्तुगीज़ों से और शिद्दी की सहायता से मराठों से लड़कर अपनी रक्षा का उपाय करते थे।

मराठी जहाज़ी सैनिक बेड़े की स्थापना सरकारी रीति से छत्रपति शिवाजी महाराज के समय में हुई। जब सन् १६-६१ में जंजीरा पर अधिकार नहीं हुआ तब शिवाजी ने समुद्र

की ओर से उसे घेरने का विचार किया। उस समय सिद्दियों के पास जहाज़ होने के कारण वे समुद्र-मार्ग से अन्न सामग्री ला सकते थे। इस मार्ग को बंद करने के उद्देश्य से महाराज ने अपना स्वतंत्र जहाज़ी बेड़ा तैयार करने की आज्ञा दी।

जहाज़ी बेड़ा तैयार हो जाने पर महाराज ने उसके द्वारा धीरे धीरे कोंकणप्रान्त के सामुद्रिक बंदरों पर अधिकार करना प्रारंभ किया और सामुद्रिक किनारे का अच्छी तरह निरीक्षण कर मौक़े के स्थान ढूंढ कर वहाँ जंजीरे (पानी में तयार किये गये क़िले) बनवाना शुरू किया। सन् १६६४ में वाड़ी के सावंतों पर महाराज ने चढ़ाई की और उनका बहुत सा प्रान्त छीन लिया। इसी समय महाराज से सावंत के सामुद्रिक सरदार रामदळवी और नानाजी सावंत आकर मिले, जिन्हें महाराज ने अपने बेड़े की जहाज़ी सेना का नायक सूबेदार नियत किया। मालवन का सिंधु-दुर्ग नामक क़िला सन् १६६४-६५ में महाराज ने बनवाना शुरू किया और उसे जहाज़ी बेड़े का मुख्य स्थान बनाना निश्चित किया, तथा कुलाबा, सुवर्ण दुर्ग और विजय दुर्ग को सुरक्षित कर वहाँ जहाज़ बनवाने का काम प्रारंभ किया। ये सब क़िले मराठी सैनिक जहाज़ी बेड़े के मुख्य स्थान थे।

मराठों का जहाज़ी सैनिक बेड़ा तैयार हो जाने पर सन् १६६५ में कोंकण किनारे पर मराठों और फिरंगियों में युद्ध होना प्रारंभ हुआ। मराठों के जहाज़ी बेड़े की शक्ति देखकर पोर्तुगीज़, सिद्दी और अंगरेज़ों को भय होने लगा। १६६५ में स्वयं शिवाजी महाराज, अपने बेड़े के द्वारा कारवार तक गये और वहाँ तक का समुद्र-किनारा अपने अधिकार में कर लिया। कारवार के अंगरेज़ व्यापारियों ने लिखा है कि

शिवाजी की इस चढ़ाई में उनके साथ ८५ " फ्रिगेट्स " अर्थात् ३० से १५० टन वजन के और एक बादबान के छोटे जहाज़ थे और तीन " शिप्स " अर्थात् तीन बादबान के तीन बड़े जहाज़ थे। सन् १६७० में जब शिवाजी ने ज़ंजीरा पर सब शक्ति इकट्ठी कर आखिरी धावा किया और शिद्दी का पराभव करने का निश्चय किया, उस समय महाराज का जहाज़ी बेड़ा बहुत बढ़ गया था। उस समय उनके बेड़े में १६० जहाज़ हो गये थे। इसी वर्ष मराठों और पोर्तुगीज़ों में सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसमें पोर्तुगीज़ों ने मराठों के बारह छोटे जहाज़ छीन लिये; परंतु दमण के पास मराठों ने पोर्तुगीज़ों का पराभव किया और उनका एक बड़ा जहाज़ छीन लिया।

१६७९ में शिवाजी ने अपनी सामुद्रिक सेना के सेनापति दौलतखाँ के द्वारा खाँदेरी द्वीप पर चढ़ाई कर उस द्वीप पर अधिकार कर लिया। इस द्वीप पर अंगरेज़ों और पोर्तुगीज़ों की दृष्टि थी। अतएव शिवाजी के जहाज़ी बेड़े को जंजीरा की ओर जाते समय इन दोनों ने रोका और बड़ी मुठभेड़ हुई। आर्म नामक इतिहासकार ने लिखा है कि इस समय अंगरेज़ों की अपेक्षा मराठों के जहाज़ों की और बल्लियों की रचना उत्तम थी। शिवाजी के जहाज़ी बेड़े का मुख्य उद्देश्य कोकन किनारे को जीतकर शत्रुओं से उसकी रक्षा करना था और जजीरा टापू छोड़कर अन्य स्थानों में यह उद्देश्य सफल भी हुआ।

सारी कोकनपट्टी पर अधिकार हो जाने के बाद जहाज़ी बेड़े के सुभीते के लिए महाराज शिवाजी ने कुलाबा, उंदेरी, अंजनवेल प्रभृति तेरह जंजीरे (पानी में के क़िले) बनवाये।

ये क़िले बनवाने से उन का प्रयोजन मराठों की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाकर किनारे पर कब्ज़ा करके मज़बूत करने का था। महाराज के शासन-काल में उनके बनवाये हुए क़िलों में से सिंधुदुर्ग क़िला मराठी जहाज़ी बेड़े का मुख्य स्थान था और मालवण के पास पद्मदुर्ग नामक जो क़िला है वहाँ जहाज़ बनाने का कारख़ाना था। विजयदुर्ग और कुलाबे में लड़ाऊ जहाज़ों की तोपें और गोला-बारूद की कोठी थी। समुद्र-किनारे पर रहने वाले कोली, भंडारी आदि व्यवसायी मल्लाहियों को वश में कर महाराज ने उन्हें अपनी नाविक सेना में भर्ती कर लिया था। टयलर साहब ने लिखा है कि "यह अच्छा हुआ कि शिवाजी मल्लाह नहीं था। नहीं तो, जिस तरह शिवाजी ने पृथ्वी का कुछ भाग शत्रु-हीन कर दिया था, उसी प्रकार समुद्र किनारा भी किया होता"। नैर्न साहब ने कोंकण के इतिहास में यह मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि "उस समय के समुद्र-किनारे के मुसलमान या फ़िरंगी सत्ताधिकारियों में शिवाजी से बढ़ कर दूसरे की राजनीति-क्षमता नहीं थी।"

जंजीरा का सिद्दी उन्मत्त हो गया था। शिवाजी महाराज के समय में सिद्दी इसका पराभव नहीं कर सके थे, क्योंकि उसे अंग्रेज़ों और पोर्तुगीज़ों की गुप्त सहायता मिलती थी। संभाजी ने सिद्दी पर चढ़ाई कर जंजीरा हस्तगत करने का संकल्प किया, परन्तु वे सफल न हो सके। इधर गोआपुर में मराठों का जो आतंक बैठा था उसने पोर्तु-गीज़ों पर अपना अच्छा दबदबा जमाकर उनसे कर आदि पाने शुरू किये थे। आगे चलकर [illegible] मे

लिखा है कि मराठों का केवल राजापुर का जहाज़ी बेड़ा, गोवा के पोर्तुगीज़ों से बड़ा था । संभाजी के शासनकाल में हब्शियों और अङ्गरेज़ों पर जो दो सामुद्रिक चढ़ाइयाँ की गईं उनमें मराठों के जहाज़ी बेड़े के पराभव का तेज अधिक प्रगट नहीं हुआ । संभाजी के बाद जिस प्रकार धनाजी जाधव और संताजी घोरपड़े नामक महावीरों ने अपना पराक्रम दिखाकर यवन शत्रुओं से स्वदेश की रक्षा की और मराठा राज्य को विपत्ति से मुक्त किया, इसी प्रकार जिसने समुद्र-किनारे पर अङ्गरेज़ फिरंगी, डच, शिद्दी आदि स्वसत्ता स्थापन करने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले विदेशियों का पराभव कर मराठी जहाज़ी बेड़े को फिर बलवान बनाया और मराठों के सामुद्रिक युद्धों में अलौकिक शौर्य प्रगटकर सबको चकित कर दिया उस कान्होजी आंग्रे का नाम मराठी इतिहास में चिरकाल तक चमकता रहेगा, इसमें संदेश नहीं है । यह कहनेमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है कि शिवाजी के बाद कोंकन किनारे पर विदेशियों के पाँव न जमने देने में जिस किसीने वीरता की पराकाष्ठा दिखाई है वह कान्होजी आंग्रे है ।

विदेशी इतिहासकारों ने कान्होजी आंग्रे को सामुद्रिक डाँकूओं के नायक के नाम से उल्लिखित किया है ; परन्तु वास्तव में वह उन लोगों का नायक न होकर मराठी जहाज़ी बेड़े का पुनरुद्धारक था । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि कान्होजी आंग्रे सरीखा सामुद्रिक युद्ध-विद्या-विशारद, अद्वितीय पराक्रमी और अटूट साहसी पुरुष राजाराम महाराज के शासन-काल में उत्पन्न न हुआ होता, तो उस

समय कैसे विकट राजकीय प्रसंग में समुद्र-किनारे पर से मराठों का अधिकार नष्ट होगया होता ।

कान्होजी ने मराठों के जहाज़ी सैनिक बेड़े का बहुत कुछ सुधार किया और उसे सुदृढ़ बना दिया । शिवाजी महाराज के शासन-काल की अपेक्षा कान्होजी के समय का मराठी जहाज़ी बेड़ा, अधिक प्रबल और अजेय हो गया था । क्योंकि शिवाजी को जल और स्थल दोनों प्रदेशों पर सत्ता स्थापित करना था, इसलिए उनका ध्यान दोनों ओर रहता था; परन्तु कान्होजी ने केवल समुद्र किनारे को ही अपने अधिकार में लिया था । अतः उनकी सम्पूर्ण शक्ति जहाज़ी बेड़े के सुधार करने और उसकी वृद्धि करने में व्यय होती थी । आंग्रे ने थोड़े ही वर्षों में मराठी जहाज़ी बेड़े का सुधारकर लड़ाऊ जहाज़ों की और सामुद्रिक सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी । जहाज़ों पर लड़नेवाले और जहाज़ चलानेवाले लोगों को अच्छी तरह शिक्षा देकर उन्हें समुद्र-युद्ध के कार्य में निष्णात बना दिया । सन् १६९० से सन् १७५६ तक मराठों का जहाज़ी बेड़ा आंग्रे घराने के ही अधिकार में रहा ।

सन् १७१८ में अंग्रेज़, फिरंगी और हबशियों ने मिलकर प्रबल कान्होजी आंग्रे की शक्ति तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु कान्होजी ने अपने जहाज़ी बेड़े के बल पर सबों को अपने दबाव में रखने का प्रयत्न किया और उनके आक्रमण से सफल होकर उसका प्रतिकार किया । अंग्रेज़ों ने फिरंगी और हबशियों ने संधि कर उसका स्वीकार किया । इस तरह कान्होजी ने मराठों की सत्ता और प्रभाव कोंकण में स्थिर रखा ।

कान्होजी ने विजय-दुर्ग को अपने जहाज़ी बेड़े का मुख्य स्थान नियत किया और बंदरों के क़िलों की तटबंदी कर उनपर भी जहाज़ी बेड़े का सुदृढ़ प्रबंध किया। बंबई से लेकर गोवा तक उसने एक भी खाड़ी, एक भी बंदर और एक भी नदी के मुँह को बिना तटबंदी किये और जहाज़ी नाका बनाये नहीं छोड़ा।

अंगरेज़ ग्रंथकारों ने कान्होजी के जहाज़ी बेड़े का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि कान्होजी का बेड़ा बहुत बड़ा था। उसके बड़े जहाज़ों के दो अथवा तीन बादबान होते थे। जिन जहाज़ों के तीन बादबान होते थे उनकी शक्ति तीन सौ टन वज़न ढोने की होती थी। बाक़ी सब जहाज़ १५० से दो सौ टन वजन की शक्ति के होते थे। भूमध्य समुद्र के जहाज़ों के समान उसके जहाज़ों की नोक बहुत तीखी होती थी और उस पर मंजिलें रहती थीं। बड़े जहाज़ों पर छह से नौ पौंड का गोला मारनेवाली तोपें सजी हुई रहती थीं। सन् १७१६ में अंगरेज़ी बेड़े में ३२ तोपों का एक बड़ा जहाज़ २० से २८ तोपों के ४ और ५ से १२ तोपों के २० जहाज़ थे। ठीक इसी समय कान्होजी के बेड़े में केवल १६ से ३० तोपों के दस और ४ से १० तोपों के ५० जहाज़ थे। तब भी कान्होजी ने १७१६ में ईष्ट इंडिया कंपनी के "प्रेसीडेन्ट" नामक जहाज़ से लड़कर उस जहाज़ को नष्ट कर दिया; और १७१७ में "सक्सेस" नामक जहाज़ लड़कर छीन लिया। सन् १७२२ में अङ्गरेज़ और पोर्तुगीज़ों ने मिलकर कुलाबा पर चढ़ाई की; परन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर दो वर्ष बाद डच लोगों के ३० से ५० तोपों वाले ७ प्रचंड जहाज़ों ने विजयदुर्ग पर आक्रमण किया;

परन्तु वे भी छिन्न-भिन्न होकर लौट गये। इस तरह आंग्रि
के आरमारी बेड़े की शक्ति का प्रभाव विदेशियों पर अच्छा
जम गया। अतः उनके एक भी व्यापारी जहाज़ का लड़ाऊ
जहाज़ की सहायता के बिना आना-जाना बंद हो गया।
र्मो' नामक इतिहासकार ने लिखा है कि "जिस प्रकार भूम-
ध्य सागर में आल्जीरियन नामक डाकू का नाम सुनते ही
व्यापारी थर थर काँप उठते थे, उसी प्रकार सामुद्रिक शक्ति-
संपन्न इस मराठावीर का नाम सुनकर अङ्गरेज़ व्यापारियों
के होश उड़ जाते थे। फिर जब सन् १७२७-२८ में आंग्रे ने
अङ्गरेज़ों के दो जहाज़ पकड़कर अंगरेज़ों की हानि की
तब उन्होंने पार्तुगीज़ों से संधि कर उनसे सहायता
लेने का निश्चय किया। क्योंकि पार्तुगीज़ भी आंग्रे के
समान सामुद्रिक युद्ध में निष्णात थे। सन् १७३१ में कान्हो-
जी की मृत्यु हो गई। इसके पहले बम्बई के अङ्गरेज़ गवर्नर
ने लन्दनवालों से सैनिक अथवा जहाज़ मँगाने की इच्छा से
कान्होजी की शिकायत करने का प्रयत्न किया, परन्तु
उस समय कान्होजी ने जो उत्तर लिखा उससे विदित होता
है कि वह बहुत बड़ा स्वाभिमानी और चतुर था। बम्बई के
गवर्नर ने लिखा था कि "हमारी तुम्हारी व्यापार का
नाहक बंद कर रहे हो। तुम तो दूसरे का माल लेना चाहते
हो और यह काम निन्दाजनक बात है। इस प्रकार का व्य-
वहार एक प्रकार का डाकूपन है। तुम्हारा इस प्रकार का
व्यवहार बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। तुमने यदि पहले से
ही व्यापार चलाया होता और व्यापारियों पर कृपा रखी
होती तो आज तुम्हारे अधिकार के बंदरों की बहुत उन्नति
हुई होती और सूरत बन्दर से भी तुम्हारे बंदर बढ़ जाते।

साथ ही तुम्हारी कीर्ति भी सर्वत्र फैल गई होती। ये बातें सरल रीति से व्यापार-वृद्धि किये विना नहीं होतीं।" इसके लिखने के बाद फिर संधि करने के संबंध में गवर्नर ने लिखा था। इसका उत्तर कान्होंजी ने बड़ी चतुराई के साथ दिया था। कान्होंजी ने लिखा था कि "तुम्हारा लिखना प्रशंसनीय है। तुमने लिखा कि आज तक के तुम्हारे और हमारे बीच के भेदभाव और झगड़े का कारण मैं हूं; परन्तु तुम ने दोनों पक्षों का विचार नहीं किया। यदि किया होता तो तुम्हें सत्य बात मालूम हो गई होती। तुम मुझपर दूसरे की संपत्तिहरण करने का अपराध आरोपित करते हो; परन्तु मैं नहीं समझता कि तुम जैसे व्यापारी इस प्रकार की महत्वाकांक्षा से अलिप्त हों; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का मार्ग एक ही है। ईश्वर स्वयं किसी को कुछ नहीं देता। एक की संपत्ति दूसरे को मिलना ही जगत् का नियम है, तुम जैसे व्यापारियों को यह कहना शोभा नहीं देता कि हमारा राज्य अत्याचार, बलात्कार और डाकूपन से चल रहा है। शिवाजी महाराज ने चार बादशाहतों से लड़कर अपने पराक्रम के बल पर स्वराज्य की स्थापना की थी, और तभी से हमारी सत्ता का प्रारंभ हुआ है; और इसी साधन द्वारा हमारा राज्य टिका हुआ है, यह तुम जानते ही हो। इसका विचार तुम्हीं करो कि यह स्थायी है या क्षणिक। जगत् में स्थायी कुछ भी नहीं है। जगत् का यह क्रम सर्व विदित है।"

कान्होंजी आंग्रे की मृत्यु के पश्चात् आंग्रे घराने में गृह-कलह का बीजारोपण हुआ। अतः कोंकण-किनारे पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा रखनेवाले विदेशी लोगों को अपना मतलब साधने का मौका अनायास मिल गया।

कान्होजी के दो पुत्र मानाजी और संभाजी में परस्पर झगड़ा होकर लड़ाइयाँ होने लगीं। इन लड़ाइयों में निजी उत्कर्ष और स्वार्थ के सिवा राष्ट्र-हित का विचार और उसकी कल्पना का नाम भी नहीं था। इनके पारस्परिक झगड़े पेशवा को रोकना चाहिए थे; परन्तु वहाँ भी स्वार्थ-बुद्धि का ही निवास था अतः राष्ट्र-कल्याण की भावना नाश में। फलतः स्वयं पेशवा ने आंग्रे के प्रदेश जीतने का काम प्रारंभ कर दिया।

यद्यपि इनमें और आंग्रे में परस्पर झगड़ा चल रहा था, तो भी उनके जहाज़ी बेड़े का विदेशियों पर अच्छा दबदबा था। मानाजी ने अङ्गरेज़ और हब्शियों के जहाज़ी बेड़े से अनेक बार युद्ध किया था और एक बार वह स्वयं बंबई बंदर में अपना जहाज़ी बेड़ा ले आया था। संभाजी ने भी अंगरेज़, फिरंगी और डच लोगों से अनेकवार सामुद्रिक युद्धकर इन्हें हानि पहुँचाई थी। इसके पहले मराठी जहाज़ी बेड़े में तीन सौ टन तक के जहाज़ थे। परन्तु संभाजी ने चार सौ टन तक के कर दिये। इसके पास चार सौ टन के आठ जहाज़ थे। १७४२ में संभाजी की मृत्यु हो गई। तब उसका भाई तुलाजी सुवर्ण-दुर्ग के जहाज़ी बेड़े का अधिपति हुआ। इसने समुद्र में एक छोर से दूसरे छोर तक उपद्रव किया और अङ्गरेज़ों को बहुत कष्ट पहुँचाया साथ पेशवा से भी विरोध कर लिया। तब पेशवा ने, विजयदुर्ग पर चढ़ाई की और सन् १७५६ में इसको और इसके जहाज़ी बेड़े का नाश कर समुद्र पर से आंग्रे की सत्ता उठा दी।

इतिहास लेखक ने पहले भी आंग्रे और उसके जहाज़ी बेड़े की प्रशंसा लिखी है उससे हमें कुछ काल में यह स्वीकार

किया है कि "हिन्द महासागर में तीनों यूरोपियन राष्ट्रों (अंगरेज़, फिरंगी और वलंदेज़) को पराक्रम के कार्य में आंग्रे ने नीचे दिखा दिया। कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सका।"

१७५६ में तुलाजी आंग्रे कैद हुआ। पेशवा ने उसके जहाज़ों में से जितने जहाज़ हाथ लगे उन्हें अपने उपयोग में लिये और विजयदुर्ग को ही मराठों के जहाज़ी बेड़े का स्थान बनाया। क्योंकि विजयदुर्ग का पानी में बना हुआ जंजीरा किला बहुत ही मजबूत और जहाज़ी बेड़े के योग्य स्थान था। उसकी नैसर्गिक रचना और वहाँ मराठों द्वारा आरंभ किये हुए अनेक कार्यों के संबंध से उस स्थान को बहुत महत्व प्राप्त हो गया था।

विजयदुर्ग के जहाज़ी बेड़े में अनुमानतः दो से तीन हज़ार तक सेना थी। जो सबसे बड़ा "फतहजंग" जहाज़ था उसपर २२६ सैनिक १६ गोलंदाज़, १३२ खलासी ऐसे कुल मिलाकर ३७४ लोग थे। सबसे छोटा जहाज़ 'बावड़ी' नामक था जिस पर केवल १५ मनुष्य थे। लड़ाऊ जहाज़ पर युद्ध सामग्री खूब रहती थी। ई० सन् १७८३ से १७८६ तक मराठों के जहाज़ी बेड़े में सब मिलाकर छोटी बड़ी करीब २७५ तोपें थीं। उस समय नारायणपाल नामक एक बड़ा तिकोना जहाज़ था, जिस पर २८ तोपें और ४ जंबूरे इस प्रकार ३२ नग थे।

विजयदुर्ग के जहाज़ी बेड़े पर एक मुख्य अधिकारी होता था, जिसे "जहाज़ी बेड़े के सूबे का सूबेदार" कहते थे। इस बेड़े के अधिकारियों में से आनंदराव धुलप नामक अधिकारी ने सामुद्रिक युद्धों में बहुत नाम कमाया था। उसने

और इसके साथियों ने युद्धों में बहुत शौर्य और पराक्रम प्रकट किया था। सन् १७८३ में अङ्गरेज़ी जहाज़ी बेड़ा और धुलप के जहाज़ी बेड़े में जो युद्ध हुआ उसमें दोनों ओर के वीरों ने अपना रण-कौशल दिखलाया था। उस समय के एक पत्र का अनुवाद यहाँ देने से उस समय के मराठी जहाज़ी बेड़े का वास्तविक स्वरूप पाठक सहज में समझ सकेंगे। यहाँ जिस पत्र का अनुवाद दिया जाता है वह पत्र पेशवा-सरकार को भेजे हुए आनंदराव धुलप के उस पत्र का उत्तर है जिसमें धुलप ने उक्त युद्ध का वर्णन पेशवा को लिखकर भेजा था।

"राजश्री आनन्दराव धुलप, सूबेदार, जहाज़ी बेड़ा, क़िला विजय दुर्ग !

"अखंडित लक्ष्मी अलंकृत राजमान्य स्नेहांकित माधवराव नारायण प्रधान का आशीर्वाद पहुँचे। यहाँ कुशल है; तुम अपनी कुशल लिखते रहना। विशेष समाचार यह है कि तुम्हारा पत्र (छ) १ जमा दिलावल का पत्र मिला जिस में तुमने लिखा कि अंगरेज़ों के जहाज़ मय पाल्मी तोपें गोलंदाज़ तथा कई कोठियों के सिलाहल से आकर ईस्ट लावणी के राज्य का प्रबंध करने के लिए अकबरा से आ रहे थे सो उनकी और हमारी (आनंदराव धुलप की) मुठभेड़ रत्नागिरी में पड़ी; जमा दिलावल को सूर्य के उदय हुए और तोपख़ाने की लड़ाई आरंभ की गई। एक जहाज के एक पहर दिन चढ़े तक लड़ाई जारी रही; परन्तु उस दिन कि अंगरेज़ों के जहाज़ पास नहीं हुए तब सब लोगों ने एक ओर होकर और स्वामी (पेशवा) के नामों का [illegible] कर उनका मार्ग-दिखलाने वाले जहाज़ों से अपने जहाज़ भिड़ा

दिये। इस तरह जब हाथ से हाथ मिलाया, तब फिर कौन किस को मारता है इस का होश नहीं रहा। एक पहर तक इस प्रकार मारामार होती रही। स्वामी का पुण्य बलवान् था। अतः अन्त में अङ्गरेज़ों के जहाज़ अधिकार में आये। इस लड़ाई में हमारी ओर के बड़े आदमियों में से आठ सरदार मारे गये, पन्द्रह सौ आदमी जख्मी हुए और नौ सौ अन्य सैनिक मारे गये। अङ्गरेज़ों की ओर के करीब दो हज़ार सैनिक और एक मुख्य अधिकारी मारे गये तथा पाँच छह सौ सैनिक ज़ख्मी हुए। शत्रु के सम्पूर्ण जहाज़ी बेड़े को कौंसिलों के साथ विजयदुर्ग के जंजीरे में क़ैद कर रखा है। न्याय करने वाले स्वामी हैं।" तुम्हारे यह विस्तार पूर्वक लिखे हुए समाचार विदित हुए।

पहले, आंग्रे का राज्य हमारे पूर्वजों ने लिया और उस पर तुम्हारे पूर्वजों को अधिकारी नियत किया। उस समय अठारह टोपीवालों पर तुम्हारे पूर्वजों का अधिकार था। अतः तुम्हारे पिता को नियत किया। तुम्हारा यह वीरत्व देखकर कहना पड़ता है कि तुमने अपने पूर्वजों का नाम सार्थक किया है। अङ्गरेज़ अपने आप को सिपाही बतलाते हैं। ऐसे सिपाहियों के साथ उनके मुख्य अफ़सर और बड़ा जहाज़ी बेड़ा होते हुए भी अपने प्राणों का मोह त्यागकर बिना कुछ सोचे-विचारे जो तुमने उनसे टक्कर ली उसके लिए हम तुम्हें और तुम्हारे आदमियों को धन्यवाद देते हैं। तुम जो महाराजा की सेवा करने के लिए इस प्रकार बड़े बड़े काम करने की इच्छा करते हो, उसीमें तुम्हारी प्रतिष्ठा है। जो आठ सरदार मारे गये हैं, उनके स्थान पर उनके पुत्रों की नियुक्ति की जायगी। जिनके पुत्र नहीं होगा उनकी सरदारी

दत्तक पुत्र द्वारा जारी रखी जायगी। बाकी के लोगों के स्थान पर उनके पुत्रों को नियत करो। जिनके पुत्र न हों उनके घर वालों की परवरिश की जायगी। तुम अपनी इच्छा के अनुसार जिसे जो इनाम देना उचित समझो उसकी एक फिहरिस्त बनाकर भेज दो। उसपर विचार कर आज्ञा दी जायगी। अपनी ओर के जो ज़ख्मी सैनिक हैं उनके लिए जो खर्च हो वह करो और तुम स्वयं उनका प्रबन्ध करो तथा जो कुछ करना उचित हो वह करो। अङ्गरेज़ों के ज़ख्मी सैनिकों पर साधारण खर्च करना। तुम्हारे लिए खासगी की ओर से बहुमान की पोशाक, सिरपेंच तथा मोतियों की कंठी और कड़े भेजे हैं सो लेना। अङ्गरेज़ों की ओर से वकील यहाँ आया है, परन्तु उससे सन्धि तुमसे पूछकर की जायगी। तुमने यह काम बहुत बड़ा किया; इसलिए सरकार तुम पर बहुत प्रसन्न है। सरकारी राज्य में तुम जैसे अधिकारी हैं यह जानकर सन्तोष हुआ। यह पत्र रवाना किया गया चन्द्र १३ जमादिल् आखर को। अधिक क्या? आशीर्वाद। (मुहर)"

भूप के समान चिटनीस, सुर्नीस, फड़नवीस, जामदार, आदि अनेक सरदार सामुद्रिक युद्धकला में नामांकित हुए हैं और उन्होंने बहुत शौर्य प्रगट किया है। पेशवा की ओर से सातारा बैठक के दिवाण में दीवान, फड़नवीस, मजूमदार, पोतनीस, आदि आफीसर नियुक्त कर दिये गये थे। इन सबका पृथक् ढंग हुआ था। नवीन जहाज़ बनवाने में इन से सालाना हजार रुपये तक खर्च पड़ता था और कुला-बाँ में पाँच से दस हजार तक रुपये खर्च होते थे। स्वा-मित्व और संरक्षण में सरकारी और प्रजाकीय गोदियाँ

भी थीं। मराठों के जहाज़ी बेड़े का ख़र्च डेढ़ से दो लाख रुपये वार्षिक होता था। जहाज़ी बेड़े के ख़र्च के लिए एक सौंदल नाम का परगना ही पृथक् कर दिया था। इसके सिवा सरकार के यहाँ से नगद रुपये भी बहुत दिये जाते थे। विदेशी व्यापारी जहाज़ों से जक़ात ली जाती थी और जो जहाज़ व्यापार करने को जाते उन्हें हर तरह की चीज़ें हर जगह से भरने के लिए एक परवाना दिया जाता था। इस परवाने पर कुछ कर देना पड़ता था। प्रत्येक जहाज़ से सरकार को साढ़े चार रुपया मिला करते थे। आमदनी का एक और भी मार्ग था। अर्थात् परराष्ट्र का जो जहाज़ बिना सरकारी आज्ञा के व्यापार के लिए अथवा राजकीय हेतु से मराठों के राज्य में आता और लड़ने को उद्यत होता, उससे लड़कर उसे और उसके माल को ले लेते थे। इससे आमदनी बहुत होती थी और इस आमदनी का नाम "पैदाइश" था। यह पैदाइश कभी कभी पचास हज़ार तक पहुँच जाती थी। व्यापार करनेवाले स्वदेशियों में विशेष कर "भाटिया, सारस्वत ब्राह्मण और मुसलमान' ही अधिक होते थे।

मराठों के जहाज़ी बेड़े पर मालवी (होकायंत्र), वालुकायंत्र और दूरबीन आदि भी होते थे। उस समय विद्युत्प्रकाश का काम चन्द्र ज्योति (बारूद) की सहायता से लिया जाता था। चिह्नों के लिए जहाज़ी ध्वजाएँ भिन्न भिन्न रंग की हुआ करती थीं। आजकल जिस तरह जहाज़ के आवागमन की सूचना के लिए वाफ़ के द्वारा कर्कश सीटी बजाई जाती है, उस समय यह काम सींग तथा तुरई के

मराठों की राजकीय व्यवस्था ।

यद्यपि राजकीय दृष्टि से सैनिक शक्ति का मान मुख्य है तो भी राज्य-व्यवस्था का मान उससे कम नहीं है। पराक्रम एक दिन का होता है; परन्तु राज्य-व्यवस्था सदा के लिए होती है। इसलिए राष्ट्र के बड़प्पन, स्वाधीभाव और नैतिक गुण की परीक्षा राज्य-व्यवस्था से ही की जा सकती है। राज्य-संपादन करने और राज्य चलाने के गुणों की जोड़ी यदि नहीं मिलती तो फिर राज्य का टिकना कठिन होजाता और प्रजा असंतुष्ट हो जाती है, किसी तरह का प्रबंध नहीं रहता और एक दिन में प्राप्त किया हुआ राज्य, चार दिनों में ही क्यों न हो, पर अन्त में, वह अवश्य हाथ से निकल जाता है। यद्यपि राज्य की प्राप्ति तलवार के बल पर की जा सकती है; परन्तु राज्य की आमदनी वसूल करने में तलवार का उपयोग नहीं होता। उसके लिए योग्य व्यवस्था ही आवश्यक होती है। राज्य-संपादन करनेवाला राजा केवल अपने ही लिए राज्य-संपादन नहीं करता; किन्तु अपनी प्रजा और समाज के लिए सम्पादन करता है; इसीलिए समाज राज्य का उपभोग ले अथवा उपभोग राज्य-संस्था के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिए [illegible] शिवाजी की जो योग्यता मानी जाती है उससे भी कुछ अधिक योग्यता सुचारु राज्य-प्रबंध की सुंदर व्यवस्था स्थापित करने के कारण [illegible] जाती है। महाराष्ट्र में इस प्रकार की राज्य-संस्था स्थापित करने के बाद उसे नियमानुकूल चलाने का [illegible] बहुत चातुर्य और बुद्धिमानी का था। इस कार्य में [illegible]

गत शिक्षा के कारण जो विशेष चतुर थे ऐसे ब्राह्मणों और कायस्थों की आवश्यकता थी। महाराजा शिवाजी को वे लोग मिल भी गये थे। इस तरह तलवार और लेखनी का योग हो जाने से शिवाजी महाराज के राज्य को सुव्यवस्थित रूप प्राप्त हो सका और वह सौ दो सौ वर्षों तक टिका रहा आगे चलकर मराठों के सैनिक गुण और ब्राह्मण तथा कायस्थों के व्यवस्था करने के गुणों में शिथिलता आगई थी। और इन दोनों गुणों की न्यूनता का कारण स्वार्थपरायणता थी। इधर मराठों की यह दशा थी, उधर मराठों से भी अधिक व्यवस्था से काम करनेवाले और सैनिक-शक्ति संपन्न अंगरेज़ों से मराठों की मुठभेड़ हुई; अतः मराठों का राज्य नष्ट हो गया। परंतु राज्य नष्ट होने के पहले अपने राज्य को चलाने में उन्होंने जो चातुर्य्य प्रगट किया था उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। मनुष्य मृत्यु के वश होने के कारण कभी न कभी रोग की प्रबलता होने से मरेगा ही; परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह मृत्यु के पहले कभी तेजस्वी, शक्ति-संपन्न और हट्टाकट्टा न रहा होगा। यद्यपि हम इस प्रस्ताव के द्वारा मराठाशाही का शतसांवात्सरिक श्राद्ध कर रहे हैं और स्वीकार करते हैं कि पुरानी मराठाशाही नष्ट हो गई है; पर हाथ से पिंडदान कर तिलांजलि देते हुए भी जिसे वह अंजलि दी जाती है वह व्यक्ति भूतकाल में जीवित था और उसमें अमुक अमुक गुण थे ऐसा कहने से पिंडदान करनेवाले के द्वारा जिस तरह किसी प्रकार की असंगतता नहीं होती उसी तरह हमारे द्वारा भी मराठों की राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी चातुर्य्य प्रगट करने में कोई असंगतता नहीं मानी जा सकती। सर अल्फ्रेड लायल कहते हैं कि

"भले ही मराठी सेना लुटेरू रही हो और मराठे सरदार भी उद्दण्ड और अशिक्षित रहे हों; परन्तु उनकी मुल्की व्यवस्था और आमदनी का काम ब्राह्मणों के द्वारा होता था। उस समय ये ब्राह्मण लोग अन्य सब लोगों से अधिक चतुर और कर्त्तव्यपरायण थे।"

मराठों का राज्य-विस्तार ।

शिवाजी के समय की अपेक्षा दूसरे बाजीराव के समय में मराठी राज्य का विस्तार बहुत अधिक था। शिवाजी के अधिकार में नीचे लिखे हुए प्रदेश थे—(१) मावल प्रान्त और उसके १८ क़िले, (२) वाई सतारा प्रान्त और उसके १५ क़िले, (३) पनाला प्रान्त और १३ क़िले, (४) दक्षिण कोकन प्रान्त और ५८ क़िले, (५) थाना प्रान्त और १२ क़िले, (६) और (७) त्र्यंबक तथा बागलाण प्रान्त और ६२ क़िले, (८) कनारा उर्फ़ धारवाड़ प्रान्त और २२ क़िले (९) चिन्नूर प्रान्त, (१०) कोल्हापुर प्रान्त, (११) श्रीरंगपट्टन और १८ क़िले, (१२) कर्नाटक प्रान्त और १८ क़िले, (१३) वेलोर प्रान्त और २५ क़िले और (१४) तंजावर प्रान्त और ६ क़िले। इस सूची से यह प्रगट होता है कि शिवाजी का राज्य उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक फैला हुआ था। उनके राज्य की पश्चिम सीमा में अरब समुद्र, उत्तर सीमा में गोदावरी, पूर्व सीमा में सीना नदी और दक्षिण सीमा में कावेरी थी। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि शिवाजी के बाद दक्षिण की ओर मराठों का राज्य बढ़ने नहीं पाया; किन्तु हैदर, टीपू और अङ्गरेज़ों के दक्षिण में प्रबल होने से उन्हें कुछ हटना ही पड़ा; परन्तु उत्तर और पूर्व की ओर

उनका राज्य बढ़ा। उत्तर में उनका राज्य पंजाब तक होगया और पूर्व में नीचे की ओर निज़ाम राज्य के कारण यद्यपि उनका राज्य न बढ़ सका, पर ऊपर की ओर बंगाल तक और पश्चिम में राजपूताना तक बढ़ा।

मराठों के हाथ से अङ्गरेजों के हाथ में दिल्ली के चले जाने तक बादशाही राज्य और मराठा राज्य, एक प्रकार से मिल सा गया था। स्वराज्य का प्रदेश, जागीर प्रदेश, सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार का प्रदेश, केवल खडनी-कर-वसूल करने का प्रदेश और घास-दाना वसूल करने का प्रदेश जिसे विनोदी भाषा में घोड़े दौड़ाकर लूटने का प्रदेश, कह सकते हैं, इस प्रकार अनेक संबंधों से मराठों का उत्तर की ओर बहुत राज्य बढ़ गया था तथा बादशाह के गुमाश्ते, सेनापति अथवा तहसीलदार के नाते से उत्तर हिन्दुस्तान के अनेक रजवाड़ों से मराठों का राजकीय संबंध बहुत कुछ हो गया था। बादशाही और मराठा राज्य की एक फ़ेहरिस्त मिली है जो नीचे दी जाती है —

छोटे शाहू महाराज के समय में एक काग़ज़ पर "दक्षिण और उत्तर भारत के सूबों का वृक्ष" बनाया गया था। वह काग़ज़ मिलने पर "भारतवर्ष" में प्रकाशित किया गया था। उस पर से नीचे लिखा वर्णन यहाँ दिया जाता है—

	जमाबंदी
दक्षिण के सूबे ६।	१८,२१,१८,६६५।)॥।
उत्तर भारत के सूबे १५	३२,४६,१६०,६३॥।≈)
इनमें के दक्षिण के सूबों का	
विवरण इस प्रकार है—	
सूबा बीजापुर	७,८२,८३,९२६।)।

सूबा	तेलंगना	५५,६५,८६८)
,,	औरंगाबाद	१,२०,६६,६५,६॥।)
,,	बुरहानपुर	५८,०८,६५६॥।)
,,	बराड़	१,३०,५३,४८६।)॥
,,	हैदराबाद	६,६१,१०,५२१।॥)॥
	कुल	१८,२६,१८,६६५।)॥।

उत्तर भारत के सूबों का विवरण—

सरकार		महाल	द्विहात	जमाबंदी
अकबराबाद	(१२)	२४४	३१,८००	२,७१,००,१०३
शाहजहानाबाद	(१२)	२८१	४०,५८८	३,१०,१२,१५४
इलाहाबाद	(८)	२१७	७,६०५	१०,६०,६०,६७१
इस्लामाबाद	(१७०)	२६६	४३,६०७	१८,७०,४०८
पंजाब	(५)	३५८	२७,७६१	१८,७०,४६८
अयोध्या	(५)	१२०	५२,६६१	१२,२५,५६१
मुलतान	(४)	१०३	५,२५६	२४,७१,३४६॥।)
काश्मीर	(०)	५३	५,१५२	३५,२,४५१
ओमरकोट	(०)	४८	१,३१६	२,७४,२०१
ठट्टा	(४)	५६	१,३२३	२३,६५,३१७
बिहार	(०)	२५०	५५,४०६	१३,३५,५५१
मालवा	(११)	२६२	१८,६७८	८३,७२,२६६
बंगाल	(३४)	१५०	५०,७८८	८,६१,१२,४६०
ओडीसा	(५१)	१,०११	१,२०,७८०	१,१५,५८,८९६
गुजरात	(१०)	२१६	१०,३४०	८१,६२,८०३

सब मिलाकर १५ सूबे, २७४ सरकार, ३,८७१ महाल, ४,१०,७११ देहात और जमाबंदी के रुपये ३२,४६,१६,२६१॥)

थे। सब मिलाकर दक्षिण-उत्तर के सूबे २१ और जमावंदी की आमदनी ५०,७२,३५,०,२६≡)॥। थी।

काव्येतिहास संग्रह में बादशाही राज्य की आमदनी की एक सूची प्रकाशित हुई है। उसका सारांश इस प्रकार हैः—

राज्य	सरकार	परगने या महाल	जमावंदी करोड़	लाख	हज़ार
शाहजहांबाद (दिल्ली)		२२६	२	८६	५८
अकबराबाद (आगरा)	१४	२६८	२	४५	४६
अजमेर (मारवाड़)	७	१२३	१	३७	५१
इलाहाबाद	१६	२४७	०	६४	०
पैठण	८	२४०	०	६५	१८
अयोध्या	५	१२७	०	६६	१३
उड़िया (जगन्नाथ)	१५	१३२	१	६	६२
ढाका (बंगाल)	७	१०१	१	१५	७२
अहमदाबाद (गुजरात)	६	८८	१	४५	२४
ठठा (सिंध)	४	५७	०	२५	७४
मुलतान	३	८६	०	६१	१६
लाहौर	५	३१६	२	२३	३४
काश्मीर	०	४६	०	३१	५७
काबुल	८	६६	०	३१	६३
उज्जैन (मालवा)	१२	३०३	१	८२	७६
केदार	०	५०	०	३८	६५
औरंगाबाद	१२	१३६	१	२७	४२
बुरहानपुर	६	१३६	०	५७	४
बेदर	१२	१३६	०	७५	४

एलिचपुर (बरार)	५-	६१	१	१२	५०
बीजापुर	१८	२८१	४	६६	७६
हैदराबाद	४२	४०५	५	७७	३६
		कुल	३०	१०	६

इनकी बाँटनी इस प्रकार की गई थी:—

रावपन्त प्रधान (पेशवा) को	१२	४२	२०
नवाबअली निज़ाम बहादुर को	३	४६	७३
अङ्गरेज़ बहादुर को	१२	३५	७०
आयवाल्ली को	१	६३	१
शिन्दे आदि को	३	२२	३४

इस सूची के शीर्षक में इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

"यह याददाश्त औरंगज़ेब बादशाह के शासन-काल की बादशाही हिन्दुस्तान की जमाबन्दी की है। इसे रुधिरोद्गारी संवत्सर (सन् १८०३ ई०) में पूने पर चढ़ाई करने के समय अंगरेज़ी-सरकार की ओर से जनरल वेल्सली बहादुर ने बनाई।"

इस सूची में रावपन्त प्रधान (पेशवा) के हिस्से का विवरण नीचे लिखे अनुसार दिया गया है:—

सरकार	८ करोड़	७२ लाख	२६ हज़ार
निसबत (दाखल)	३ ,,	६६ ,,	९१ ,,
	१२ ,,	४२ ,,	२० ,,

ग्रांट डफ़ साहब के लिखे हैं अनुमानित अंक (लाख के अंकों में) दिल्ली ८१, आगरा १२१, अजमेर १३, इलाहाबाद ९६, मालवा ४१२, बरार ६८, बुरहानपुर ९०, खानदेश ३०, बीजापुर १११, हैदराबाद १०३, औरंगाबाद ९८, बिदर ६३, सब मिला कर ८ करोड़ ७२ लाख।

इसी सूची में अङ्गरेज़ों की आमदनी का विवरण इस प्रकार दिया गया है:—

	करोड़	लाख	हजार
खालसा	९	४१	२१
निसबत	२	९४	२७
नवाब कासमअली बंगाल से आमदनी	३	२	३५
सूरत के नवाब से "	०	४१	०
औरंगाबाद सूबा और बंबई, साष्टी प्रभृति परगने की आमदनी	०	९	०
नवाब महम्मदअलीखाँ से पहले से चला आया	१	८१	९६
टीपू सुल्तान से लिया	२	२४	१२
नवाब निजामअलीखाँ ने दिया	१	२०	२
पहली बार	०	४२	८
दूसरी बार	०	७७	९३
चंदावर (चांदोर) के राजा के अधिकार पर अब जो कंपनी के अधिकार में है	०	९९	५६
उसका विवरण—			
सुजाउद्दौला बहादुर	१	५९	८६
नंजनाड किरीट राजा	०	९२	०
अन्य संस्थानिक	०	४२	७१
झिमानशा अब्दाली को	१	९३	०
अन्य—			
गुलामशाह शिद्दी	०	२३	७४
सिक्ख (लाहोर)	०	९३	३४
नेपाल, गोरखा आदि	१	०	०

थी और बाहर से क़रीब डेढ़ करोड़ का माल विलायत ले जाती थी जिसे विलायत में साढ़े तीन करोड़ में बेंचती थी।

मराठी राज्य की सांपत्तिक स्थिति।

उस समय मराठी राज्य के द्रव्य-बल और मनुष्य-बल की स्थिति कैसी थी इसपर भी विचार करना उचित है। ग्रंट डफ़ साहब के मत के अनुसार उस समय मराठी राज्य की आय सरकारी कागज़ पत्रों के अनुसार दस करोड़ था जिसमें होलकर, सिंधिया, भोंसले और गायकवाड़ की जागीर, मंडलिकों की खंडनियां, नज़राना, भूमिकर तथा और भी अनेक करों का समावेश होता है। यह कागज़ी आमदनी सब वसूल नहीं होती थी। वसूल प्रायः ७॥ करोड़ की होती थी जिसमें पेशवा के हाथ में केवल पौने तीन वा तीन करोड़ ही पड़ते थे। नाना साहब पेशवा के समय में सबसे अधिक वसूल होती थी जिसका परिमाण क़रीब ३॥ करोड़ था। जिस समय पेशवा के कारबार में अंगरेज़ सरकार का प्रवेश हुआ उस समय केवल पेशवा की आमदनी से अंगरेज़ सरकार की आमदनी यद्यपि अधिक थी तो भी सब सरदारों की आमदनी यदि मिलाई जाय तो मराठी राज्य की कुल आय अंगरेज़ों की आय से दुगनी थी। पेशवा के ख़र्च का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि ख़र्च का कोई लेखा अभी तक मिला नहीं है; पर कह सकते हैं कि आय के प्रमाण से अर्थात् अंगरेज़ों की तुलना से, पेशवा का ख़र्च अधिक रहा होगा। १७७४ में कंपनी सरकार पर कर्ज़ नहीं था; लेकिन पेशवा के ऊपर बहुत कर्ज़ था। इसका कारण यह हो सकता है कि अंगरेज़ों का ख़र्च नियमानुकूल बंधा हुआ होगा और पेशवा

का अनियमित खर्च रहा होगा। कंपनी के नौकर भारत में मुनीम के समान होते थे और वे बिना कंपनी के संचालकों की मंजूरी के खर्च नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे निजी व्यापार, रिश्वत, लूटपाट आदि से बहुत पैसा विलायत ले जाते थे; परंतु कंपनी की आमदनी में से अपने निश्चित वेतन के सिवा अधिक खर्च नहीं कर सकते थे। सब हिसाब प्रत्येक छः मास में साझीदारों की सभा के सम्मुख उपस्थित करने के लिए भेजना पड़ता था। उस हिसाब का निरीक्षण आडीटर—निरीक्षक करते थे। पेशवाई राज्य में स्वयं पेशवा ही स्वामी थे; अतः अमुक खर्च करने या न करने की आज्ञा देनेवाला दूसरा कोई नहीं था। निजी, खर्च और सरकारी खर्च का अनुमान न्यारा न्यारा नहीं किया जाता था। लोगों का कहना है कि जब बड़े माधवराव पेशवा की मृत्यु हुई तब उनकी निजी संपत्ति २४ लाख रुपयों की थी; परंतु जब दूसरे बाजीराव पेशवा ब्रह्मावर्त को गये तब उनके पास एक करोड़ के सिर्फ जवाहिरात ही थे। यद्यपि माधवराव के पास निजी [illegible] लाख रुपये थे, तो भी उनपर कर्ज इतना अधिक हो गया था कि उसका चुकाना कठिन था। अतः मृत्यु के समय उन्हें इसके कारण दुःख भी हुआ था। आज भी यद्यपि देशी राज्यों में राज्य की आमदनी में से उनके निज खर्च के लिए रकम न्यारी कर दी जाती है, तो भी उसे बढ़ाने घटाने का अधिकार उन्हें ही रहता है। मालूम होता है कि पेशवाई में भी यही दस्तूर होगा। पेशवा की निजी आमदनी और जागीर होने पर भी वे राज्य के खजाने से भी खर्च के लिए रुपये लेते थे। बड़े माधवराव साहब की [illegible] लाख की आमदनी थी। किंतु जागीर

दूसरे राज्य से भी मिला करती थी। उदगीर के युद्ध के बाद जो संधि हुई थी उससे निज़ाम ने प्रसन्न होकर करीब दो लाख की जागीर दी थी। पुरंदर की संधि के अनुसार पराजित होकर शरण में आये हुए रघुनाथराव को १२ लाख नगद देना नियत किया गया था। सालबाई की संधि के बाद रघुनाथराव की शर्त यद्यपि कम हो गई थी; पर चार लाख से वह कभी कम नहीं हुई थी। जब द्वितीय बाजीराव अङ्गरेज़ों की शरण में गये तब उन्हें आठ लाख की जागीर देने का निश्चय किया गया था। इन सब अंकों पर से पेशवा के निजी ख़र्च की कल्पना अच्छी तरह की जा सकती है। क़र्ज़ राज्य का भूषण माना जाता था, और यह भूषण मराठाशाही में स्वयं पेशवा और उनके सरदारों को अच्छी तरह प्राप्त था। सरंजामी पद्धति के अनुसार सरदारों को सेना सदा तैयार रखनी पड़ती थी जिसपर उन्हें ख़र्च करना पड़ता था। इसके लिए उन्हें जो प्रदेश दिये जाते थे उसकी आमदनी तो अपने समय पर आती थी और फिर भी पूरी नहीं आती थी तथा सरकारी ख़ज़ाने से भी मासिक वेतन समय पर नहीं मिलता था। इससे मराठे सरदारों पर क़र्ज़ हो जाया करता था। शायद ही कोई सरदार होगा जिसका साहूकार न हो। पहले बाजी-राव पेशवा का सम्बन्ध बहुत कुछ बढ़ गया था इससे उन्हें सदा बहुत बड़ी सेना रखना पड़ती थी। अतः उनपर ऋण भी बहुत हो गया था। ब्रह्मेन्द्र स्वामी को लिखे हुए बाजीराव के बहुत से पत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनमें उन्होंने अपना ऋण सम्बन्धी रोना ही रोया है। उसे पढ़कर मन ऊब जाता है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि "आजकल मैं बहुतों का

देनदार हो गया हूं। क़र्ज़दारों के तक़ाज़ों का मुझे नर्क-यातना के समान दुःख है। साहूकारों और सिलेदारों के पाँव पड़ते मेरे कपाल का पसीना नहीं सूख पाता।" बड़े माधवराव के समय तो राज्य पर इतना ऋण चढ़ गया था कि उन्हें मरते समय इसका बहुत दुःख होने लगा था। तब उन्हें सन्तोष देने के लिए रामचन्द्र नायक परांजपे ने साहूकारों को उनके ऋण के बदले में अपने नाम के रुक्के लिखकर उन्हें ऋण-मुक्त कर दिया था। परशुराम भाऊ पटवर्धन और हरिपन्त फड़के के पत्रों में भी इसी ऋण का ही वर्णन पढ़ने को मिलता है। दूसरे बाजीराव के सेनापति बापू गोखले को क़र्ज़ के कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। उसने अपने गुरु चिन्तामण दीक्षित को जो पत्र लिखे हैं उनमें केवल एक इसी विषय के समाचार हैं। सरकार पर ऋण हो जाने से सेना का वेतन रुक जाता था। अतः सरकार स्वयं सेना की ऋणी हो जाती थी और उसकी आज्ञा की अवहेलना में कमी आ जाती थी। चढ़ाई के समय मार्ग में लूट-पाट करना और लोगों को कष्ट पहुँचाकर खूब पैसा वसूल करना इसी स्थिति का एक स्वाभाविक परिणाम है। और यह भी एक कारण है जिससे मराठे लुटेरे के नाम से बदनाम हुए हैं। परन्तु, ऐसी स्थिति होने पर भी धनिक साहूकारों को निर्धन लूटने का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। मराठा सरदारों पर ऋण हो जाने का और एक कारण है। वह यह कि ऋण का कारण बतलाकर सरदार, अपने खर्च आदि का हिसाब [illegible] सरकार को देने से इन्कार कर सकता था। सिंधिया और भोंसला जसवन्तराव [illegible]

रहता था। सरदारों के कर्मचारी सदा पेशवा के दरबार में बुलाये जाते थे और उन्हें पूना में रहकर प्रतिवर्ष हिसाब समझाना पड़ता था। परन्तु, उसकी सफ़ाई कभी नहीं होती थी। हिसाब की जाँच करनेवाले पेशवा के कर्मचारी रिश्वत लेते थे और सरदारों के कर्मचारी देते थे। इससे राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ती थी।

सरदारी पर ऋण होने पर भी स्वयं सरदार घर के ग़रीब नहीं होते थे। प्रत्येक सरदार की निजी आमदनी न्यारी होती थी तथा दूसरे दरबारों के लोग भी इनके महत्त्व के अनुसार इन्हें भीतर ही भीतर पैसे देते थे। इसके सिवा लड़ाई में जीत होने पर लूट में इन्हें हिस्सा मिलता था और जीता हुआ सरदार निजके विजित राजा से, लिए भी जागीर आदि अलग लेता था। अपना निजी ख़र्च और दरबारी ख़र्च हिसाबी काग़ज़ों में स्पष्ट रीति से दर्ज किया जाता था। उस समय राजनीतिक कारणों से सरकारी नौकरों के निज के लिए कुछ न लेने की कड़ी आज्ञा न थी। और यह पद्धति मराठों ही में क्या, अङ्गरेज़ों के कारबार में भी उस समय दिखलाई देती थी। कंपनी के क्लाइव, हेस्टिंग्ज़, प्रभृति शासकों ने उस समय लाखों रुपये निजी तौर पर लिये थे और इन लोगों की संपत्ति देख देखकर विलायत के लोगों तथा कंपनी के साझेदारों का पेट दुखता था। इसीका यह परिणाम था कि वारन हेस्टिंग्ज़ के समान प्रतिष्ठित कर्मचारी की जाँच कमीशन बैठाकर की गई। कंपनी को जब बादशाह की दीवानगीरी की सनद मिली थी उसके पहले ही क्लाइव ने अपने निजकी एक बड़ी जागीर कर ली थी। अन्त में, उसे कंपनी के नाम पर

कर देना पड़ा। लार्ड कार्नवालिस ने जो अनेक सुधार किये थे उनमें कंपनी के नौकरों की निजी आमदनी न करने की मुमानियत भी एक बहुत बड़ा सुधार था। इस सुधार को व्यवहार में परिणत करने के लिए उन्होंने नौकरों का वेतन बहुत बढ़ा दिया था। मराठाशाही में वेतन की अपेक्षा इतर आमदनी पर ही प्रायः बहुत आधार रहता था। नाना फड़नवीस का वेतन उनके अधिकार की दृष्टि से बहुत कम था; परन्तु उनके पास निजी संपत्ति बहुत अधिक थी और वह इतनी कि दूसरे बाजीराव के समय में जब उन्हें पूना छोड़ना पड़ा तब उन्होंने एक बड़े सैनिक सरदार के समान अपनी निजकी सेना खड़ी की थी। इसके सिवा लाखों रुपये उन्होंने अन्य स्थानों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध साहूकारों के यहाँ अपने नाम से जमा कराये थे।

दफ्तर।

पेशवा के कार्यालय में सब तरह की लिखावट होने से प्रत्येक विभाग की छोटी से छोटी बात का भी उल्लेख मिलता है। आजकल पेशवा का दफ्तर पूना में इनाम कमीशन के अधिकार में है। इस दफ्तर में से स्वर्गीय रावबहादुर गणेश चिमणाजी वाड़ ने कुछ चुने हुए कागज़ों की नकल की थी। ये दस बारह खंडों में बनी डेक्कनव्हर्नाक्युलर ट्रांस्लेशन सोसायटी के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। जिन्हें मराठी राज्य-शासन के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त करना हो वे इन्हें अवश्य पढ़ें। इनमें सेना, क़िले, जहाज़ी सैनिक बेड़ा, ज़मीन की पैमाइश, ज़मीन का निरीक्षण, ख़ज़ानेदारी, आब-कारी, कूच, फ़ौजदारी, मालगुज़ार और कलाविशारद

(तहसीलदार) के काम, गाँवों के झगड़े, ज़मीन को आबाद करने और बागीचा आदि लगाने में उत्तेजना का दिया जाना, फसल की नुकसानी का चुकाया जाना, गाँवों के थाने, ज़मीन की बिक्री, ज़मीनी महसूल का ठेका, जंगल-कर, घाँस दाने के संबंध में, गांवों के कर्मचारी, जागीरदार, इनाम, वृत्ति, जागीर, दीवानी दावे, क़र्ज़ वसूली, पंचायत, अपराध और उनका न्याय तथा दंड, पुलिस तथा जेल की व्यवस्था, सरकारी कर्मचारी और जागीरदारों के दुराचार, विद्रोह, छल-कपट, राजद्रोह, दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार, वकालत, राजाओं से व्यवहार, डाक, वैद्य क्रिया, शस्त्र क्रिया, टकसाल, सिक्के, भाव और मज़दूरी, गुलामगीरी, सरकारी ऋण, व्यापार तथा कारखानों को उत्तेजन, धर्म-विषयक निर्णय, सामाजिक बातें, ग्रामण्यें धार्मिक और सामाजिक उत्सव, शहर, पेंठ, अथवा इन दोनों की बसाहत, जल मार्ग का व्यवहार, सार्वजनिक भवन, तालाव बावड़ी, इतर लोकोपयोगी कार्य, पागलों की व्यवस्था, पदवियाँ और सन्मान, भूमिगत द्रव्य की व्यवस्था, सरकारी दूकानों और खदानों आदि सैकड़ों बातों का मनोरंजक वर्णन देखने को मिलता है। यद्यपि इन खंडों में प्रकाशित लेखों के फुटकर होने से किसी एक विभाग के कारबार का पूरा विवरण इनसे नहीं जाना जा सकता तो भी इस टूटी-फूटी सामग्री के द्वारा यह अच्छी तरह से जाना जा सकता है कि पेशवा के समय में राज्य-कार्य व्यवस्थित था।

सनदें।

पेशवा के यहाँ से जो सनदें दी जाती थीं वे समर्पक होती थीं। उनमें दिये हुए अधिकार, वृत्ति, आदि का पूरा

और नियमित उल्लेख रहता था तथा उनके द्वारा क़िले का अधिकार दिया जाता है, कौन अधिकार से मुक्त किया जाता है आदि का भी पूरा वर्णन रहता था। सनदों की कई प्रतियाँ की जाती थीं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विभाग के अधिकारियों के पास वे भेजी जाती थीं ताकि उनका पालन अच्छी तरह से हो सके। यदि स्वयं छत्रपति सनद देते थे तो उसकी सूचना पेशवा और उससे संबंध रखनेवाले मंत्री से लेकर गाँव के अधिकारियों तक दी जाती थी। इस प्रकार की एक सनद का हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

"…… राजेश्री स्वामी जब गढ़ से उतरकर सिंहासनारूढ़ हुए उस समय ब्राह्मणों को इनाम ज़मीन अव्वल और दोयम की तरह का स्वराज्य और मोगलाई दोनों ओर की इनाम, निदाई और पाथाई हक़ और सरदेशमुखी, हक़ [illegible] और नाडगौडी और कुलबाब और कुलकानू, [illegible] पट्टी और पहले की पट्टी, जलतरु-तृण-काष्ठ-पाषाण-निधि निक्षेप सहित हुकदारों को छोड़कर, ६ वेदमूर्ति राजेश्री जनार्दन भट्ट बिन नारायण भट्ट उपनाम [illegible]पुरे, [illegible] गोत्र, आश्वलायन सूत्र, ऋग्वेदी, मुक्काम मौजा, [illegible], ७ [illegible] वाई की [illegible] हवेली परगना [illegible] मौजे [illegible] १, [illegible] १, मौजा [illegible] १ [illegible] १ [illegible] चिट्ठियाँ १ [illegible] १ [illegible] १, [illegible] और [illegible] १ [illegible] और [illegible] १ [illegible] १।"

क़िले।

शाहू के समय क़रीब २०० क़िलों की सूची दफ्तर में थी। प्रत्येक क़िले पर क़िलेदार रहता था और उसके हाथ के नीचे पहरेदार थे। ये लोग प्रायः क़िले के आसपास के प्रदेश के हुआ करते थे। इनके निर्वाह के लिए उसी प्रदेश की जमीन दे दी जाती थी। क़िले के ऊपर की अथवा क़िले के नीचे की नौकरी में ब्राह्मण, मराठा महार, मांग आदि अनेक जातियों के लोग रखे जाते थे। इस कारण क़िलों की रक्षा करने में सब जातियों का कुछ न कुछ हित अवश्य रहता था। क़िले के महत्त्व की दृष्टि से पहरेदार लोगों के सहायतार्थ अरबी, गारदी अथवा कवाइदी फ़ौज थोड़ी बहुत अवश्य रहती थी। कितने ही क़िलों पर तोपें और गोलंदाज़ भी रखे जाते थे। बहुत से क़िलों पर पानी के तलाव, टांके आदि बहुत होते थे और बहुत दिनों तक सामग्री तथा गोला-बारूद के लिए अन्न-प्रबंध किया जाता था। क़िले का जमा ख़र्च रखने के लिए क़िलेदार के हाथ के नीचे कर्मचारी रहते थे। पहले माधव-राव पेशवा के रोजनामचे में चंदन-बन्दन के क़िले के संबंध में नीचे लिखे अनुसार वर्णन मिलता है:—

"विठ्ठलराव विश्वनाथ को सनद दी जाती है कि इस वर्ष चंदनगढ़ क़िले और बंदनगढ़ क़िले का तअल्लुक़ा तुम्हारे सिपुर्द किया गया। उसके सालियाना ख़र्च का ब्यौरा इस प्रकार है:—

३६०) भोजन ख़र्च प्रति दिन ५ व्यक्ति, प्रतिमास के ३० रुपये ज़ुमले बारह मास के।

१३५) ऊपर के हुक्म पाबन्दी की लिए मुसहरा खर्च प्रति वर्ष ।

७५ बरदारी (रसोइया) १
६० ब्राह्मण १
१३५ २

२१६) नीचे लिखे लोगों का सालियाना

६०) मशालची १
७२) आबदागिरी उठाने वाला १
६०) लड़का १
२४) मशाल के लिए, तेल मास २) रु० से
२१६)

७१२ कुल्ला ७१२) रु० सालियाना देने का क़रार किया गया है । तुम सरकारी काम में कमीबेशी न कर साल के अन्त में आकर पक्का हिसाब समझाना ।

पट्टा के ज़िले की सालबंदी की तफ़सील इस प्रकार लिखी है:—

[illegible] दोशिवार आठ और पालकीवाला ७५ लिखा किये जावें, हर प्रतिमास व्यक्ति ७) रुपया मिले । ३ कानूनगो की वार्षिक १५०) रु० दो कुलकर्णियों की वार्षिक ५०) (पटेल व [illegible] के खर्च सहित) इमारतें नवीन बनवाई और धन्दई १०००) रु०—सब मिलाकर ज़िले की सालबंदी ३६७१) ज़िले की व्यवस्था इस तरह की आय कि ज़िले के खर्च के लिए जो तौल सरंजाम में दिया गया है उस तौल की सब व्यवस्था ठीक रक्खी जाय । आमदनी बढ़ाई जावे [illegible] की जाय । जो तौल मुकर्रर किये गये हैं उनकी

हाजिरी-गैरहाजिरी ली जाय। बदले में लोग न रखे जायँ। जो लोग रखे जावें उनकी तैनाती कायदे से हुजूर सिक्के के द्वारा की जाय। क़िले का चौकी पहरा व नौबत बजाना आदि सिरस्ते के अनुसार होता रहे। देवयात्रा, नंदादीप (अखंडदीप) कुत्ते जो क़िले पर हों इनके लिए पहले के मुताबिक खर्च किया जाय। यह खर्च मुजरा दिया जायगा। इसके सिवा कोठारी, माणलची, मेहतर आदि आवश्यकतानुसार रखकर बंदोबस्त किया जाय।

ज़मीन।

चालू ज़मीन और गाँव की सूची गाँव के दफ़्तरों में अच्छी तरह संभाल के रखी जाती थी और उनकी कई नकलें रहतीं थीं। एकाध फेहरिस्त के खो जाने पर सही सिक्के के साथ दूसरी फेहरिस्त की नकल दी जाती थी। उदाहरणार्थ शाहू महाराज के रोजनामचे में लिखा है कि "मौजे मज़कूर की कुल कैफ़ियत सही सिक्के के साथ दी जाय और फिर शिकायत न होने पावे"।

गाँव की तौजी वगैरह की छूट दी जाती थी और किस्तबंदी भी होती थी। उदाहरण, शाहू महाराजा के रोजनामचे में लिखा है—"मोजा रहिमनपुर के मुकद्दम को पाला पड़ने से गाँव की फसल मारी गई। इसलिए अभय-पत्र दिया सो सन इहिदे खमसेन (१७५२-५३) की बाँकी में ये रुपये ३०००) और सन इसन्न पैकी सब तौजी छूट में दी गई। अब आगे को जमीन जोती बोई जाय। खंडनी के मुताबिक उगाही होगी"।

"कलंब भी वहाँ के कुछ ब्राह्मणों ने १० बीघा ज़मीन की उपज का हिस्सा तौजी में देने की शर्त पर जोती। इनमें ज़मीन की उपज को तौजी में देने की शक्ति नहीं थी, इसलिए इनसे तौजी नगदी के रूप में ली जाय" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

"अहमदनगर किले के पास से रघुनाथराव की सेना निकली सिपाहियों के लिए पौधे काटा गया इसलिए खेत वालों की तौजी माफ कर दी गई। पर शत्रुओं की चढ़ाई होने से किसानों का जब बहुत नुकसान होता तो भी तौजी वगैरह की छूट दी जाती थी। चढ़ाई के कारण पहले लोग भाग जाते थे तो नये आसामी बसाकर उनसे बहुत कम तौजी ली जाती थी।" (रोज़नामचा माधवराव पेशवा)

"बागलाण प्रान्त में एक पानी के बाँध के बह जाने से उसे फिर बाँधने में जो १४०००) रु० खर्च होंगे उन्हें नागो नारायण देकर बाँध की मरम्मत करेंगे, ऐसा उन्होंने प्रण किया। तब उन्हें १४ वर्षों तक कहली तौजी की फिलबदी दी गई। बागलाण प्रान्त में बाँध बाँध कर जो नई खेती करेगा उसे प्रतिमान १० बीघा ज़मीन इनाम में दी जाने का नियम था। इस प्रकार का इनाम लेकर लोग बाँध बाँधकर तैयार करते थे।

कल्याणपुर के पास ८००) रु० खर्च कर बाँध बांधा जा सकता था इसमें से ४००) रु० सरकार ने दिये और ४००) रु० जिसकी ज़मीन उस बाँध से सींची जा सकती थी उन्होंने दिये।

"तुंगभद्रा की एक नहर का बाँध फूट जाने से हानि होने लगी तब कमावीसदार को कोपल परगने की आमदनी में से २०००) ही खर्च करने को मंजूरी देकर जमाबंदी में वह रकम मुजरा की गई" (रोजनामचा माधवराव पेशवा)

गाँवों का ठेका (इजारा) दिया जाता था। इजारे की रक़म से कमावीसदार अगर ज्यादह माँगते थे तो उनको हिदायत दी जाती थी।

"गाँव की अथवा निजी खेत की सीमा के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो सरपंच के द्वारा अथवा कसम (शपथ) पर सीमा निश्चित की जाय" (रोजनामचा शाहू महाराज)

"गाँव की ज़मीन वस्ती करने को दी जाती तो चालू ज़मीन के हिसाब में जमा ख़र्चकर उसकी तौजी जमाबंदी में कम कर दी जावे" (रोज़नामचा माधवराव पेशवा)

गाँवों के कर्मचारी।

गाँव के कामवालों को गाँव के लोगों की ओर से सालियाना जो बंधा रहता था दिया जाता था और सरकारी कर के मुताबिक उसकी वसूली होती थी। शाहू महाराज के रोजनामचे में पटेल व पटवारी का मान और कर इस प्रकार लिखा हुआ है—

पटवारियों का मान (१) शिरोपाव, (२) दुकान के लिए तेल प्रतिदिन ६ टक, (३) चम्हार के यहाँ से वर्ष में जूते का जोड़ा १, (४) कोली पानी भरे, (५) हर एक त्योहार पर लकड़ी की मोली १, (६) स्याही के लिए तेल और कागज़ बाँधने के लिए कपड़े का रूमाल, (७) तबोली के यहाँ से पटेल से आधे पान, (८) दिवाली और दशहरा को

बाजा बजानेवाले बजावें, (९) माली के यहाँ से डाली, (१०) मंदिर की आमदनी का हिस्सा।

मजमूदारों के वेतन के अधिकार इस प्रकार थे।

सरकारी नकद तौजीपर १) रु० सैकड़ा और एक मंडी अनाज आदि पर १ धड़ी जाय। जलमार्ग से आनेवाली वस्तुओं पर प्रति मंडी ३ पायली। तेल की मंडी पर १० सेर। प्रत्येक मंडी नमक पर ३ पायली नमक। प्रत्येक बैल के पीछे लगान का एक टका (सिक्का विशेष)। ग्वाले के यहाँ से प्रति भैंस पीछे सालियाना आधा सेर मक्खन। तेली की घानी पर प्रतिमास प्रतिघानी आधा सेर तेल। चमार के यहाँ से एक जूतों का जोड़ा मिले। इसी प्रकार देशमुख, देशपांडे, नाडगौडा, चौगुला आदि के भी हक निश्चित किये गये थे। एक दृष्टि में ये सब बातें झगड़े की दीखती हैं, परन्तु उस समय यह सब व्यवहार गाँव में होता था और सबोंको मालूम था तथा सब मानते भी थे। ये सब बिना किसी झगड़े के सालियाना वसूल होते थे। यदि कोई झगड़ा होता भी तो गाँव के नाम से हट जाता था। यदि पटेल और कुलकर्णियों के गारत प्रजा भाग जाती थी तो उन्हें फिर बसाने का हुक्म होता था।

प्रजा का संरक्षण

मराठाशाही में गाँवों और लोगों की रक्षा का तथा अपराधों की जाँच का और इन्साफ का बहुतसा काम प्रायः लोग अपने आप ही कर लेते थे। जिले भर में सरकार की ओर से रखवालों का प्रबंध कर दिया गया था। यदि किसी गाँव पर डाका-डकैती आदि हुआ तो

वहाँ आवश्यकतानुसार पुलिस रख दी जाती थी। घाटी-प्रदेश पर चोर-लुटेरों के प्रायः उपद्रव हुआ करते थे। इसलिए वहाँ सदा के लिए या कुछ दिनों तक तहसीलदार की मार्फत चौकियाँ बैठा दी जाती थीं। अपराधियों को पकड़ने के लिए इनाम रखे जाते थे। विशेष अवसर पर यदि किसी गाँव पर पुलिस रखी जाती तो उसका ख़र्च गाँव-वालों से वसूल किया जाता था। इस कर से ब्राह्मण मुक्त नहीं होते थे। यदि यह मालूम हो जाता था कि चोर आदि लोगों की इच्छा धनिकों के यहाँ चोरी करने की है तो पुलिस का ख़र्च धनिकों से ही लिया जाता था, फिर ग़रीबों से नहीं लिया जाता था। पुलिस को शस्त्रास्त्र बिना रोक-टोक दिये जाते थे। तहसीलदार की मातहती में पहरेदार और सवार सैनिक पुलिस का काम करते थे। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल रखे जाते थे। अन्य स्थानों पर तहसीलदार ही कोतवाल का काम करते थे और उन्हें फ़ौजदारी के थोड़े बहुत अधिकार रहते थे।

जेल।

पुलिस की व्यवस्था के समान जेल की व्यवस्था भी अच्छी थी। अपराधियों के पाँवों में बेड़ी डाली जाती थीं; परन्तु प्रतिष्ठित क़ैदी छुट्टे ही रखे जाते थे। क़ैदियों को उनकी स्थिति के अनुसार अन्न या सीधा दिया जाता था। जेल में अपराधियों को बेइज़्ज़त न करने का भी प्रबंध रखा जाता था। ब्राह्मण क़ैदी को ब्राह्मणों के हाथ की रसोई ही दी जाती थी। यदि क़ैदी छुट्टा रखा जाता था तो इस बात का प्रबंध रहता था जिससे वह छड़ियों पर से कूदने न पावे, न विष प्रयोग कर

रने का काम बहुत कम पड़ने के कारण कोर्ट
) रु० सैकड़ा होजाती थी; परंतु यह प्रजा को भारी
ी थी। क्योंकि काम कभी अभी पड़ता था। यद्यपि
मुख्य ग्रंथ स्मृति ग्रंथ माने जाते थे तो भी उनकी
शाचार, कुलाचार और ग्रामाचार के नियमों पर ही
यान दिया जाता था। इस कारण जो गाँव के पंच
वैसा ही न्याय किया जाता था। नदी में स्नानकर
लेकर शपथ का निकाल हो सकता होता तो उसमें
ी कोई आवश्यकता नहीं रहती थी। मुद्दई मुद्दालह
काम करते और न्यायाधीश न्याय का तथा दोनों
वकील का काम करते थे। सरकार को यदि पंच-
पसंद नहीं होता तो फिर दूसरे पंच नियत किये
बड़े बड़े शहरों में प्रजा को पेशवा तक अपील आदि
अधिकार था। परंतु यदि छोटे छोटे दावे भी
तक पहुँच जाते तो फिर उनकी भी सुनाई हो जाती
नल फैसले के अनुसार काम करने के लिए मामलत-
आज्ञा दी जाती थी। तब सरकारी और [illegible] के
नुसार काम किया जाता था। मराठाशाही के अनेक
प्रसिद्ध हुए हैं। इनके देखने से विदित होता है कि
न मामलों का निर्णय सविस्तर लिखा जाता था।

कर और लगान।

[illegible] के लगान के सिवा और भी कई तरह के कर
[illegible] प्रचलित थे। भिन्न भिन्न चीजों पर कर लगता था
[illegible] प्रत्येक गाँव से वसूल की जाती थी। [illegible]
[illegible]

वहाँ आवश्यकतानुसार पुलिस रख दी जाती थी। घाटी-प्रदेश पर चोर-लुटेरों के प्रायः उपद्रव हुआ करते थे। इसलिए वहाँ सदा के लिए या कुछ दिनों तक तहसीलदार की मार्फ़त चौकियाँ बैठा दी जाती थीं। अपराधियों को पकड़ने के लिए इनाम रखे जाते थे। विशेष अवसर पर यदि किसी गाँव पर पुलिस रखी जाती तो उसका ख़र्च गाँव-वालों से वसूल किया जाता था। इस कर से ब्राह्मण मुक्त नहीं होते थे। यदि यह मालूम हो जाता था कि चोर आदि लोगों की इच्छा धनिकों के यहाँ चोरी करने की है तो पुलिस का ख़र्च धनिकों से ही लिया जाता था, फिर ग़रीबों से नहीं लिया जाता था। पुलिस को शस्त्रास्त्र बिना रोक-टोक दिये जाते थे। तहसीलदार की मातहती में पहरेदार और सवार सैनिक पुलिस का काम करते थे। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल रखे जाते थे। अन्य स्थानों पर तहसील-दार ही कोतवाल का काम करते थे और उन्हें फ़ौजदारी के थोड़े बहुत अधिकार रहते थे।

जेल।

पुलिस की व्यवस्था के समान जेल की व्यवस्था भी अच्छी थी। अपराधियों के पाँवों में बेड़ी डाली जाती थीं; परन्तु प्रतिष्ठित क़ैदी छुट्टे ही रखे जाते थे। क़ैदियों को उनकी स्थिति के अनुसार अन्न या सीधा दिया जाता था। जेल में अपराधियों को बेइज़्ज़त न करने का भी प्रबंध रखा जाता था। ब्राह्मण क़ैदी को ब्राह्मणों के हाथ की रसोई ही दी जाती थी। यदि क़ैदी छुट्टा रखा जाता था तो इस बात का प्रबंध रहता था जिससे वह छड़ियों पर से कूदने न पावे, न विष प्रयोग कर

सके। अथवा बीमार हुआ तो वह आत्मघाती न होने पावे, ऐसी व्यवस्था की जाती थी। भोजन के समय राजनीतिक कैदियों की बेड़ियाँ निकाल दी जाती थीं। स्त्रियों को भी जेल में रहने का दंड दिया जाता था। [illegible] में जेल में काठ में ठोंक देने या चाबुक मारने के दंड का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। नजरकैद के अपराधियों को उन्हीं के घर पर रखकर उनकी देख रेख के लिए चौकी या पहरा नियत कर दिया जाता था। साधारणतया उस समय अपराधियों के साथ सद्व्यवहार की नीति सौम्य व्यवहार रखने की थी, ऐसा विदित होता है। राजकीय अपराधों के लिए जो दंड दिया जाता था। वह बहुत कठोर नहीं होता था। प्राणदंड बहुत कम दिया जाता था। राजकीय अपराधी, हाथी के पैरों से या सिर में मेख ठोंककर मार डाले जाते थे। पहले लोगों की बुद्धि में जो व्यक्तिगत अपराध होते थे उन पर सरकार दृष्टि नहीं रखती थी। परन्तु जो सब लोगों के [illegible] डाके डालते और लूटपाट करते थे उनके हाथ-पाँव भी काट डाले जाते थे। अपराधी यदि भाग जाने पर उसे पकड़ने का ऐसा उपाय कर लिया जाता था कि उसके आने तक उसके कुटुम्ब को कैद में रखते थे। इसी प्रकार के बदले का दंड, सिपाहियों के लिए उनके [illegible] से या [illegible] स्वरूप से भोगना था। उस समय के फौजदारी कानून के पालन और दंड के संबंध में ग्रांट डफ साहब इस प्रकार उद्गार प्रकट किये हैं कि 'मराठा राज्यशासन के [illegible] के लिए [illegible] में फौजदारी कानूनों का पालन निर्दयता से [illegible] लोगों को [illegible] किया जाता था और [illegible]

कभी हुआ और न आगे भविष्य में होगा। अपराध के योग्य ही दंड दिया जाता था। कठोर दंड प्रायः कभी नहीं दिया जाता था।"

न्याय-विभाग।

मराठाशाही में फ़ौजदारी और दीवानी क़ानूनों का पालन अच्छी तरह से किया जाता था। पूना में पेशवा के राजधानी ले आने पर सतारा के न्यायाधीश का महत्व कम हो गया था और पूना के न्यायाधीश का पद विशेष महत्व का माना जाता था। इस पद पर ४ विद्वान् और निःस्पृह शास्त्री की नियुक्ति की जाती थी। पूना के न्यायाधीश रामशास्त्री की योग्यता प्रसिद्ध ही है। पूने की मुख्य अदालत के समान प्रान्त प्रान्त में भी छोटी छोटी अदालतें थीं। इसके सिवा मामलतदार और तहसीलदारों को भी फौज़दारी-दीवानी के कुछ थोड़े अधिकार रहते थे। तभी बहुत से झगड़ों का न्याय प्रायः निजी तौर पर ही होता था। यदि शपथ लेने या कष्ट देने पर भी झगड़ा तय न होता था अथवा साहूकार, क़र्ज़दार से वसूली करने में किसी प्रकार असमर्थ होता तो सरकारी अदालत की शरण ली जाती थी। और यह हो जाने पर आपस में पंचों के द्वारा, झगड़ा तोड़ने का अवसर दिया जाता था। पंचों का फसला अमान्य होने पर सरकारी अदालतों का उपयोग अपील के लिए किया जाता था। प्रारंभिक जाँच, गवाहियाँ, सुबूत आदि का काम प्रायः सरकारी कचहरियों में नहीं होता था। क़ानून का स्पष्टीकरण करने का अवसर आने पर न्यायाधीश के सन्मुख प्रश्न उपस्थित किया जाता था। सरकारी अदालतों में दावा

दावा दायर करने का काम बहुत कम पड़ने के कारण कोर्ट फीस २५) रु० सैकड़ा लीजाती थी; परंतु वह प्रजा को भारी नहीं होती थी। क्योंकि काम कभी कभी पड़ता था। यद्यपि कानून के मुख्य ग्रंथ स्मृति ग्रंथ माने जाते थे तोभी इनकी अपेक्षा देशाचार, कुलाचार और ग्रामाचार के नियमों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कारण जो गांव के पंच कह देते वैसा ही न्याय किया जाता था। नदी में स्नानकर या शपथ लेकर दावा का निकाल हो सकता होता तो उसमें वकील की कोई आवश्यकता नहीं रहती थी। मुद्दई मुद्दालह ही अपना काम करते और न्यायाधीश न्याय का तथा दोनों पक्षों के वकील का काम करते थे। सरकार को यदि पंच-फैसला मंजूर नहीं होता तो फिर दूसरे पंच नियत किये जाते थे। बड़े बड़े दावों में प्रजा को पेशवा तक अपील आदि करने का अधिकार था। परंतु यदि छोटे छोटे दावे भी पेशवा तक पहुंच जाते तो फिर उनकी भी सुनाई हो जाती थी। अंतिम फैसले के अनुसार काम करने के लिए तहसील-दार को आज्ञा दी जाती थी। तब सरकारी और [illegible] से उसके अनुसार काम किया जाता था। मराठाशाही के अनेक फैसले प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हें देखने से विदित होता है कि उस समय झगड़ों का फैसला सविस्तर लिखा जाता था।

कर और लगान।

जमीन के लगान के सिवा और भी कई तरह के कर उस समय प्रचलित थे। जिन जिन धंधों पर कर लगता था और उसका [illegible] प्रत्येक गांव में वसूल की जाती थी। जैसे व्या-पार [illegible] होते थे उनपर लगान माफ [illegible]

जाती थी। जकात की वसूली बहुत शान्ति से होती थी। बिना माफ़ी के परवाने के यदि पेशवा के लिए भी माल आता हो तो उस पर भी जकात ली जाती थी। कहा जाता है कि माधवराव साहब पेशवा की माता गोपिका बाई ने निजी देव-मंदिर बनवाने के लिए मलेवार से लकड़ी मंगाई। उसपर श्रीमंत (पेशवा) के घर की लकड़ी होने के कारण जकात नहीं ली गई। तब यह बात माधवराव साहब के कानों तक पहुँची। इस पर उन्होंने व्यवस्था की रक्षा के लिए अपने निजी द्रव्य में से जकात चुकाई।

व्यापार।

इस संबंध में हम अपना मत पहले ही प्रगट कर चुके हैं कि मराठों ने अंगरेज़ों को अपने राज्य में व्यापार करने की छूट देकर कोई भूल नहीं की है। मराठाशाही में न केवल अँगरेज़ ही वरन अन्य विदेशी भी आकर बिना रोक टोक व्यापार कर सकते थे और उन्हें सब तरह के सुभीते दिये जाते थे। शाहू महाराज के रोज़नामचे के एक उद्धृत अंश से विदित होता है कि शिवाजी महाराज के समय से अरब लोग समुद्र के पश्चिम किनारे के बंदरों पर आकर साहूकारी करते थे; परन्तु आगे जाकर आंग्रे ने उन्हें रोका। तब 'मस्कत' के अरब मुखिया ने आकर शाहू महाराज से विनय की। इसपर शाहू महाराज ने उनके लिए राजापुर बंदर नियुक्त कर दिया। १७३४ में शाहू महाराज ने अरब के मलिक मुहम्मद का सत्कार किया और जब वह मस्कत को जाने लगा तब उसके लिए जहाज़ आदि का प्रबंध कर दिया। नाना साहब पेशवा के रोज़नामचा पर से विदित होता है

कि चिंतोजी कृष्ण कामत नामक मालवन व्यापारी को बसई में व्यापार करने के लिए जकात माफ़ कर दी गई थी और पालकी, छत्र और रखने की तथा कोठी के लिए स्थान भी दिया गया था (१७४६)।

इसी प्रकार तीन वैश्य साहूकारों को बसई और साष्टी में घर और ज़मीन दी थी तथा आधी लगान माफ़ की थी। (१७५१) उसके अनुसार मुल्ला महम्मद फ़ख़रुद्दीन को अहमदाबाद में व्यापार बढ़ाने में उत्तेजना के रूप में एक लाख रुपये की कीमत के माल पर जकात माफ़ कर दी थी। जल-मार्ग के व्यापार-केन्द्रों पर व्यापार करनेवालों को इसी प्रकार उत्तेजन दिया जाता था और जलमार्ग में नौकादिकों से उनकी रक्षा की जाती थी। जो माल नदी आदि में पड़कर आता और किनारे से लग जाता था वह सरकार में जमा किया जाता था। परन्तु मालकी जहाज़ यदि बहकर आते तो वे उनके मालिकों को ही लौटा दिये जाते थे। उधर कोकणपट्टी के पारसी व्यापारी इन स्थानों को [illegible] अपने जहाज़ों पर लगाकर उन उपनिवेशों से व्यापार करते थे और उन्हें इस संबंध में सुभीते दिये जाते थे। अनेक स्थानों पर सरकारी दुकानें खोली जातीं और उनके द्वारा भिन्न भिन्न वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, जैसे, [illegible] आदि कपड़ा और सरकारी वस्तुओं [illegible] हुए [illegible] आदि। [illegible] का [illegible] किया जाता था। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]

को देखकर बनाने का ठेका दिया जाता था। नमूने के अनुसार माल बनवाने और सरकारी माल देने के पहले बनाया गया माल न बेंचने देने के लिए सरकारी आदमी रख दिया जाता था। नवीन बाज़ार और गाँव आदि बसाने तथा नये हाट शुरू करने की ओर पेशवा का बहुत लक्ष रहता था। ऐसा हाट वगैरह शुरू करने का यदि कोई ठेका लेता तो उसे गाँव में रहने की जगह, गाँव का परवाना, हाटों की दूकानों से या गांवों में रहने को आनेवाले नये मनुष्यों से जगह का उचित भाड़ा और वस्तुओं पर कर वसूल करने की इजाज़त तथा पटवारीगोरी दी जाती थी। सरकारी वसूली का काम या ठेका भी उसे ही दिया जाता था। इस प्रकार की रियायत करने का नाम शेटेपण था। इसके सिवा सरकारी रास्तों या इमारतों के लिए किसी की निजी ज़मीन की आवश्यकता होती तो उसे लेकर या तो उसकी कीमत दे दी जाती थी अथवा बदले में दूसरी जगह देकर उसकी सनद लिख दी जाती थी।

सरकारी कर्ज।

दूसरे राष्ट्रों के समान मराठाशाही में भी आवश्यकता पड़ने पर सरकार ऋण लेती थी। यह ऋण साहूकारों से लिया जाता था। शान्ति के समय में श्रीमंत साहूकारों को किसी प्रकार का भय न होने के कारण तथा ब्याज का भाव बहुत अधिक होने के कारण उनका साहूकारी धंधा बहुत चलता था। साहूकारों के यहाँ प्रायः सब तरह के सिक्कों के रुपये खूब रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर चाहे जितने रुपये आधीरात को भी उनके यहाँ से सरकार के

या सरदार के हुक्म से, गाड़ियों पर थैलियों में भरकर, लाये जाते थे । मराठाशाही में साहूकारों की एक बहुत बड़ी संख्या थी । शाहू महाराज के रोज़नामचों में एक जगह उल्लेख है कि दिल्ली पर चढ़ाई करने को जब बाजीराव गये तब उन्होंने चढ़ाई के ख़र्च के लिए साहूकारों से क़र्ज़ लिया । इस क़र्ज़ की रकम पर तीन रुपया सैकड़ा माहवार क़र्ज़ देने और वसूल न होने पर राज्य की वसूली में से हक़ देने की शर्त ठहरी थी । नानासाहब पेशवा के समय में ब्याज की दर ग्यारह से ग्यारह ॥ रु० सैकड़ा और कभी कभी १॥) सैकड़ा होने का उल्लेख मिलता है । नाना साहब पेशवा के रोज़नामचे में १७४० से १७६० तक सरकार ने जिन साहूकारों से करीब डेढ़ करोड़ का ऋण लिया था उनके नाम की सूची दी गई है । उसपर से विदित होता है कि बड़े बड़े साहूकार कौन लोग थे । उस समय की ब्याज की दर १) रु० से १॥) रु० सैकड़ा मासिक थी । बड़े माधवराव पेशवा के समय में ब्याज की दर कम नहीं हुई थी । सवाई माधवराव पेशवा के समय में भी सरकारी ऋण के ब्याज की दर का यही हाल था । दूसरे बाजीराव पेशवा के रोज़नामचे में सरकारी ऋण का कोई उल्लेख नहीं है । मालूम होता कि बाजीराव के समय में १८०२-०४ में शान्ति होने के कारण सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता नहीं हुई होगी । इसके सिवा सवाई माधवराव के अंतिम समय में नाना फड़नवीस के बंदोबस्त के कारण सरकारी जमा ख़र्च की व्यवस्था उत्तम हो जाने से सरकारी कोष की स्थिति भी अच्छी हो गई थी ।

टकसाल और सिक्के

मराठाशाही के समय में महाराष्ट्र में अनेक प्रकार के सिक्के चलते थे। किसी सिक्के का बदला यदि दूसरे सिक्कों से करना होता तो ऊपर से बट्टा देना होता था। इनका भाव ठहरा लिया जाता था। इससे बड़ी गड़बड़ रहती थी। सिक्कों में असल धातु सोना, चांदी, तांबा रहती थी; पर दूसरी कम कीमती धातु अवश्य मिलानी पड़ती थी। जहाँ का सिक्का वहाँ चलाने से चलती कीमत और वास्तविक कीमत का कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता था; परन्तु दूसरी जगह के सिक्के चलाने में बड़े झगड़े उपस्थित होते थे। इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में हम एक जगह दिखला चुके हैं कि शिवाजी और अङ्गरेज़ों के व्यवहार में एक बार कुछ रकम निश्चित करने का मौका आया तो शिवाजी ने स्पष्ट कह दिया था कि "मैं तुम्हारे सिक्कों की चलनी कीमत को नहीं मानूँगा; किन्तु सिक्कों की जो यथार्थ कीमत होगी उसे मैं मानूँगा। अङ्गरेज़ भी मराठों के सिक्के लेते समय इसी प्रकार का हिसाब करते थे। सम्प्रति सम्पूर्ण भारत में एकछत्री राज्य होने से प्रायः सम्पूर्ण स्थानों पर एक ही प्रकार का सिक्का चलता है। परन्तु निज़ाम हैदराबाद के राज्य में निज़ामशाही सिक्का अभी भी चलता है और उसके कारण मुग़लाई की सरहद पर या मुग़लाई में रेलवे पर प्रवास करते समय प्रवासियों को जो कष्ट होते हैं वे छिपे नहीं है। स्वतः के सिक्के चलाना स्वतन्त्र राजसत्ता का चिह्न है और भारत में निज़ाम, सिंधिया, होलकर आदि राजाओं का वास्तविक स्वातंत्र्य नष्ट हो गया था; तौभी अङ्गरेज़ सरकार ने उनके

सिक्के के स्वातंत्र्य को शास्त्रों ने नहीं छीना था। किन्तु उनकी राजीखुशी से ही सिक्के बंद किये गये। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दि में मराठों और राज्यों की अधिकता होने के कारण एक प्रकार का सिक्का चलना संभव ही नहीं था। दूसरे राजाओं के समान मराठों ने भी अपना सिक्का चलाया था; परन्तु सरकारी टकसाल एक भी नहीं थी। निजी टकसाल खोलने के लिए सरकार की ओर से परवाने दिये जाते थे। इस सम्बन्ध में पेशवा के रोज़नामचे से उद्धृत किये हुए नीचे लिखे परवानों से निजी टकसालों की व्यवस्था किस तरह की जाती थी, यह हमारे पाठक जान सकेंगे।

(नाना साहब पेशवा के रोजनामचे से उद्धृत)—बाला-जी बापूजी नागोठणे टकसाल खोलें। १० मासे का पैसा बनावें। दस मासे का पैसा बना तो अच्छा ही है। यदि कम बना तो दंड दिया जायगा। क़रार तीन वर्ष का किया गया है। ठेके की रकम प्रतिवर्ष क्रमशः ५०), ७५) और १००) रुपया ली जायेगी।

[illegible] टकसाल खोलें। पैसा १० मासे वज़न का बनावें। सिवाय ठेके की रकम ६०), ८०) और १००) रु०।

धारवाड़ में [illegible] ने जब [illegible] टकसाल खोल-कर सिक्के निकाले हैं इससे बहुत नुकसान होता है। इसलिए सब टकसालें खोलकर सिक्का बनाने का [illegible] [illegible] [illegible]

में सरकार को प्रत्येक हज़ार पीछे छः मोहर और छः रुपये दिये जायँ। पहले वर्ष के लिए कर माफ़ किया जाता है। टकसालवाला सिक्के को ताले में रखे। सरकार की ओर से वैतनिक ढालनेवाले सहायतार्थ दिये जावेंगे।

(माधवराव के रोजनामचे से उद्धृत)—नानासाहब ने पहले जो क़रार किया था उसके अनुसार व्यवहार नहीं हुआ। दो वर्षों तक झगड़ा हुआ और मामलतदारों ने भी आज्ञा नहीं मानी। इसलिए कृष्णानदी से तुंगभद्रा तक सब टकसालें तोड़कर धारवाड़ में एक टकसाल खोलने के लिए पांडुरंग मुरार को परवाना दिया गया और ११ तहसीलदार, २१ जमींदार, १६ साहूकार, २१ घटकार, आणकर और कारीगर आदि लोगों को सख्त हुक्म दिया जाय कि वे सिक्का न बनावें तथा सरकारी कचहरियों में इस टकसाल के सिक्के के सिवा दूसरे सिक्के न लिये जायँ। टकसाल के लिए कोयला के वास्ते सरकारी जंगल से टकसालवाले लकड़ी वगैरह लावें तो लाने दी जाय। सन् १७६५

इसी वर्ष नासिक के लक्ष्मण अप्पाजी को सरकारी टकसाल की सनद दी गई और सहायता के लिए १ कर्मचारी, २ सिपाही, ५ कारीगर सुनार, १ लुहार, २ घनवाले, १ सिक्का ढालनेवाला, दिया गया। १००० में ४५ रु० नफ़ा लेने की आज्ञा हुई।

तुकू सुनार और मोराजी सुनार को आज्ञा दी जाती है कि किंचवड़ की टकसाल में रुपया और मुहर खरी नहीं बनतीं। इसलिए तुम्हें नवीन टकसाल खोलने का परवाना दिया जाता है। तुम सूरती सिक्का न बनाकर जयनगरी बनाना और मुहरें हरसनजी जयनगरी के सिक्के की बनाना।

प्रतिवर्ष सिक्के पर सवंत् बदला जाय। मुहर और रुपया में किसी प्रकार का यदि अन्तर पड़ेगा तो दंड दिया जायगा।

यकगाँव नलेगाँव (इंदूरी), नलेगाँव (कमठेरे) वगैरह के अधिकारियों को आज्ञा दी जाती है कि जगह जगह की टकसालों के घर, सरकार में जप्त कर, जो कागज़ वगैरह हों सो सरकार में हमारे (पेशवा के) पास भेज दिये जायें। सन् ११६७ ।

नसराबाद (धारवाड़) में टकसाल खोलने की आज्ञा दी जाय। सोना सिक्का ३॥ मासे का हो। जिसमें २॥ मासे आठ रत्ती अच्छा सोना और हिस्से की जूना मुहर की कम्पा सोना ५॥ रत्ती। मुहर दिल्ली के बादशाही सिक्के की हो और वज़न पौन तोला पौने दो मासा फलसी हो। रुपये का वज़न ११॥ मासे हो। इसमें चाँदी दिल्ली छाप की डाली जाय। सनद के बदले में नज़राना ५०१) रु० देना होगा। सन् ११६७।

(सवाई माधवराव के रोज़नामचे से उद्धृत)—धारवाड़ के रुपया और चांदी में खराब माल रत्ती रहे। यदि ४॥, ५ रत्ती हो तो टकसाल तोड़कर सिर्फ रुपये में जो नुकसान दिखे वह और दंड लिया जाय। जमींदारों को टकसाल के लिए भी यही हुक्म है। सन् ११७७

बीजापुर में मुहरें (सिक्का) बनाने की टकसाल का परवाना मुल्लाय सेठ वगैरह को दिया गया। इससे १,२०१) रु० नज़राना लिया गया। इन्हें यह सूचित किये गये कि दूसरे को परवाना नहीं दिया जायगा और आसपास गाँव अंग्रेज़ों के मुल्कों से दूसरा मुहरें नहीं लाने दिया जायगा और महसूल भी नहीं लिया जायगा। सन् ११८५।

(बाजीराव दूसरे के रोज़नामचे से उद्धृत)—बाँई, क-हाड़ और सतारा में मलकापुरी खोटे रुपये बहुत चल गये हैं। इसलिए चांदोड़ी चालू किये जायँ और सरकारी कामों में चांदोड़ी सिक्के का ही व्यवहार किया जाय। सन् १८०० ।

मराठाशाही के सिक्कों के नाम

पैसे—ढब्बू (दो पैसे का पैसा) १८॥ मासे वज़न का;
अलमगीरी १३॥ मासे; शिवराई ६। मासे।

रुपये—जोधपुरी, चाँदोड़ी, गंजीकोटी, मिटे, खंदार।

होन—गैलोरी, हैदरी, सतगिरी, हरपनहल्ली, कंकरपती,
महमशाही, एकेरी, धारवाड़ी, नवीन धारवाड़ी।

मुहर—दिल्ली सिक्का, अहमदाबादी, चलनी, मालखंड और खटवा १४॥≈) की, सूरती, औरंगाबादी, बनारसी, जहानाबादी, मछलीबंदरी, पट्टणी, लाहोरी, बुरहानपुरी, कीमत १३॥)

आबकारी।

पेशवाई में आबकारी-विभाग नाममात्र का ही था। सरकार को शराब से प्रायः कुछ भी आमदनी नहीं थी। सवाई माधवराव के समय में आबकारी-विभाग की प्रवृत्ति शराब न बनने देने की ओर थी। कोकन में माड (एक प्रकार का वृक्ष) की शराब भी बंद कर दी गई थी। जो फिरंगी गोरे क्रस्तान सरकारी नौकरी में रखे गये थे उनका काम शराब बिना नहीं चलता था। इसलिए उन्हें शराब

बनाने के लिए भट्ठी चलाने की आज्ञा दी गई थी। बन्दूकों की बारूद के लिए जो कल्लाली शराब की आवश्यकता होती थी वह सरकार के ही द्वारा तैयार की जाती थी।

दूसरे बाजीराव के समय में महुए के फूल पर बहुत थोड़ा कर था। सन् १८०० में बलसाड़ के पारसी दादाभाई रतनजी को महुए के फूल खरीदने और बेचने का ठेका ५०) रु० साल का दिया गया था। इसका उल्लेख उनके रोज़-नामचे में किया गया है। पेशवाई में आबकारी का ठेका प्रायः पारसी लोग ही लेते थे।

बेगार और गुलामी।

गुलामी की रीति मराठाशाही में भी चालू थी। यद्यपि किसी से बिना उसकी इच्छा के नौकरी नहीं कराई जा सकती, परन्तु पहले यह बात नहीं थी। उस समय गुलामों को रख कर उन्हें भर पेट खाने को दिया जाता था और उनसे घर नौकरी कराई जाती थी। गुलामों तथा लौंडी आदि की स्त्रियों की खरीद तथा बिक्री भी होती थी। विदेशी व्या-पारी उन्हें आफ्रिका आदि किन्हीं देशों से लाकर इस देश में बेचते थे; परन्तु गुलामों के साथ पाश्चात्य देशों का निर्दयता का व्यवहार नहीं होता था। गुलामी से केवल स्वाधीन काम और इच्छा विरुद्ध नौकरी कराने का ही प्रयोजन था। गुलामों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के बहुत से उदाहरण नहीं मिलते। आजकल भी भारत में बड़े बड़े घरानों खानदानी लौंडियाँ नौकर होती हैं। उस समय गुलाम भी प्रायः इसी तरह के रहते थे; गुलामों की नौकरी ईमानदारी से करने पर उन्हें इनाम दिया जाता था अथवा

ज़मीन आदि देकर सुखी और स्वतंत्र कर दिये जाते थे। एकका ग़ुलाम यदि दूसरे के यहाँ चला जाता, तो सरकार के द्वारा वह जिसका होता उसीको दिलाया जाता था। लौंडियों की गिन्ती पायगा के जानवरों के साथ या मनुष्यों में की जाती थी और उनका हिसाब रक्खा जाता था। लावारिस अनाथ और अत्यन्त दरिद्रियों के ऊपर ग़ुलामी की आपत्ति प्रायः सब देशों में और सब कालों में आती रही है। अङ्गरेज़ी साम्राज्य में भी अभी दास्यता की इस प्रथा को नष्ट हुए पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं। उपनिवेशों में तो यह रीति अप्रत्यक्षरीत्या आज भी चालू है। किम्बहुना आज भी भारत में आसाम प्रभृति स्थानों और भारत के पास सीलोन में आजन्म वचन-बद्ध के रूप में वह थोड़ी बहुत जारी ही है।

प्रवास और डाक

जिस राज्य में पैसा आदि साथ लेकर निर्भय रीति से राजमार्ग के द्वारा लम्बी लंबी यात्रा की जा सकती हो उसे सुराज्य समझने की स्वाभाविक पद्धति सदा से चली आई है। आज भी शान्तिमय अङ्गरेज़ी राज्य का वर्णन करते समय यही कहा जाता है कि "सोना उछालते हुए रामेश्वर से काशी तक चले जाओ कोई पूछने वाला भी नहीं है।" पेशवाई में भी इस दृष्टि से सुराज्य था, ऐसा विदित होता है। सम्प्रति रेलवे हो जाने के कारण सोना उछालते हुए यात्रा करना सरल हो गया है; परन्तु रेलवे में भी चोरी आदि हो ही जाती है। पेशवाई में भी एक बार ऐसा सुराज्य हो गया था। सवाई माधवराव साहब के शासनकाल के सम्बन्ध में

इतिहासकार लिखता है कि "श्रीमन्त सवाई माधवराव के तख्तनशीन होने के पश्चात् पूना से दिल्ली तक लाखों रुपयों की चीज़ें—सोना, चाँदी, इत्यादि—साथ में लेकर निर्भय रीति से यात्रा की जा सकती है । इस प्रकार उनके तेज और प्रताप से अब किसीको कोई भय नहीं है ।"—[राजवाड़े-खण्ड ४]

मराठाशाही में यद्यपि आजकल के समान रेलवे और तार का प्रबन्ध नहीं था तो भी डाक का प्रबन्ध अवश्य था और इस प्रबन्ध के बिना राज्य का कारबार और प्रजा के लोगों का व्यवहार चल नहीं सकता था । यद्यपि उस समय महामार्गों के साधन आज के समान सुधरे हुए नहीं थे, पर समाचार जानने की इच्छा आज से कुछ कम नहीं थी । उस समय सरकारी डाक के सिवा निजी डाक का भी प्रबन्ध था । कहीं कहीं सांडनी सवार या घुड़सवार के द्वारा पत्र भेजे जाते थे । पर, साधारण रीति, मनुष्य के द्वारा डाक भेजने की थी । जो मनुष्य [illegible] में पत्र ले जाता है उसे [illegible] जासूद ही कहते हैं । इसी प्रकार उस समय तेज डाक ले जाने वाले रेवड़ी और हलकारे थे जिन्होंने इसी काम में अपना [illegible] था । [illegible] 'जासूद हलकारा' अथवा 'कासीद' (कासिद) कहते थे । डाक की मंज़िल पर [illegible] डाक बदलता था, [illegible]

कार्यालय में और व्यापारियों की दूकानों पर गत-आगत पत्रों की वही रहती। और बहुधा प्रत्येक सरकारी कार्यालय तथा व्यापारी दूकानों पर से प्रति दिन गाँव गांव पत्र भेजे जाते थे। सामान्य स्थिति के लोग निजी डाक हलकारों के द्वारा नहीं भेजते थे। इनके लिए किसी किसी स्थान पर सरकारी डाक के साथ प्रजा की डाँक भेजने के भी थोड़े वहुत सुभीते रहते थे और इसके लिए उनसे कुछ निश्चित रक़म ली जाती थी।

डाक चमड़े की थैली में बहुत बन्दोबस्त से भेजी जाती थी। यद्यपि डाकवाले के सामान का वज़न कुलियों के समान बहुत भारी नहीं रहता था तो भी भारी होता ही था। सरकारी डाकियों के लिए टप्पे का प्रबन्ध रहता था और ज्यों हीं डाकवाला पहुँचता त्यों ही डाकिये का भार टप्पेवाले को देकर तुरन्त रवाना करने का काम गाँवों के कर्मचारियों पर था और इसमें ज़रा भी भूल हो जाने से उन्हें दण्ड दिया जाता था। डाकिये को सरकार की ओर से चप्पल जूते और लकड़ी दी जाती थी। इस लकड़ी में घुँघरू बंधे होते थे जिससे डाकियों को चलने में घुँघरू के स्वर-पूर्ण शब्द के सुनने से कम परिश्रम पड़े और जङ्गली रास्ते में उस आवाज़ को सुनकर छोटे मोटे जानवर भाग जायं। इसके सिवा उस आवाज़ को सुनकर आगे के टप्पेवालों को भी तैयार रहने की सूचना मिल जाती थी। घुँघरू की आवाज़ सुनकर लोगों को चैतन्य हो जाने का अभ्यास हो गया था और डाक को रोकना एक प्रकार से सरकार के विरुद्ध अपराध समझा जाने लगा था। सरकारी डाक की मंजिल का टप्पा थोड़ा होने से सरकारी डाक तुरन्त पहुंच

जाती थी; परन्तु निजी डाकवाले भी एक एक दिन में तीस तीस पैंतीस पैंतीस कोस की मंजिल मारते थे। कभी कभी तो सरकार के पहले बाज़ार में समाचार फैल जाते थे। डाकियों से जो करार किये जाते थे उसका एक नमूना इस प्रकार से मिलता है कि "काशिद से इकरार किया गया कि वह पचीसवें रोज़ वहाँ (काशी) पहुँचे और वहाँ से पचीसवें रोज़ जवाब लेकर पूना आवे। [illegible] नं० २५) और प्रतिदिन एक सेर अन्न दिया जाय"। अब वर्तमान में भी कलकत्ते से दिल्ली को पन्द्रह दिनों के भीतर भीतर डाक पहुँच जाती थी। सरकारी डाकिये को नदी पर नाव या डोंगी तुरन्त मिलती थी और रास्ते में यदि जङ्गल होता तो नज़दीक के गाँव के पटेलादि उस जङ्गली रास्ते के लिए साथी और मशाल देते थे। पैदल डाक की अपेक्षा हरकारे की डाक और हरकारे की डाक की अपेक्षा काशिद की डाक अधिक जल्दी पहुँचती थी। सरकारी डाकिये को मासिक वेतन मिलता था और निजी डाक के लिए कामपुरता ठहराव कर लिया जाता था जो कि डाक पहुँचा देने पर उसे मिल जाता था। केवल रास्ता खर्च के लिए कुछ थोड़ा बहुत पहले दिया जाता था।

पदवियाँ।

मराठाशाही में भी सम्मान-सूचक पदवियाँ दी जाती थीं। इनके मिलने पर लोग अपने को सम्मानित समझते थे और यह एक स्वाभाविक बात है। [illegible] प्रकार ही रहता है। कुछ पदवियों के नाम इस प्रकार हैं—[illegible], दिलेर बहादुर, समशेर बहादुर, [illegible]

माआव, सेनापति, सेनाखासखेल, सेना साहब सूबे सेना, धुरन्धर, धुरन्धर समशेर बहादुर, महाराव, रुस्तमराव, फतहजङ्ग बहादुर, सरलष्कर, सेनाबार हज़ारी।"

ये पदवियाँ छूँछी नहीं होती थीं, किन्तु इनके साथ साथ जागीर अथवा वेतन आदि कुछ न कुछ मिलता ही था। पदवी-दान का ख़र्च पदवी-प्राप्त पुरुषों से नहीं लिया जाता था। उसके सन्मान में त्रुटि न आने और उसी योग्य कार्य होने की सम्हाल सरकार की ओर से की जाती थी। विट्ठल शिवदेवको अपने यहाँ घण्टा बजाने की परवानगी दी गई थी और साथ में बजानेवाले की भी नियुक्ति सरकार की ओर से की गई। इसी तरह पालकी का ख़र्च और उसे उठाने वाले कहारों की तनखाह [पगार] सरकार से मिलती थी। सन १७१३-१४ में अखेराज नाइक बंजारी लमाणा को नगारा और निशान रखने की आज्ञा दी गई। इसका काम बैलों के टाँके के द्वारा धान्य का व्यापार और माल की आमदरफ़ करने का था। किसीको आबदागीरी या मशाल रखने का मान मिलता तो साथ में आबदागीरी रखने और मशाल जलानेवाला भी सरकार की ओर से ही दिया जाता था। इसी तरह चँवर मिलने पर चँवरवाला भी देते थे।

विद्या-वृद्धि और सुधार।

विद्या-वृद्धि और भौतिक प्रगति करना भी सुधरे हुए राज्यों का एक कर्त्तव्य है; परन्तु उस समय यूरोपियन राष्ट्रों को देखते हुए इस सम्बन्ध में मराठों ने कुछ नहीं किया यही कहना उचित होगा। मराठों का ध्यान विद्या की

अपेक्षा राजकीय कार्यों में ही सदा रहता था। इसके सिवा पूर्ण शान्तिमय काल भी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इन्हीं दो कारणों से मराठों के हाथ से विद्या-वृद्धि और भौतिक सुधार के कार्य नहीं हो पाये। मराठों के समकालीन अङ्गरेज़, मराठों की अपेक्षा शास्त्र, कला और जगत् के ज्ञान में बहुत ही आगे थे। तभी ६ हज़ार मील की दूरी पर से भारत में आये। यह कहना अनुचित न होगा कि मराठे कूप के कीड़े के अथवा पानी मेंढक के समान थे। क्योंकि मराठों को यह मालूम होने पर भी कि महाराष्ट्र और कोंकण प्रान्तों के उपजाऊ न होने के कारण केवल इन्हीं के आधार पर समृद्ध और सुखी होना असंभव है, उनका ध्यान शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने, कला-कौशल सीखने, व्यापार बढ़ाने अथवा खेती सुधारने आदि परोपकारक कार्यों की ओर नहीं गया, इसका कारण था। अपने कामों में महत्त्वाकांक्षी होने पर भी भौतिक सुख के सम्बन्ध में उनका मन सन्तुष्ट होता है। उन्हें अपने प्रिय कार्य का—युद्ध कार्य का—भी पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। इसलिए उन्हें तोप, बन्दूक आदि के लिए परदे-शियों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। जब इन्हीं की यह दशा थी तो दूसरी कला के ज्ञान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या था? यद्यपि [illegible] कलाकृ-तियाँ बहुत कम हैं, तथापि [illegible] मराठों का [illegible] बहुत ही कम है। मराठों का सारा राज-शासन एक शब्द में युद्ध कहा जा सकता है, परन्तु इस [illegible] के कारण [illegible] [illegible] [illegible]

उनका दोष कहा जाता है; परन्तु इस विलासिता की इच्छा के कारण उन्होंने उद्योग, धन्धे, व्यापार, कला-कौशल आदि से बहुत कुछ परिचय बढ़ा लिया था। मुसलमानों का इतने देशों को लांघकर भारत में आना ही यह सिद्ध करता है कि मुसलमानों को भूगोल का ज्ञान मराठों की अपेक्षा अधिक था। नानाफड़नवीस बहुत चतुर थे तोभी उनके दफ़्र से रावबहादुर पारसनोस ने जो भूगोल वर्णन का एक पत्र प्रसिद्ध किया है उसे देखकर हंसी आये बिना नहीं रहती। ग्रण्ट-डफ के इतिहास को कोई इतर कारणों से भले ही नाम रक्खे, पर यह निश्चित है कि उनका मराठों सम्बन्धी ज्ञान किसी भी मराठे से सौगुना अधिक था। मराठों का भूगोल सम्बन्धी ज्ञान प्रायः "दण्डकारण्य माहात्म्य" पर से बना हुआ था और उनके ऐतिहासिक ज्ञान का उग्दमस्थान "भविष्य पुराण" कहा जा सकता है। मराठी (इतिहास) में एक जगह वर्णन है कि सदाशिव भाऊ ने दिल्ली लेने के बाद रूम-शाम का सिंहासन लेने का विचार कह सुनाया था; परन्तु मालूम होता है "रूम-शाम की बाद-शाहत" इन ४ शब्दों के सिवा उन्हें वहां का और कुछ ज्ञान नहीं था। "फराशी" अर्थात् फ्रेञ्चों को वे प्रत्यक्ष जानते थे; परन्तु उनके पूर्वेतिहास को जानने की मराठों ने कभी इच्छा प्रगट नहीं की। टीपू ने अपना वकील पेरिस (फ्रान्स की राजधानी) में भेज कर वहाँ अपने वकील के निवास-स्थान पर कुछ दिनों तक अर्द्धचन्द्र-चिह्नित ध्वाजा उड़ाई थी। इससे विदित होता है कि मराठों की अपेक्षा टीपू को परदेश का ज्ञान बहुत अधिक था। कहा जाता है कि "बर्क" के समय में दो ब्राह्मण विलायत गये थे; परन्तु मराठी दफ़्रों

में इतिहास-संशोधकों को ऐसा कोई कागज़ नहीं मिला जो अंगरेज़ों के ही हाथ का लिखा हो और जिससे यूरोप का परिचय मिलता हो। मराठी कागज़ों में इस समाचार का उल्लेख मिलता है कि "फ्रान्स की प्रजा ने अपने राजा को मार डाला"। पर इस पर से यही सिद्ध होता है कि तत्कालीन फ्रान्स राज्य-क्रान्ति का भी परिचय इन्हें नहीं था जो कि उस समय सहज ही प्राप्त किया जा सकता था। श्रीयुत राजवाड़े लिखते हैं कि "उस समय के यूरोपियन दरबारों में अर्थात् पञ्चदश लुई, महान् फ्रेडरिक और द्वितीय जार्ज के दरबारों में और राज्य में भूगोल का जो ज्ञान था उसकी अपेक्षा पेशवाई दरबार का भौगोलिक ज्ञान बहुत क्षुद्र था, ऐसा स्वीकार करना उचित है। गणित, ज्योतिष, पदार्थ रसायन शास्त्र, इत्यादि अर्वाचीन शास्त्रों के अतिरिक्त यूरोप के जिन जिन शास्त्रों का ज्ञान था पेशवा के राज्य में उनकी गन्ध भी नहीं थी। न कि केवल पाठशाला, विद्यापीठ, चित्रशाला, औषधालय, नाट्यशाला, शोधशाला, कृषी-संवर्धन, आदि यूरोपियन संस्थाओं के तत्सम स्वरूप ही पेशवा के राज्य में नहीं थे, किन्तु इंग्लैंड में जहाँ ऐसी संस्थाएँ हैं उनका भी पता मराठों को बिलकुल नहीं था। इन सब बातों का सार इतना ही है कि अठारहवीं शताब्दि में मराठों की संस्कृति यूरोप के सुशिक्षित राष्ट्रों की अपेक्षा कम दर्जे की थी।" राजवाड़े ने इस प्रकरण में बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि [illegible] से युद्धकला [illegible] ली। परन्तु [illegible] [illegible] में [illegible] विद्या की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

विद्या केवल अधिकारी लोगों को ही दी जाती थी और वेदों का पढ़ना यही वैदिकों का काम था। वेदों की भाषा का यदि अभ्यास था तो बहुत ही थोड़ा था। ऐसी स्थिति में छापेखाने की आवश्यकता ही न थी। उस समय यही कल्पना थी कि धर्म-ग्रन्थों के सिवाय स्वतन्त्र वाङ्मय कोई हो ही नहीं सकता। आजकल महाराष्ट्र, मोरोपन्त की कविता को वाङ्मय में स्थान देता है। उस समय पेशवाई काल में उसकी गणना धर्म-ग्रन्थों में शायद ही की जाती। उनके ग्रन्थों में भारत, रामायण, भागवत आदि के विषयों का वर्णन और भक्तिप्रधान स्फुट कविता होने के कारण उन्हें धर्म-ग्रन्थों में ही स्थान देना उस समय के लोग अच्छा समझते थे। उनकी भी पोथियाँ लिखी जातीं और ब्राह्मणों ने उनका स्पर्श अ-ब्राह्मणों को करने दिया होता। वेद, वेदाङ्ग, पुराण तो धर्मग्रन्थ हैं ही; परन्तु प्रत्येक विद्या को, धर्म पर मानने-धर्म की परिधि में खींचने-की प्रवृत्ति उस समय बहुत अधिक थी। धर्म विचार की यह एकलौती दिशा को छोड़ दें और व्यावहारिक शिक्षा ही पर विचार करें तो उस समय वह शिक्षा भी बहुत कम थी। साधारण अक्षर-ज्ञान सरल गणित, हिसाब और थोड़ासा संस्कृत का ज्ञान ही उस समय के उच्च-श्रेणी के गृहस्थ की शिक्षा का पठन-क्रम था।

भौतिक-सुधार के लिए जिस प्रकार साहित्य-प्रसार आवश्यक होता है उसी प्रकार व्यवहार चातुर्य प्राप्त करने के लिए परदेश-गमन भी आवश्यक है; परन्तु मराठों ने पर-देश-गमन को वर्जनीय माना था। और स्वदेश में भी इधर-उधर यात्रा कर सृष्टि-निरीक्षण करने और दूसरों की कला-

कुशलता सीखने की ओर ध्यान नहीं दिया था । अतएव उपयोगी वस्तुओं के लिए उन्हें दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था । यद्यपि राज्य-सत्ता की धुन में उन्हें स्वदेशी वस्तु व्यवहार की आवश्यकता नहीं दिखी होगी; पर आगे जाकर वे अपना परावलम्बित्व खूब अच्छी तरह समझ गये होंगे । पलीतेदार तोपें, बन्दूकें, पानीदार तलवारें, कटारी, गोलाबारूद, दूरबीन आदि युद्धोपयोगी पदार्थ इसी प्रकार घड़ियां, दवाइयां, कांच के झाड़ (झूमर), कांच, उत्तम रेशमी कपड़ा, बारीक मलमल आदि व्यवहारोपयोगी पदार्थों के लिए मराठों को अङ्गरेज़, चीनी, मुसल्मान प्रभृति लोगों पर अवलम्बित रहना पड़ता था । परदेशी व्यापारी मराठों की फ़ौज में मालदार बने थे । विलायती अथवा उपयोगी पदार्थों को न लेने की मराठों के मन में इच्छा नहीं थी ऐसा समझना भूल है; परन्तु यह सच है कि पदार्थों को स्वयम् उत्पन्न करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी ।

मराठाशाही की शिक्षापद्धति आज से बहुत भिन्न प्रकार की थी । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उस समय सार्वजनिक शिक्षा-संस्था नहीं थी । व्यावहारिक शिक्षा के लिए गुरु के [illegible] की शिक्षा के लिए शास्त्रियों के घर में पाठशाला रहती थी । गुरु की ही सहायता, कृपा और [illegible] पर गुरु होने की प्रथा था और पाठशाला में सब शिक्षा [illegible] की जाती थी [illegible] नहीं, किन्तु [illegible] की [illegible] शास्त्रियों के यहां से भोजन दिया जाता था । और पढ़लिखकर विद्वान् हो जानेवाले शिष्य अपने गुरु का नाम अभिमान पूर्वक लेते और गुरु के घराने की प्रतिष्ठा का स्मरण करते

रहें, यही गुरु के विद्यादान का बदला होता था। सरकार ने यद्यपि पाठशालाएं नहीं खोली थीं; परन्तु विद्वान् शास्त्रियों को सरकार की ओर से जो वार्षिक वृत्ति और जागीर आदि दी जाती थी उससे अप्रत्यक्ष रीति से शिक्षा को सहायता मिलती थी। पेशवा के रोज़नामचे में और अन्य स्थानों पर भी वैदिक शास्त्री पण्डितों को ज़मीन आदि इनाम में देने का प्रमाण मिलता है। उनसे विदित होता है कि केवल सुख से रहकर स्नान सन्ध्या करने और राज्य का अभीष्ट चिन्तन करते हुए आशीर्वाद देते रहने के लिए ही इनाम दिये जाते थे। उस समय केवल धर्माचरण करनेवाले और स्नान-सन्ध्या, पठन-पाठन आदि में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करनेवाले बहुत से लोग थे। वेदशास्त्र का अध्ययन और पण्डिताई की शिक्षा देनेवाले विद्या-पीठ मुख्य मुख्य तीर्थ स्थानों पर होते थे। और आद्यपीठ काशी में थे। कर्म, धर्म, संयोग से काशी, प्रयाग, गया आदि उत्तर प्रान्त के तीर्थ-स्थान विजातीय लोगों के शासन में रहे। मराठों ने अपनी सत्ता के बल उनपर अधिकार करना चाहा; पर उनका प्रयत्न सफल न हो सका। तो भी विद्या की दृष्टि से महाराष्ट्र और काशी का सम्बन्ध तीन-चार सौ वर्षों तक आबाधित बना रहा। काशी में जो विद्वान् प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे उनमें दक्षिणी पण्डित बहुत प्रसिद्ध थे। सन् १६११ में "संस्कृत विद्या का पुनरुज्जीव" इस विषय पर केशरी में इस ग्रंथ के मूल लेखक श्रीयुत केलकर ने एक लेख माला लिखी थी जिसमें "काशी में दक्षिण के पण्डितों के घराने" पर भी एक लेख लिखा था। उसे पढ़ने पर पाठकों को इस सम्बन्ध में बहुत कुछ परिचय प्राप्त होगा।

वेद शास्त्रों का शिक्षण ब्राह्मणों ही तक था और यह बात शिवाजी महाराज को भी मान्य थी। अङ्गरेज़ी शिक्षा और अङ्गरेज़ लोगों से परिचय हो जाने से आज हमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था मान्य नहीं है। जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और उससे उत्पन्न हुए अधिकार को आजकल के शिक्षितों में से बहुत कम मानते हैं। उन्हें अपने आज के मत ही निर्विवाद दिखते हैं; परन्तु कोई भी विचार त्रिकाला-बाधित नहीं होते। आज जिन्हें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ठीक नहीं जंचती उनमें से बहुत से लोग यदि पूर्वकाल में होते तो उन्हें आज का मत उचित नहीं दीखता। नदी के पेट में जिस तरह पत्थर के टुकड़े भिन्न भिन्न रूप के बन जाते हैं उसी तरह काल के वेग में, विचार भी भिन्न भिन्न बनते हैं। शिवाजी यदि ब्राह्मणों को निःसत्त्व करना चाहते तो कर सकते थे और [illegible] के पास जाकर उन्हें शूद्र बनाने का साहस भी [illegible] शिवाजी ने नहीं किया था; परन्तु शिवाजी ने स्वयं ही वैदिक धर्म चलाने की इच्छा की और महाराष्ट्र [illegible] के बदले उन्होंने अपना [illegible] यदि आज की [illegible] के अनुसार उन्हें इस प्रकार के कार्य करने की कोई आवश्यकता नहीं थी; परन्तु उन्होंने ऐसा किया और इसका कारण यही है कि उनके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

कर्म करने की अभिलाषा रखते और भीतर से ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं, ऐसा दुमुँही व्यवहार शिवाजी ने इस सम्बन्ध में नहीं किया। क्षत्रिय और ब्राह्मण शब्द एक प्रकार के अनुयोगी सम्बन्धों के कारण स्थायी रीति से एक दूसरे से जकड़ गये हैं। इसलिए यदि कोई चाहे तो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सारी की सारी अमान्य कर सकता है; परन्तु अपने मतलब का एक अंश मान्य और शेष अमान्य नहीं किया जा सकता। जिस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में क्षत्रिय भूषणरूप माने गये हैं उसीमें ब्राह्मणों को भी विशेष स्थान दिया गया है। और इसीलिए मराठाशाही में क्षत्रिय लोग अपने को क्षत्रिय प्रगट करते हुए भी ब्राह्मणों को उचित सम्मान देना चाहते थे। एक दृष्टि से उनका ब्राह्मणों को इस प्रकार गुरुत्व का सम्मान देना चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के लोगों में अपना सन्मान करना था। क्योंकि इस अवस्थाके ब्राह्मणों से नीचा, पर अन्य सबों से ऊंचा, क्षत्रियों का पद है। मराठाशाही के समय में मराठों के द्वारा ब्राह्मणों का सन्मान वर्ण व्यवस्था के अनुसार होने के ही प्रमाण प्राप्त होते हैं और ऐसा सन्मान करनेवालों में शिवाजी अग्रसर थे। इस प्रकार जब मराठाशाही में क्षत्रियों ने ही ब्राह्मणों का अभिमान रक्खा तो पेशवाई में ब्राह्मणों के अपने अभिमान करने में क्या आश्चर्य है? इस विवेचन पर से यह सिद्ध होता है कि उस समय मराठाशाही में यही मान्यता ज़ोरों पर थी कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कारण पढ़ने-लिखने का काम ब्राह्मणों का ही है। उन्होंने अपना यह काम सम्हाल लिया था; अतः उन्हें शिक्षा के अर्थ धर्मादाय की रक़म में से बहुत कुछ मिल जाया करती थी। इस सम्बन्ध में पेशवा ने भिन्न भिन्न

जातियों के अन्तर-भेदों का अभिमान कभी नहीं किया। काशी से रामेश्वर तक पेशवा के धार्मिक दान पहुँचते थे। श्रावण मास में सम्पूर्ण भारत के पञ्चद्राविड़ों ही नहीं, किन्तु पञ्चगौड़ों का भी सम्मान किया जाता था। वेद-विद्या की शिक्षा के सिवा जाति-भेद का प्रश्न उस समय अन्य बातों में नहीं दिखलाई देता था। क्योंकि मराठाशाही में मुसल्मानों के फ़कीर औलिया आदि साधु-सन्तों तथा उनके देवस्थानों को दान दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह धर्मार्थ सेवा करनेवालों, जल क्रिया करनेवालों, अथवा [illegible] बनवानेवालों का मार्ग में छाया करने के लिए वृक्ष लगानेवालों और पानी की प्याऊ बैठानेवालों को उनकी जाति पर ध्यान न देकर इनाम दिया जाता था। शाहू महाराज के राजत्वकाल में [illegible] और नाना साहब के राज्यकाल में [illegible] आदि लोगों के नाम मिलते हैं जिन्हें सरकार की ओर से इनाम दिये गये थे। इससे [illegible] जाति-भेद सम्बन्धी [illegible] हो जाती है। तात्पर्य यह कि सरकार को किसी भी कार्य में जाति-भेद का विचार अधिक नहीं था और जाति के अनुसार [illegible] जातियों को मिलता था।

प्रकरण चौथा।

मराठों की बादशाही नीति।



किसी भी राष्ट्र की कार्य परम्परा के अन्तरंग में एक निश्चित नीति रहती है। इसी तरह मराठों का इतिहास देखने से भी विदित होता है कि उनके शासनकाल के भिन्न भिन्न भागों में भी उनकी निश्चित नीति अवश्य कार्य कर रही थी। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि सन् १६४६ तक मराठों की नीति, मुसलमान बादशाहों के आश्रम में अपनी अपनी जागीर का उपभोग करते हुए परतन्त्रतापूर्वक, किन्तु सुख से, रहने की थी। शिवाजी के समय में मराठों की नीति, एक छोटा ही क्यों न हो, किन्तु स्वतन्त्र-स्वराज्य स्थापित करने की हुई। फिर शिवाजी महाराज की मृत्यु के बाद शाहू महाराज के दक्षिण से लौटने तक शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य की रक्षा मुग़लों के आक्रमणों से करने की मराठों की नीति रही। फिर शाहू महाराज से सवाई माधवराव पेशवा तक स्वराज्य को सम्हालते हुए सम्पूर्ण हिन्दुस्थान पर सत्ता स्थापित करने और दिल्ली की बादशाहत को औपचारिक रीति से बनाये रखकर प्रत्यक्ष व्यवहार में हिन्दू बादशाहत का उपयोग करने

को मराठों की नीति हुई। दूसरे बाजीराव के समय से मराठी नीति फिर सङ्कुचित हुई और अंग्रेज़ों आदि से राज्य की रक्षा करते हुए, बन पड़े तो नवीन राज्य प्राप्त करने की नीति, मराठों ने स्वीकार की। सन् १८१८ से मराठी नीति ने फिर अपना वही मूल क्रम पकड़ा और आज तक मराठे रजवाड़ों ने यही नीति ग्रहण कर रक्खी है कि अंगरेज़ सरकार के आश्रय में रहकर येनकेनप्रकारेण अपने हित की रक्षा की जाय और बादशाह से सम्मान प्राप्त करके बादशाहत की रक्षा की जाय।

मराठों की यदि कोई बादशाही नीति रही है तो वह सन् १७०७ ई० से १७८४ तक रही और इसी नीति के वास्तविक स्वरूप का विचार करना यहाँ आवश्यक है। "बादशाही नीति"—इस पद के दो तात्पर्य होते हैं, एक तो यह कि दिल्ली के बादशाहों के साथ मराठों की नीति, दूसरा यह कि अपने को बादशाह समझने या बनने की नीति; परन्तु महाराष्ट्रीय इतिहास में दिल्ली की बादशाहत और मराठों की नीति [illegible] आधार पर थी। दिल्ली की बादशाही तुड़वाकर मराठी बादशाहत स्थापित करने की नीति ग्रहण करने के विचार मराठों के मन में भले ही उठे हों; परन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शब्द भी अपने मुँह से बाहर नहीं निकाला। राजकीय महत्वाकांक्षा की मर्यादा नहीं हो सकती और यह होना भी क्यों चाहिए? "महत्वा-कांक्षा" में एक गुण, [illegible] उचित है। [illegible] यदि कोई [illegible] होने की आकांक्षा [illegible] राजनीति की दृष्टि से [illegible] आज नहीं [illegible] [illegible] [illegible] यदि [illegible]

इच्छा कोई भी कर सकता है अथवा जिसके शरीर में बल हो वह प्रयत्न भी कर सकता है। यह बात दूसरी है कि वस्तु-स्थिति ही इस प्रकार की हो कि सम्पूर्ण जगत् का राज्य न तो आज तक किसी को मिला और न भविष्य में किसी को मिलेगा। इसी दृष्टि से मराठों की बादशाही महत्त्वाकांक्षा का न्याय हमें करना चाहिए।

आजकल अङ्गरेज़ों को और उनके पहले मुसलमानों को भारत में अपनी साम्राज्य-सत्ता स्थापित करने का जितना अधिकार है अथवा था उतना ही मराठों को मराठी साम्राज्य स्थापित करने का था। यह बात अलग है कि किसी का अधिकार सिद्धि को प्राप्त हो सका और किसीका न हो सका। किम्बहुना इन सबों मराठों का अधिकार ही अधिक ठहरेगा। क्योंकि मराठे हिन्दू थे और इस दृष्टि से हिन्दू बादशाहत इनके पूर्वजोपार्जित थी। न्याय और नीति तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कार्य सिद्धि पर अवलम्बित नहीं हो सकती, क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि अन्याय अथवा अनीतिपूर्ण कार्य सिद्ध हो जाता है और न्याय एवं नीतिपूर्ण यों ही रह जाता है। अठारहवीं शताब्दि में मराठों ने जो भारतवर्ष भर में मराठी बादशाहत स्थापित करने का नाम तक नहीं लिया उसका कारण केवल परिस्थिति थी। जो बात सर्वथा असम्भव दिख रही हो उसे कहकर दिखाने में कोई चातुर्य्य नहीं है। क्योंकि अशक्य बात कहनेवाले के धैर्य का सत्कार न कर लोग उसकी हँसी ही करते हैं। अठारहवीं शताब्दि में मराठों के मन की अन्तर्गुहा में जो बात छिपी हुई थी उसपर हमें विचार करना नहीं है, किन्तु व्यवहार में उन्होंने जिस नीति से काम लिया उसीका यहाँ

विचार करना है। अतः दिल्ली के बादशाह के साथ उनकी जो नीति थी उसे ही उनकी "बादशाही नीति" का वाच्यार्थ समझकर यहाँ विचार करना उचित है। उनकी यह नीति एक शताब्दि के लगभग रही। इसीपर से उसके महत्त्व, व्यापकत्व और विस्तार की कल्पना की जा सकती है।

दिल्ली की बादशाहत के सम्बन्ध में मराठों की नीति क्या थी इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि मराठे दिल्ली की बादशाहत को नष्ट न कर उसकी दीवानगीरी या उसका सेनापतित्व अपने हाथ में लेकर संयुक्त (मराठों के और बादशाह के) अधिकारों के बल पर अपने राज्य की रक्षा और वृद्ध करने के साथ साथ भारतवर्ष के सब राजा महाराजाओं पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। अर्थात् नाम से नहीं,परन्तु काम से हिन्दू बादशाहत स्थापित करने की उनकी नीति थी। इसपर से यदि कोई यह कहे कि स्वतः अपने नाम की बादशाहत स्थापित करने और केवल कार्य में बादशाहत का अधिकार भोगने में कुछ विशेष अन्तर नहीं है तो यह कथन ठीक न होगा, क्योंकि दिखावे को भी बहुत महत्त्व-प्राप्त होता है। शक्याशक्य का विचार करने में दिखाऊपन को भूल जाने से काम नहीं चलता। क़ानूनीपन में न्याय का नव-दशमांश रहता है; परन्तु क़ानूनी व्यवहार के लिए दिखावे की ही बहुत सहायता रहती है। मराठों ने दिल्ली की बादशाहत नष्ट करने का ही निश्चय क्यों नहीं किया? इसका सरल उत्तर यह है कि उस समय वे वैसा कर ही नहीं सकते थे और यदि उनके प्रयत्न का लोगों को संशय हो जाता तो जो काम कर सके वह भी न कर

पाते। साथ ही उन पर उनके राज्य के नष्ट होने का प्रसङ्ग भी आ गया होता।

पहले तो भारतवर्ष भर में हिन्दुओं की बादशाहत स्थापित करने का काम ही कठिन था। उसमें भी केवल मराठी राजवंस की सत्ता स्थापित करना और भी अधिक कठिन था। शिवाजी की जो एकतन्त्री राजसत्ता जो महाराष्ट्र में स्थापित हुई और दो सौ वर्षों तक उनके घराने में रही इसका कारण एक तो मराठा राज्य का अधिक विस्तृत न होना था, दूसरे अपने राज्य-कार्य-भार में दूसरों को सम्मिलित करने के लिए शिवाजी महाराज ने अष्टप्रधान की रचना कर राज्य को सङ्गठित कर दिया था। तिस पर भी शिवाजी महाराज की तीसरी पीढ़ी में ही वास्तविक सत्ता उनके घराने में न रहकर पेशवा के हाथ में आ गई और पहले बाजीराव पेशवा के समय में यह विश्वास होने लगा कि केवल अपने घराने में यह सत्ता अबाधित न टिक सकेगी। अतः उन्होंने यद्यपि शिवाजी महाराज का अनुकरण कर अष्ट-प्रधानों का पुनर्निर्माण नहीं किया तोभी राज्य के आधारभूत बड़े बड़े सरदारों का निर्माण किया। शिवाजी महाराज के समय में राज्यविस्तार अधिक नहीं था, अतः स्वयम् महाराज अष्टप्रधानों के कामों की डोर अपने हाथ में रख अपनी जगह पर बैठे-बैठे हाथ की रेखाओं के समान अपने राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था को देख सकते थे; परन्तु यदि राज्य का विस्तार दिन पर दिन उन्हींके सामने बढ़ा होता तो फिर उन्हें भी एकतन्त्री राज्यसत्ता चलाना कठिन होता और लाचारी से सरदारों को न्यूनाधिक स्वतन्त्रता देनी ही पड़ती।

पेशवा की स्थिति स्वयम् शिवाजी महाराज की स्थिति से भी अधिक विकट थी। क्योंकि शिवाजी महाराज के उत्तराधिकारियों में कर्तृत्व शक्ति न रहने के कारण उन्हें राज्य का उत्तरदायित्व पूना में अपने ऊपर लेना पड़ा था। इसके लिए यद्यपि वे एक दृष्टि से निर्दोष भी माने जा सकते हैं तो भी जो लोग उनके इस कार्य को अधिकार-लालसा का रूप देते थे वे पेशवा से स्पर्द्धा और ईर्ष्या करते थे। पेशवा का घराना खान्दानी-इतिहास-प्रसिद्ध घराना न था। ये तो कोकण प्रान्त से आए हुए थे। जो लोग सैकड़ों वर्षों से महाराष्ट्र के ख़ान्दानी रईस थे वे यही समझते थे कि शाहू महाराज को भुलावे में डालकर षड्यन्त्रकारी पेशवा ने राज्य-सत्ता अपने हाथ में ले ली है। भले ही पेशवा यह कहें कि "मराठी राज्य-सत्ता की धुरी हमने अपने कन्धों पर ली है"; पर प्रति स्पर्द्धियों का यही कहना था कि ब्राह्मणों ही को पेशवा पद क्यों मिले और उसमें भी इन कोकणस्थ ब्राह्मणों को ही क्यों दिया जाय; परन्तु पेशवा के घराने में दो तीन पीढ़ियों तक एक के बाद एक कर्मण्य, पुरुष उत्पन्न होने से प्रतिपक्षी उनका कुछ न कर सके और उनके हाथ से सत्ता छीनना कठिन हो गया। पहले पेशवाई पद वंशपरम्परागत नहीं था परन्तु इनके ज़माने में वह भी ऐसा ही हो गया। अतः पेशवा के शत्रु मनही मन और भी अधिक जलने लगे। उनकी जलन कम नहीं हुई। केवल एक इसी कारण से दाभाड़े गायकवाड़, भोंसले, आदि अनेक सरदार पेशवा से शत्रुता रखते थे। पेशवा हर समय यह जानते थे कि राजाधिकार हरण करने का आरोप हमारे ऊपर लगाया जाता है; अतः जो बात शिवाजी को न करनी पड़ी वह पेशवा

को करनी पड़ी अर्थात् सरदारों को स्वतन्त्र जागीर और सर-ञ्जाम देकर उनकी महत्वाकांक्षा का समाधान करना पड़ा।

हम ऊपर दिखा चुके हैं कि पेशवा के समय में शिवाजी की अपेक्षा राज्य का विस्तार अधिक बढ़ गया था; अतः उन्हें अधिकर-विभाग के साथ साथ सत्ता-विभाग भी करना पड़ा। क्योंकि पेशवा पूना में रहते थे। वहाँ से बैठे बैठे दिल्ली, कलकत्ता और त्रिचनापल्ली के आसपास का प्रान्त जीतना कठिन था और यदि जीत भी लिया जाय तो फिर उसकी व्यवस्था करना और भी कठिन था। अतएव वह काम सर-दारों के द्वारा ही प्रायः कराना पड़ा। और जो काम करता है उसे अधिकार और सत्ता कुछ न कुछ अपने आपही मिल जाती है। इसी न्याय से मराठा सरदारों को थोड़ा बहुत स्वातन्त्र्य लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया था। पेशवा का राज्य इतना बड़ा था कि उसके बहुत भाग से प्रायः कर वसूली ही नहीं हो पाती थी। यदि प्रजा नियमानुकूल दे देती थी तो तहसील और ज़िले के अधिकारी उसे चुकाने में चाल चलते थे और जहाँ की प्रजा जाट, राजपूत आदि अप्रसन्न और शूर होती उससे वसूल करने, तथा निज़ाम जैसे बलिष्ठ सूबेदारों से चौथ वसूल करने का अवसर पड़ता तब मारामार और सैनिक चढ़ाई की नौबत आती थी इन चढ़ाइयों के लिए ही सिन्धिया, होलकर प्रभृति सरदारों की आवश्यकता हुई और आवश्यकता के कारण ही उनका महत्व भी बढ़ा।

यदि क़ानूनी भाषा में कहा जाय तो सिन्धिया और होल-कर राज्य के नौकर थे और रीत्यानुसार सरदारों से जागीर और सरञ्जाम का हिसाब लेने का अवसर पड़ने पर

अर्थ-विभाग का एक साधारण कर्मचारी भी, हिसाब समझने के लिए, इनपर आँखें लाल-पीली कर सकता था, परन्तु इन सरदारों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि पेशवा का सरञ्जामी और जागीरी हिसाब मांगना ही उन्हें अपमान-जनक प्रतीत होता था। और इस प्रकार सरदारों का प्रभाव अधिक बढ़ जाने के कारण पेशवा को इन सरदारों की सम्मति के बिना राज्य की व्यापक नीति निश्चित करना कठिन हो गया था। भोंसले राजघराने की मूलसत्ता पेशवा का सर्वाधिकार, फड़नवीस [अर्थ-सचिव] की सम्मति और सरदारों की तलवार—इसप्रकार मराठी राज्य के चार विभाग हो जाने से एकतन्त्री राज्य चलना कठिन हो गया था। सरदार लोग युद्ध में विजय प्राप्तकर शत्रु को सन्धि के लिए विवश करते थे; अर्थ-सचिव। राजकीय पद्धति पर विचार कर शत्रु के साथ होने वाली सन्धि की शर्तें रखते थे; पेशवा इन सब बातों पर विचार करते थे और सतारा के महाराज की मुहर उस पर लगाई जाती थी। इस प्रकार चौ-तन्त्री राज्य-पद्धति चल रही थी। इसमें प्रत्येक तन्त्र को अपने से भिन्न तीन तन्त्रों का भी ध्यान रखना पड़ता था। जब तक ये चारों तन्त्र परस्पर आदरपूर्वक व्यवहार करते रहे तभी तक मराठाशाही में अन्तस्थ बल बना रहा। अङ्गरेज़ लोग मराठाशाही का वर्णन करते हुए मराठी राज्य न कहकर 'मराठा सङ्घ' (मराठा कानफिडरेसी) कहा करते हैं और यही कहना उपयुक्त भी है। यह सङ्घ जब तक रहा तब तक सारे भारत में सत्ता स्थापित करने की सम्भावना भी रही और इसके नष्ट होते ही वह सम्भावना भी नष्ट हो गई।

अस्तु, अब इस पर विचार करें कि सङ्घ के अस्तित्व के समय में मराठों ने जो सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया सो किस प्रकार किया। उस समय एक ओर तो मराठों की मूल राजगादी सतारा में जीवित थी और उसे नष्टकर पूना में लाना पेशवा को इष्ट और शक्य नहीं था। दूसरी ओर से सतारा ही के समान निर्धन और निर्बल मुसलमानों की गादी दिल्ली में थी। ऐसे समय में पेशवा को, और व्यापक भाषा में कहा जाय तो सम्पूर्ण मराठों को, अपनी सत्ता भारतवर्ष भर में स्थापित करना कठिन था। किम्बहुना, सतारा की गादी नष्ट करने में जितने विघ्न थे उनसे मुग़लों की गादी नष्ट करने में कहीं अधिक थे। कुछ अंशों में राजनिष्ठा की भावना से पेशवा सतारा की गादी नष्ट नहीं करना चाहते थे; पर मुसलमानों की गादी के सम्बन्ध में यह बन्धन नहीं था। क्योंकि प्रतिपक्षी होने के कारण वे उसे नष्ट करना ही उचित समझते थे; तो भी उसे नष्ट करना उनके लिए कठिन था। अतः गादी नष्ट न कर उनकी सत्ता अपने हाथ में किस तरह ली जाय यही एक प्रश्न उनके सन्मुख था और शीघ्रता न कर धीरे धीरे उन्होंने उस प्रश्न को हल कर लिया। यह तो प्रसिद्ध ही है कि शाहू महाराज की मृत्यु के समय नाना साहब पेशवा ने उनसे राज्य का सर्वाधिकार-पत्र प्राप्त किया था। इस तरह सतारा की गादी के अधिकार का प्रश्न तो हल हो गया था और दिल्ली की बादशाहत का अधिकार हस्तगत करने में भी इन्हों ने इसी युक्ति का अवलम्बन किया था। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि सतारा की सत्ता पूना में आने के बहुत वर्ष पहले दिल्ली की सत्ता रायगढ़ में लाने का प्रयत्न किया गया था।

यह प्रयत्न स्वयम् शिवाजी महाराज ने किया था और यह कहना उचित होगा कि इसी साध्य को—अर्थात् दिल्ली की बादशाहत की सत्ता को—सिद्ध करने—प्राप्त करने—के साधनरूप में सतारा की सत्ता पूना लाई गई थी। जिस समय पहले बाजीराव ने अपनी मराठी बादशाही-पद्धति का विवेचन पूर्ण रीति से किया उस समय उसे समझने वाला राजा स्वयम् शाहू महाराज सतारा गादी पर था; परन्तु जब शाहू के बाद इस मर्म को समझनेवाला राजा या चतुर नीतिज्ञ शासक सतारा में नहीं देखा होगा तभी नाना साहब को पूना में सत्ता लाने की सूझी होगी। शाहू का मृत्यु-पत्र सच्चा हो या झूठा; परन्तु मुग़लों की कार्यकारी सत्ता मराठों के हाथ में लाने का जो शिवाजी महाराज का विचार था उसे ही सिद्ध करने के लिए उन्हें यह सब करना पड़ा। यद्यपि उन्होंने निजी महत्व बढ़ाया, तोभी साथ ही प्राचीन बादशाही पद्धति को भी आगे चलाया। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बादशाही नीति की कल्पना का यश शाहू महाराज के समय में उथल पुथल करनेवाले बालाजी विश्वनाथ पेशवा को प्रायः दिया जाता है; परन्तु इस नीति की मूल कल्पना बालाजी विश्वनाथ की न होकर महाराज शिवाजी ही की थी।

शिवाजी महाराज यह अच्छी तरह जानते थे कि कोई एक हक़, प्रतिपक्षी दूसरे हक़ों से ही, अच्छी तरह मारा जा सकता है। मुग़ल, शत्रु तो थे; पर वे जानते थे कि अपने स्वराज्य का और उनके राज्य में सत्ता प्राप्त करने का अधिकार भिन्न है। और यह भेद-विवेक उनके मनमें भले ही न रहा हो; पर प्रगट में उन्होंने किया था। उनका पहला अर्थात् स्व-

राज्य का अधिकार निसर्ग सिद्ध था; अतः उसके लिए शिवाजी मुग़लों से लड़े। इस अधिकार के सम्बन्ध में आपस में समझौता होना असम्भव था। शिवाजी के पिता का भी मुग़लों और मराठों में आपसी समझौते का ही व्यवहार रहा। इसके दो कारण कहे जा सकते हैं कि या तो शहाजी तक महाराष्ट्रीय राजा शिवाजी के समान ढीठ, साहसी अथवा प्राणपण से चेष्टा करनेवाले नहीं रहे होंगे, या उनके समय की परिस्थिति अधिक विकट रही होगी। कुछ भी हो, यह बात ठीक है कि शिवाजी के पहले के राजाओं ने छोटे से राज्य का ही क्यों न हो, परन्तु स्वतन्त्र राजा बनने का हठ प्रत्यक्ष रीति से नहीं किया। अतएव मनसबदारी अथवा सरदारी के सन्मान से ही उन्हें सन्तोष होता रहा; परन्तु शिवाजी इस बहुमान से सन्तुष्ट न हो सके। और अपने असन्तोष को यशस्वी बनाने की उनमें हिम्मत भी थी। अतः उन्होंने युद्ध में उतर कर स्वराज्य प्राप्त किया। शिवाजी की महत्वाकांक्षा यद्यपि इतने से ही तृप्त होनेवाली नहीं थी, तो भी ऐसा दिखता है कि जिस प्रदेश पर पहले मराठों का किञ्चित् भी अधिकार नहीं था और मुग़लों ने उसपर अपनी सत्ता स्थापित कर रक्खी थी उसे अपने हाथ में लेने के लिए वे युद्ध करना उचित नहीं समझते थे।

मालूम होता है कि इसके लिए वे दोनों—मराठे और मुसलमानों—के समझौते से ही चलना उचित समझते थे। अर्थात् मुग़लों के राज्य में उनकी सत्ता अस्वीकार न कर उनकी सत्ता का अंश मात्र, उनके प्रतिनिधि बनकर प्राप्त करना ही, इस समझौते की नीति थी। शिवाजी महाराज मुग़लों के अनेक अथवा अनन्त अधिकारों में से चौथ या

सरदेशमुखी के हक़ प्राप्तकर उसीके बल पर अन्त में सम्पूर्ण रूप से, या बहुत अंशों में, सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। सम्भव है कि इस युक्ति की स्फूर्ति शिवाजी महाराज के ही मस्तिष्क में प्राचीन इतिहास के परिशीलन से प्राप्त हुई हो। क्योंकि राजनीति और राजकरण कुशलता मनुष्य जाति के इतिहास के समान ही सनातन है। इतिहास में भी "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" का न्याय ही बारम्बार दृष्टिगत होता है। और तो क्या, न्यायमूर्ति रानडे के, मराठी इतिहास के निबन्ध में, यह लिखने के समान कि "उपाधिधारियों की सहायता से राज्य प्राप्त किया जाता है और एक अधिकार से दूसरा अधिकार मारा जाता है" अङ्गरेज़ों ने भी शिवाजी से सौ-सवा सौ वर्षों के बाद इसी युक्ति का अवलम्बन किया अथवा उन्हें करना पड़ा। रानडे महाशय कहते हैं कि मुसलमान बादशाहों के हाथों से निकलकर जो सर्वसत्ता अन्त में मराठा-मण्डल के हाथ में आई उसकी समता का उदाहरण भारत के प्राचीन इतिहास में क्वचित् ही दिखलाई पड़ता है; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में मार्क्विस आव वेलेस्ली ने जो एक बहुत बड़ा कार्य किया उससे इस घटना का सादृश्य बहुत कुछ दिखलाई पड़ता है। मार्किस आव वेलस्ली ने भारतीय राजा महाराजाओं के साथ, ख़र्च लेकर सेना की सहायता देने की शर्त की सन्धियाँ कर, उनसे यह ठहराव किया था कि प्रत्येक संस्थानिक अपने ख़र्च से अपने सहायतार्थ अंग्रेज़ी फ़ौज रक्खे। इस प्रकार की संधियों के कारण अन्त में ब्रिटिश—कम्पनी ने सम्पूर्ण भारत पर स्वामित्व प्राप्त किया।

रानडे इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दे सकते थे। अर्थात् इस सन्धि के भी चालिस वर्ष पहले ईस्ट इण्डिया-कम्पनी ने दिल्ली के बादशाह से जो दीवानगीरी प्राप्त की थी उसका क्या यह हेतु नहीं था कि कनिष्ठ अधिकारों द्वारा वरिष्ठ अधिकार प्राप्त किये जायँ? यदि रानडे के शब्दों में ही कहा जाय तो अङ्गरेज़ों की यह कल्पना शिवाजी की कल्पना की पुनरावृत्ति ही थी। मुग़लों के दास अथवा नौकर कहलाते कहलाते ही अंग्रेज़ों को स्वामित्व प्राप्त हो गया था। इस कल्पना में शिवाजी की कल्पना से केवल इतना ही अन्तर था कि यह अधिक सुधरे हुए तत्वों पर प्रारम्भ की गई थी; पर अङ्गरेज़ों ने जो बात सरञ्जामी फ़ौज रखकर सिद्ध करनी चाही थी वही बात मराठों ने चौथ और सरदेशमुखी की सनदों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। यह बात न्यारी है कि इनमें से एक का प्रयत्न सिद्ध हुआ और दूसरे का न हो सका; परन्तु दोनों के प्रयत्नों की मानसिक भूमि एक ही थी; दोनों के साध्य-साधन की योजना भी एक ही स्वरूप की थी और दोनों की पद्धति भी भिन्न नहीं थी। अब ऊपर से क्षुद्र दीखनेवाली चौथ तथा सरदेशमुखी का वास्तविक स्वरूप क्या था, इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए मराठों ने किस प्रकार प्रयत्न किया तथा उसका फल क्या हुआ, इसपर अब यहाँ विचार करना उचित होगा।

चौथ के अधिकार का पूर्ण विवरण इस प्रकार है कि मुसलमानों के आने के पहले समस्त देश हिन्दुओं के अधिकार में था। दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दि के बाद इस देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारम्भ हुआ। पहले ही

पहल उन्होंने पञ्जाब प्रान्त पर अधिकार किया। उसके बाद गङ्गा और यमुना नदियों के किनारे किनारे पूर्व की ओर जाकर बङ्गाल प्रान्त सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। फिर मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों को क्रमशः लेकर सम्पूर्ण भारत पर अपना सिक्का जमाया। परन्तु इतने प्रान्तों पर सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार बनाये रखना उनके लिए कठिन था। ऐसी दशा में वे सदा के लिए राजकीय व्यवस्था भी नहीं कर सकते थे; इसलिए उन्होंने व्यवस्था के लिए सूबेदारों (फ़ौजी और दीवानी अधिकार युक्त अधिकारी) का भेजना प्रारम्भ किया। समय पाकर ये सूबेदार लोग स्वयम् स्वतन्त्र नवाब बन गये। ये लोग बीच बीच में कभी कभी राज्य कर वसूल करके भेज देते थे और बाक़ी ख़र्च में बतलाते थे; परन्तु बादशाही सत्ता को अस्वीकार कोई नहीं करता था। बादशाही अधिकारों का इस प्रकार उपमर्दन करनेवालों को दण्ड देने की शक्ति दिल्ली के दरबार में नहीं रही थी। इसके सिवा दिल्ली में जो राज्य-क्रान्तियाँ होती थीं। उनके कारण बादशाह को राज्य के अन्य प्रदेशों का शासन करने की ओर लक्ष्य देने का अवसर ही नहीं मिलता था। औरङ्गज़ेब के बाद कोई भी बादशाह सेना लेकर प्रान्त के अधिकारियों का विद्रोह नष्ट करने अथवा प्रान्त जीतने के लिए दिल्ली से बाहर नहीं निकला। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि औरङ्गज़ेब के बाद दिल्ली में अराजकता ही उत्पन्न होती रही।

मुसलमान सूबेदारों को स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का हक़ नहीं होगा; परन्तु जिनका राज्य मुसलमानों ने जीता

था उनको—अर्थात् शिवाजी प्रभृति मराठों को-अपना राज्य जीतकर या अन्य रीति से वापिस लेने का अवश्य अधिकार था; और शिवाजी ने ऐसा किया भी। अर्थात् बीजापुर और दिल्ली के मुसलमानों से अपना स्वराज्य शिवाजी ने जीत लिया। परन्तु, शिवाजी को इतने से ही तृप्ति नहीं हुई। और यह है भी ठीक। क्योंकि जब हिन्दू बादशाहत पर हिन्दू राजाओं का निसर्ग-सिद्ध हक़ था तो भला शिवाजी अपने राज्य की मर्यादा महाराष्ट्र प्रान्त तक ही सङ्कुचित कैसे कर सकते थे? परन्तु शिवाजी का यह महत्त्वाकांक्षा उनके सन्मुख सिद्ध न हो सकी। क्योंकि उनके मरण समय तक दिल्ली के बादशाह का शासन ज़ोरों पर था। इस लिए बड़े कष्टों से वे स्वराज्य के छोटे से प्रदेश पर ही स्वतन्त्र राजा हो सके। यद्यपि औरङ्गज़ेब के जीते जी शिवाजी का, स्वतः का राज्याभिषेक करवाना, अपने नाम के सिक्के चलाना, अपना सम्वत् शुरू करना और छत्रपति कहलाना कुछ कम पराक्रम की बात नहीं है, तोभी वे समस्त देश पर सन् १६७४ तक सत्ता प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने में समर्थ न होसके।

स्वराज्य के सिवा शिवाजी ने जो अहमदनगर और बीजापुर के बादशाहों के क़िले और प्रदेश जीते थे उन पर अधिकार करने की मनाई औरङ्गज़ेब नहीं कर सकता था। क्योंकि ब्राह्मणी राज्य पर दिल्लीके बादशाह का क्या अधिकार था? परन्तु सन् १६६५-६६ में औरङ्गज़ेब ने जयसिंह को भेजकर जब शिवाजी को रणकुण्ठित किया तब शिवाजी ने वे क़िले और प्रदेश दिल्ली के बादशाह की आज्ञा से अपने अधिकार में रखने का क़रार किया। मुग़लों का जो प्रदेश

शिवाजी ने ले लिया था वह तो शिवाजी को वापिस करना पड़ा, साथ ही अहमदनगर राज्य के ३२ क़िलों में से २० क़िले तथा उनके नीचे का प्रदेश भी शिवाजी को वापिस देना पड़ा। बाक़ी के १२ क़िले तथा अन्य प्रदेश शिवाजी ने बादशाह को दी हुई जागीर के नाते से रखना चाहे साथ ही आठ वर्ष की अवस्था के सम्भाजी (शिवाजी के पुत्र) को बादशाही की पांच हज़ार की मनसबदारी और बीजापुर राज्य के कुछ हिस्से से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त करना चाहा और वह मिला भी। अन्तिम अधिकार के लिए शिवाजी ने बादशाह को ४० लाख रुपये १३ क़िस्तों से देना स्वीकार किया। अर्थात् अपने राज्य के स्वतन्त्र राजा, बादशाह के जागीरदार तथा बादशाही मनसबदार के पिता इस प्रकार तीन नाते शिवाजी में एक जगह एकत्रित हुए थे। इससे विदित होता है कि उनका मुख्य लक्ष्य राज्य-प्राप्त करने पर था और ये नाते उसके साधन थे। ये शर्तें कर शिवाजी बादशाह के पास गये और वहाँ वे क़ैद कर लिए गये; परन्तु वहाँ से छूटकर जब वे आये तब उन्होंने फिर मुग़लों के क़िले जीते।

बादशाह से सनद लेने का प्रयत्न शिवाजी ने १६५० में प्रारम्भ किया। इन वर्ष शिवाजी ने सरदेशमुखी के बदले में ५ हज़ार सेना रख बादशाह की नौकरी करने की प्रार्थना शाहजहाँ से की; परन्तु उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ। सन् १६५७ में यही प्रार्थना जब औरङ्गज़ेब दक्षिण में आया तब फिर शिवाजी ने की। औरङ्गज़ेब ने एक सेना रखकर दाभोल आदि कोंकन के बीजापुर राज्य के थाने जीतने और दिल्ली की ओर कोई झगड़ा होने पर दक्षिण की ओर का

मुग़लों का राज्य सम्हालने की शर्त पर शिवाजी को शाहजहाँ से सरदेश-मुखी की सनद दिलाने का भरोसा दिया और इसके लिए शिवाजी की ओर से रघुनाथपन्त और कृष्णाजीपन्त बात-चीत करने के लिए दिल्ली भेजे गये; परन्तु उसका भी कुछ फल नहीं हुआ। इसके बाद सन् १६६६ में शिवाजी ने जयसिंह की मध्यस्थता में सरदेशमुखी के साथ साथ हक़ भी माँगा; परन्तु यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। इसके बाद सन् १६६७ में शिवाजी को बराड़ में एक जागीर और राजा की पदवी देकर बादशाह ने गौरवान्वित किया और इसे लेकर चौथ की सनद मिलने के पहले ही शिवाजी ने बीजापुर और गोलकोंड़े ये मुसलमानी राज्यों में चौथ वसूल करने का प्रारम्भ भी कर दिया और राज्याभिषेक के वर्ष पोर्तुगीज़ों के देश में भी शिवाजी ने इस अधिकार का उपयोग किया। इसके दो वर्ष बाद शिवाजी ने कर्नाटिक पर चढ़ाई की और वहाँ भी यह हक़ वसूल करना प्रारम्भ किया। शिवाजी ने हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं से खण्डनी लेकर बदले में उनकी रक्षा करने की पद्धति का भी प्रारम्भ कर दिया था। शिवाजी ने सनद मिलने की बाट न देख यही कहना शुरू कर दिया था कि ऐसी सनद मिलना यह हमारा अधिकार है और उसे बादशाह अस्वीकार नहीं कर सकते।

यद्यपि बीजापुर के राज्य से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने और इस प्रकार मुसलमानी राज्यों में अपनी सत्ता का बीजारोपण करने की पद्धति शिवाजी के समय में सफल न हो सकी थी, तो भी मराठे इसे भूले नहीं थे और जो अधिकार शिवाजी को बीजापुर के राज्य में न मिल

सका वह उनके नाती शाहू महाराज ने मुग़लों के राज्य में प्राप्त किया । सन् १७०६ में औरङ्गज़ेब ने शाहू महाराज की मार्फ़त दक्षिणके छः सूबों में से प्रतिशत दशवाँ हिस्सा को देने की शर्त पर युद्ध बन्द करने की बात-चीत शुरू की । मराठोंशाहू महाराज पहले दिल्ली में क़ैद थे परन्तु उन्होंने उस क़ैद से लाभ उठाया । अर्थात् मुग़ल दरबार से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया । १७०७ से शाहू महाराज ने दिल्ली के दरबार में अपना वकील भेजना प्रारम्भ किया । इसी वर्ष मुग़लों के सूबेदार दाउदखां ने मराठे सरदारों से सन्धिकर कुछ प्रान्तों में चौथ का हक़ दिया । १७०९ से १७१३ तक शाहू महाराज के अधिकारियों ने इस चौथ को वसूल भी किया । सन् १७१५ में मुग़लों की ओर से शाहू महाराज को दश हज़ारी मनसबदारी मिली और अन्त में १७१८ में स्वयम् बालाजी विश्वनाथ पेशवा दिल्ली गए और बादशाह से चौथ, सरदेशमुखी और स्वराज्य की सनदें लाए । वहां से आते समय दिल्ली में मराठों के वकील को सदा के लिए नियत कर आये । ये ही सनदें, आगे जाकर, मराठों ने जो भारतवर्ष को जीता और आमदनी वसूल की उसकी नियमानुकूल जड़ थीं ।

चौथ की सनद से [१] औरङ्गाबाद; [२] बरार, [३] बीदर, [४] बीजापुर, [५] हैदराबाद, [६] ख़ानदेश—इन छः सूबों की एक चतुर्थांश आमदनी का हक़ शाहू को मिला इसके बदले में बादशाह के रक्षार्थ १५ हजार फ़ौज रखने का क़रार था । शाहू के वकील ने बादशाह को जो ताबेदारी लिख दिया था उसका अनुवाद इस प्रकार है कि "स्वामी की सेवा में लवाज़में सहित मन, वचन, कार्य से तत्पर रह

कर प्रजा की वृद्धि करने और सरकारी राज्य की सवाई बात रखने के साथ साथ शत्रु और विद्रोहियों का नाश करेंगे और १५ हज़ार सेनासूबेदार के पास रखकर प्रजा को आप के प्रति भक्त बनाये रक्खेंगे। उजाड़ गांवों को तीन साल में बसा देने का प्रबन्ध करेंगे और दुष्टों का उपद्रव न होने देंगे। यदि किसी के घर चोरी होगी और किसी का माल चोरी जायगा तो चोर को दण्ड दिया जायगा तथा जिसका माल उसको दिलाया जायगा। चोर को दण्ड हो जाने पर चोरी का माल नहीं मिलेगा तो हम उसका पता लगावेंगे। सरदेशमुखी से अधिक और किसी प्रकार का कर नहीं लेंगे। यदि इससे अधिक लें भी तो जितना अधिक लेने का सुबूत होगा उतना सरकार में जमा कर देंगे।" चौथ की सनद के दस दिन बाद सरदेशमुखी की सनद दी गई। यह सनद वंशपरम्परा गत थी। अतः इस सनद की भेंट में ११½ करोड़ रुपये देना शाहू महाराज की ओर से स्वीकार किया गया था जिसमें से २ करोड़ ६३ लाख रुपये पहले देने का क़रार था, बाकी के ८ करोड़ बयासी लाख रुपयों की किस्तबन्दी की गई थी। सरदेशमुखी की वार्षिक आय अनुमानतः एक करोड़ ८० लाख थी; परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि ये अंक कागज़ ही में थे; वास्तव में आमदनी इससे बहुत कम थी।

बालाजी विश्वनाथ के बाद बाजीराव पेशवा हुए। उनकी नीति पहले से ही उत्तर की ओर राज्य बढ़ाने की थी। १७२४ में उन्होंने मालवा में फ़ौज भेजी। बाजीराव पेशवा अपने पिता के साथ दिल्ली हो आए थे; अतः उन्हें वहाँ के दरबार की परिस्थिति का ज्ञान अच्छी तरह हो गया

था। इसके सिवा वे नीतिज्ञ शासक होने के साथ साथ तलवार रण-कुशल बहादुर भी थे। इस कारण शाहू के दरबार में जब बादशाही नीति के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित हुआ तब बाजीराव का कहना शाहू महाराज के सहित अन्य बहुत से दरबारियों को मान्य हुआ। इस विवाद का वर्णन इतिहासकार ने बड़ी अच्छी तरह किया है।

शाहू को निज़ाम हैदराबाद के सूबे से भी चौथ वसूल करने का अधिकार बादशाह से मिलने पर निज़ामउलमुल्क को बहुत विषाद हुआ और वह सदा इस बात के प्रयत्न में रहने लगा कि किसी भी तरह पेशवा को नीचा दिखाकर अपना राज्य चौथ की वसूली के हक़ से छुड़ा लूँ। अतः प्रतिनिधि की सहायता से निज़ाम ने शाहू को इन्द्रापुर की जागीर देकर चौथ माफ़ कराने का षड्यंत्र रचा और यह कहकर कि शाहू के समान करवीर के सम्भाजी भी चौथ वसूल करने का अपना अधिकार प्रगट करते हैं; अतः वास्तविक अधिकारी का निर्णय होने तक वसूली को जप्तकर लिया और वसूली के लिए आये हुए शाहू के कर्मचारियों को भगा दिया। तब युद्ध कर बाजीराव ने निज़ाम का पराभव किया और चौथ तथा सरदेशमुखी का अपना अधिकार निज़ाम से स्वीकार कराया [१७३२]। इस घटना के तीन वर्ष पहले सरबुलन्दखां ने सूरत छोड़ कर सम्पूर्ण गुजरात प्रान्त के लिए चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार पेशवा को दिए। इन अधिकारों के बदले में पेशवा ने बादशाह की रक्षा के लिए २५०० सेना रखना स्वीकार किया। इस प्रकार निज़ाम और सरदारपुर वालों से युद्ध कर तथा बादशाह से पत्र पर पत्र नवान

सनदें प्राप्त कर कायदा और बल के भरोसे चौथ का महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त किया और उसे सम्पूर्ण भारत से स्वीकार कराया। १७३३ में बाजीराव ने महम्मदखां बंगश का पराभव किया और बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल को मुक्त किया। अतः छत्रसाल ने उन्हें झांसी के समीप सवा दो लाख की जागीर देना स्वीकार किया तथा अपने राज्य का तीसरा हिस्सा भी दिया। इसके आगे के वर्ष में आगरा और मालवा प्रान्त के नये सूबेदार जयसिंह ने बाजीराव को मालवा प्रान्त की सूबेदारी देना स्वीकार किया और इसके अनुसार बाजीराव ने मालवे में चौथ वसूल करना प्रारम्भ किया। और इतना ही नहीं, किन्तु बाजीराव ने मालवा प्रान्त पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमाने का निवेदन करना आरंभ किया और इस समय डौरानखाँ ने बाजीराव को सरदेशमुखी की सनद गुप्त रीति से भेजी थी; परन्तु जब बाजीराव को यह मालूम हुआ तो उसने और भी अधिक माँग बादशाह के सन्मुख उपस्थित की। बाजीराव ने मांडू और धार के क़िले, चम्बल नदी के दक्षिण प्रदेश की जागीर, फ़ौजदारी के अधिकार और ख़र्च के लिए ५० लाख रुपये माँगना प्रारंभ किया; परन्तु बादशाह ने छः लाख रुपये नक़द लेकर पेशवा को छः सूबों की सरदेशपांडेगीरी ही दी। निज़ाम ने जब देखा कि ख़ान डौरान ने अपना शत्रुत्व सिद्ध करने के लिए ये सब बातें की हैं तब वह बाजीराव से लड़ने के लिए सेना के साथ दिल्ली पहुँचा और बाजीराव से लड़ने का विचार करने लगा। बाजीराव भी अस्सी हज़ार सेना के साथ लम्बी लम्बी मंज़िलें मारते हुए दिल्ली पहुँचे। मुग़ल भी

सेना सहित बाहर निकले; परन्तु उनका पराभव हुआ। बाजीराव दिल्ली में इससे अधिक न रह सके और ज़रूरी कामों के आ पड़ने से वे दक्षिण को लौट आये और वह कार्य सिद्धान हो सका। १७३८ में बाजीराव फिर नर्मदा उतर कर गये और भोपाल के युद्ध में निज़ाम का पराभव किया। तब अन्त में दोराईसराई नामक गांव में दोनों को सन्धि हुई और निज़ाम ने बाजीराव को ५० लाख रुपये नक़द तथा चम्बल और नर्मदा के बीच का प्रदेश बादशाह से दिला देना स्वीकार किया।

सन् १७३९ में मराठों ने पोर्तुगीज़ों से युद्धकर वसई प्रभृति क़िले छीन लिए। उनकी यह बात भी बादशाही नीति ही की द्योतक है।

इसी वर्ष ईरान के बादशाह नादिरशाह ने दिल्ली लेकर वहाँ क़त्ल की। उसी समय यह अफ़वाह भी उड़ी कि वह ६ लाख सेना लेकर दक्षिण पर चढ़ाई करने करनेवाला है। इस सङ्कट के समय दिल्ली के बादशाह को बाजीराव के सिवाय अन्य किसी का आश्रय नहीं था। अतः बाजीराव एक बड़ी भारी सेना के साथ दिल्ली के लिए निकले। इस सेना में हिन्दुओं के समान मुसलमान भी शामिल हुए। सिन्धिया और होलकर उनसे आते ही मिले थे तथा वसई को ले लेने के बाद चिमाजी अप्पा भी उनमें जाकर मिलनेवाले थे; परन्तु इतने में ही नादिरशाह, बादशाह को तख़्त पर बैठाकर दिल्ली से चला गया। तब बाजीराव ने बादशाह को पत्र लिखकर उनका अभिनन्दन किया और १०१ मुहरों का नज़राना भेजा। बादशाह ने भी बाजीराव के लिए हाथी, घोड़ा, जवाहिरात,

और पोशाक सहित आभार-प्रदर्शक-पत्र भेजा, परन्तु बादशाह की इस देनगी में भी मालवा की सनद पेशवा को नहीं मिली। यह देखकर और इसमें निज़ाम का कपट समझ कर उसका दक्षिण में पराभव करने का विचार बाजीराव ने किया। परन्तु इतने ही में नर्मदा के तट पर सन् १७४० में उनकी एकाएक मृत्यु हो गई।

नादिरशाह ने काबुल, मुलतान आदि प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये और इस तरह दिल्ली के बादशाह का तेज फीका पड़ गया। दिल्ली से सौ सौ मीलों पर मुसलमानी राज्यों का उदय होने लगा। ख़ान डौरान मारा गया और कमरुद्दीनख़ां प्रभृति तूरानी मुसलमानों के जाल दिल्ली के आसपास फैलने लगे। राजपूत भी धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे। जाट, मराठों के स्नेही बन गये और रुहेलों ने स्वतन्त्र सूबा स्थापित करने का विचार किया। अंग्रेज़ और फ्रेंच इस समय अशक्त थे। वे मराठों से युद्ध कर अपना निर्वाह करना कठिन समझते थे। अतः व्यापारी पद्धति से अर्ज़-मिन्नतों के द्वारा अथवा रिश्वत देकर अपना काम निकालते थे। इन कारणों से बाजीराव के पुत्र नाना साहब पेशवा को अपनी बादशाही नीति का उपयोग करने का अवसर मिला। इसी समय के लगभग भोंसले ने बङ्गाल पर चढ़ाई की और नाना साहब ने इलाहाबाद पर चढ़ाई करने का विचार किया। बङ्गाल में अलीवर्दीख़ां और मराठों की सेना का परस्पर युद्ध हुआ और भोंसले के कारभारी भास्कर पन्त ने हुबली शहर पर अधिकार कर लिया। तब अलवर्दीख़ां ने बादशाह और पेशवा से सहायता माँगी। भास्करपन्त के पीछे भोंसले बङ्गाल में घुसने

लगे। तब उनके पञ्जे से बङ्गाल को छुड़ाने के लिए बादशाह ने नाना साहब पेशवा को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि "मैं ख़र्च के लिए कुछ नक़द रुपये और मालवा की सनद तुम्हें देता हूं, तुम किसी भी तरह भोंसले के सङ्कट से बङ्गाल को मुक्त करो।" यह विन्ती स्वीकारकर नाना साहब इलाहाबाद से मुर्शिदाबाद गये और वहाँ से नीचे जाकर राघोजी भोंसले का पराभव किया। पेशवा का यह कार्य देखकर तथा पूर्व इतिहास पर ध्यान देकर मुहम्मदशाह बादशाह को मालवा की सनद पेशवा को देना आवश्यक हुआ। परन्तु इतना भारी प्रदेश देने से अपनी अप्रतिष्ठा समझ बादशाह ने ऊपर से दिखाने के लिए अपने पुत्र शाहजादा को अहमद मालवा का सूबेदार बनाया और पेशवा को उसका दीवान अथवा "मुतअल्लिक" नियत किया। नाना साहब ने चार हज़ार के बदले १२ हज़ार सेना रखना स्वीकार किया। इस आठ हज़ार सेना का ख़र्च बादशाह पर था। यह सन्धि इस प्रकार करा देने में पेशवा को राजा जयसिंह और निज़ाम की सहायता थी। इस सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए मुहम्मदशाह बादशाह की ज़ामिनी राजा जयसिंह ने ली और पेशवा की ओर से मल्हारराव होल्कर, राणोजी सिन्धिया तथा पिलाजी जाधव ज़ामिनदार बने।

इसके बाद भोंसले और पेशवा की काम चलाऊ सन्धि शाहू महाराज की मध्यस्थता में हुई और उसमें यह ठहरा कि बङ्गाल भोंसले को दिया जाय। पेशवा को सतारा के महाराज ने सनद दी तथा पेशवा को उनका पहले सम्पादित की हुई जागीर, कोंकण तथा मालवा प्रान्त का आधिपत्य इलाहाबाद, आगरा और अजमेर की सूबेदारी, पटना प्रान्त के

तीन ताल्लुके, अर्काट ज़िले की खण्डनी में से २० हज़ार रुपये और भोंसले के राज्य में से कुछ गाँव दिये। लखनऊ, पटना, दक्षिण बङ्गाल, बिहार और बरार से कटक पर्यन्त के खण्डनी वसूल करने का अधिकार भोंसले को दिया गया। इसके बाद शाहू महाराज भ्रान्तिष्ट हो गये और उनका मृत्युकाल नज़दीक आ गया। उस समय महाराज ने नाना साहब पेशवा के नाम पर इस प्रकार सनद दी कि "अब से सम्पूर्ण मराठा राज्य का कारबार पेशवा करें। परन्तु सतारा की गादी का पूर्ण सन्मान सब तरह से रक्खें।" मराठाशाही में इस प्रकार सदा के लिए दीवानगीरी की सनद पेशवा को मिल जाने से उनकी बादशाही नीति को और भी अधिक बल प्राप्त हुआ।

इसके पश्चात् बादशाह अहमदशाह के शासनकाल में उनके वज़ीर सफ़दरजङ्ग ने उन्मत्त रुहेलों का पारिपत्य करने के लिए शस्त्र उठाये। इस कार्य में मल्हाराव होलकर और जयाप्पा सिन्धिया ने वज़ीर की बहुत बड़ी सहायता की। अतएव वज़ीर ने मराठों को गङ्गा और यमुना नदी के बीच का प्रदेश पारितोषिक में दिया (१७४८)। इसी समय के लगभग अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर चढ़ाई करने का फिर प्रारम्भ किया और बादशाह से मुल्तान तथा लाहौर शहर छीन भी लिये। इसलिए वज़ीर सफ़दरजङ्ग को मराठी सेना की आवश्यकता हुई। तब रुहेलों से युद्ध करने में जो ख़र्च पड़ा उसके बदले ५० लाख रुपयों का क़ाग़ज़ लिखवाकर मराठी फ़ौज ने सहायता दी। दिल्ली में कारभारी लोगों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया था, अतः दिल्ली के आसपास वज़ीरों में परस्पर युद्ध होने लगा। तब होलकर दिल्ली गये

और उनकी सहायता से दूसरे आलमगीर बादशाह १७५४ में गादी पर बैठे। सन् १७५६ में नाना साहब ने रघुनाथ राव को बड़ी भारी सेना देकर उत्तर भारत में भेजा। इनकी सहायता से वज़ीर शहाबुद्दीन ने दिल्ली शहर और आलमगीर बादशाह को अपने कब्ज़े में कर लिया। तब अबदाली के प्रतिनिधि नजीबुद्दौला को भाग जाना पड़ा। रघुनाथराव बहुत दिनों तक दिल्ली के पास पड़े रहे। फिर लाहौर से आदिनाबेग ने इन्हें बुलाया और वहाँ जाकर इन्होंने उसकी सहायता से लाहौर ले लिया (१७५८) तथा आदिनाबेग के सहायतार्थ कुछ सेना रखकर आप दक्षिण को लौट आये। इस चढ़ाई में रघुनाथराव ने ७० लाख का क़र्ज़ कर लिया था। अतः राज्य कार्य-सम्हालनेवाले सदाशिवराव भाऊ और रघुनाथराव में झगड़ा हुआ। तब यह ठहरा कि आगे से सदाशिवराव भाऊ ही चढ़ाई पर जाया करें। मराठों के लाहौर ले लेने के समाचार जब अबदाली को मिले तब उसने फिर भारत पर चढ़ाई की। इधर दिल्ली में भी राज्य क्रान्ति हो गई और उधर अबदाली की फ़ौज ने लाहौर छीनकर मराठी सेना को भगा दिया। इसके बाद वह जमुना नदी उतरकर रुहेलों की सेना से मिलने को चला। उस समय होलकर और सिंधिया के साथ थोड़ी ही सेना थी अतः वे भी पीछे हट गये। जब ये समाचार दक्षिण पहुँचे तब मराठों ने फिर उत्तर पर चढ़ाई करने की तैयारी की। उदयगिरि के युद्ध में विजय पाये हुए सदाशिवराव सेनापति, नाना साहब पेशवा के पुत्र विश्वासराव के साथ सेना लेकर, उत्तर भारत की ओर रवाना हुए और १७६१ में प्रसिद्ध पानीपत की लड़ाई हुई जिसमें मराठों का बड़ा भारी

पराभव हुआ और उस समय यह दीखने लगा कि दिल्ली की बादशाहत से मराठों का जो सम्बन्ध हो गया है वह सदा के लिये टूट जायगा और उनकी बादशाही नीति का अन्त भी यहीं होगा।

परन्तु यह स्थिति भी बहुत दिनों तक नहीं रही। पानीपत में पराभव होने से यद्यपि मराठों की बहुत भारी हानि हुई थी; पर जिसके लिए वह युद्ध हुआ था वह कारण कभी भी मिटने योग्य नहीं था। यह कारण था दिल्ली के बादशाह की निर्बलता और दिल्ली दरबार के षड्यन्त्रकारी अमीर-उमरावों में परस्पर की अनबन। दिल्ली की ओर मराठों का सेना लेकर जाना बालाजी विश्वनाथ पेशवा के समय से प्रारम्भ हुआ था। परन्तु उस समय भी और पानीपत के युद्ध के समय भी मराठे निज के लिए नहीं, किन्तु बादशाह की प्रार्थना से, उनके रक्षार्थ दिल्ली गये थे। दिल्ली में पानीपत के युद्ध के ५० वर्ष पहले से दो पक्ष थे। यदि स्थूल शब्दों में कहा जाय तो इन दोनों का नाम मुसलमानाभिमानी और हिन्दु-अभिमानी कहना उचित होगा। इनमें से पहले पक्ष का कहना था कि हिन्दू, विशेषतः मराठोंको, उत्तर भारत में बिलकुल आश्रय नहीं देना चाहिए। दूसरा पक्ष कहता था जैसे हो सके वैसे भारतवासियों के हाथ से ही बादशाहत की रक्षा करनी उचित है चाहे बादशाह के ऋणानुबन्धी मित्र हिन्दू ही क्यों न हों?

स्वयम् दिल्ली के बादशाह के विचार भी इस दूसरे दल के विचारों के अनुसार थे। उन्हें ईरान और अफ़गानिस्थान के स्वधर्मियों की अपेक्षा हिन्दू लोगों की सहायता अधिक ग्राह्य प्रतीत होती थी। इसका कारण यह हो सकता है कि

अफ़गानिस्तान और ईरान के मुसलमान राजाओं में दिल्ली हस्तगत कर अपना राज्य स्थापित करने की इच्छा का होना बहुत सम्भव था; परन्तु हिन्दुओं के संबंध में बादशाह को यह संशय नहीं था कि वे प्रबल हो जाने पर भी दिल्ली की बादशाहत नष्टकर हिन्दू बादशाहत स्थापित करने की आकांक्षा करेंगे । शाहजहाँ बादशाह के समय से हिन्दुओं की सहायता लेना प्रारम्भ हुआ था और सर्व हिन्दुओं में मराठों को प्रबल देखकर अठारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ से बादशाहत की रक्षा का कार्य मराठों को दिया गया था । अफ़गानिस्थान के राजा के समान हिन्दुस्थान के मुसलमानी नवाबों को भी स्वार्थी समझकर उनपर विश्वास करना उचित न समझा गया और दक्षिण के छः सूबों की चौथ का अधिकार मराठों को देकर सङ्कट के समय बादशाहत की रक्षा का भार मराठों को दिया गया । तब से इसी अधिकार के बल मराठे सेना लेकर दिल्ली की ओर जाने लगे ।

नादिरशाह और अबदाली ने मुसलमानाभिमानी पक्ष के उसकाने से दिल्ली पर चढ़ाई की थी; परन्तु वे लोग दिल्ली में न तो स्वयम स्थायी रीति से रह सके और न अपनी सेना ही रख सके । इसलिए पानीपत के बाद फिर दिल्ली से मराठों का आमन्त्रण आने लगे । यद्यपि पानीपत में मराठों का पराभव हो गया था और उनकी एक पीढ़ी की पीढ़ी मारी गई थी; परन्तु पेशवा की मध्यवर्ती सत्ता नष्ट नहीं हो पाई थी और न मराठा सङ्घ ही टूट पाया था । आगे की पीढ़ी में पानीपत के अपयश को धोने को मराठों की प्रबल आकांक्षा भी थी अतः उनकी शक्ति क्षीण नहीं हुई थी । इधर १७६१ के बाद भी दिल्ली में मराठ-

क्ता दिन पर दिन बढ़ ही रही थी और इसलिए कितने ही दिनों तक दिल्ली के बादशाह को भी दिल्ली छोड़कर इधर उधर भटकना पड़ा था। बादशाह के दीवान और उमरावों का दिल्ली में तुमुल युद्ध हुआ और पानीपत युद्ध में वर्ष के ही बादशाह ने अङ्गरेज़ों को बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानगीरी दे कर मराठों के समान एक और दूसरा मित्र बना लिया; परन्तु अङ्गरेज़ों में अभी इतना आत्मविश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था कि वे अपने को देहली के राज काज में हाथ डालने के योग्य समझते तथा बङ्गाल, अयोध्या और रूहेलखण्डमें इनका दबदबाभी नहीं जमा था; इसलिए आत्म रक्षा के लिए बादशाह को मराठों के सिवा अन्य किसी से आशा नहीं थी और मराठों को भी पानीपत में सङ्कट देने वाले नजीबख़ां प्रभृति शत्रुओं का पराभव करना था। अतः शाहआलम के अपनी रक्षार्थ प्रार्थना करने पर मराठों ने बड़े आनन्द से उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया।

१७६८ में दक्षिण में शान्ति हो जाने पर सिन्धिया और तुकोजीराव होल्कर उत्तर भारत में आये। १७७० में नजीबख़ां के मरजाने से मराठों का एक प्रबल शत्रु कम होगया। तब महादजी सिन्धिया ने शाहआलम बादशाह को दिल्ली के तख़्त पर बैठाया। शाहआलम इस समय अङ्गरेज़ों के सैन्य समूह में ठहरा हुआ था और वहां से वह बड़े प्रभाव के साथ सिन्धिया के सैन्य-समूह में आया। यह बात यहां ध्यान में रखने योग्य है क्योंकि इससे उस समय के मराठा और अङ्गरेज़ों के बलाबल का पता लगता है। बादशाह का मराठों के पास जाना अङ्गरेज़ों को सह्य नहीं हुआ और इसलिए उन्हों ने बादशाह को मराठों की सङ्गति न करने का उपदेश भी

दिया; परन्तु बादशाह ने उसे मान्य नहीं किया; क्योंकि एक तो मराठों की सहायता लेने की परम्परा बादशाही घराने में चली आती, दूसरे अङ्गरेज़ उन्हें तख़्त पर बैठाने का उत्तरदायित्व भी अपने अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं थे। फिर स्वयम् भी सहायता न देकर दूसरों को सहायता लेने की मनाई करने वाले स्वार्थी अङ्गरेज़ों की बात, दिल्ली जाने के लिए तत्पर बादशाह को कैसे पसंद हो सकती थी।

महादजी ने शाहआलम को दिल्ली लेजाकर तख़्त पर बिठला दिया। परन्तु स्वयम् महादजी वहां अधिक दिनों तक न रह सके, क्योंकि पूना में (१७७३) नारायण राव का ख़ून हो जाने से नानाफड़नीस को महादजी की आवश्यकता हुई और सालबाई की सन्धि होने तक पेशवाई राजकार्य में लगजाने से दिल्ली की ओर ध्यान देने का महादजी को अवसर नहीं मिला; परन्तु इन आठ वर्षों में ही महादजी ने दिल्ली में अपना पांव अच्छी तरह जमा लिया था और वह इस तरह कि अङ्गरेज़ और पेशवा के परस्पर के सम्बन्ध में महादजी ने अग्रेसरत्व का मान प्राप्त कर अङ्गरेज़ों से यह स्वीकार करा लिया था कि हम दिल्ली के राज काज में हाथ न डालेंगे और केवल सिन्धिया को ही बादशाह की व्यवस्था करने का अधिकार रहेगा। १७७४ में वारनहेस्टिंगज़ गवर्नर-जनरल हुआ। इसका और महादजी का परस्पर में प्रेम बहुत कुछ हो गया था और वह प्रेम उसके विलायत वापिस जाने तक अबाधित बना रहा। यद्यपि इस बीच में अङ्गरेज़ों ने भी दिल्ली के एक शाहज़ादे को अपने हाथ में कर लिया था; परन्तु वे इस मोहरे का उपयोग यथेष्ट रीति से न कर सके।

सालहबाई की सन्धि के बाद दक्षिण से अवसर मिलते ही महादजी फिर दिल्ली को गए और वहां की स्थिति देख कर वर्तमान अधिकारों से अधिक अधिकारों के प्राप्त किये बिना काम चलना कठिन देख बादशाह से उन्होंने और अधिक अधिकार मांगे। तब बादशाह ने पेशवा के नाम पर "वकील मुतलकी" देकर पेशवा की ओर से सिन्धिया को कामकाज करनेका अधिकार देने का निश्चय किया। परन्तु, इस समय दक्षिण के विरुद्ध उत्तर की स्पर्द्धा उत्पन्न हुई अर्थात् राजपूत, जाट, और मुसल्मानों ने एकाकर महादजी से युद्धप्रारम्भ किया। सन् १७८५ में लालसोट के युद्ध में राजपूतोंने महादाजी का पराभव किया। इस समय महादजी बादशाही सेना ले कर बादशाही सरदार के नेता से लड़ते थे परन्तु उन्हें तुरन्त ही यह विश्वास हो गया कि इस सेना पर विश्वास करना उचित नहीं है, क्योंकि एक दो बार ठीक मौके पर यह सेना विश्वासघात कर शत्रु से जा मिली थी। तब अपनी विश्वस्त मराठी सेना के आये सिवा दिल्ली जाना उचित न समझ महादजी ने पेशवा से सेना की सहायता मांगी और इस सहायता के आने तक आप मथुरा के आसपास रहे। कई लोगों का कहना है कि बादशाह के कई बार आग्रहपूर्वक बुलाने पर भी महादजी बादशाह के सहायतार्थ नहीं गए। परन्तु, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इतिहाससंग्रह में जो दिल्ली के राजकरण सम्बन्धी पत्र-व्यवहार प्रसिद्ध हुआ है उससे विदित होता है कि स्वयम् बादशाह को उस समय महादजी का दिल्ली में टिकना कठिन प्रतीत होता था। और वे महादजी को उस समय न आने के लिए

लिखते रहते थे। इसके सिवा दिल्ली दरबार के पेशवा वकीलोंका भी यही मत था कि महादाजी के साथ बिना दूसरे मराठा सरदारों के आये काम नहीं चलेगा।

१७८८ में ग़ुलाम क़ादिर के अत्याचार ने हद कर दी। उसने बादशाह शाहआलम की आँखें निकाल ली और बादशाही ज़नानखाने की बे-इज़्ज़ती की। तब महादजी सिन्धिया ने अपने सरदार राणाखाँ को भेजकर ग़ुलाम कादिर को पकड़ बुलाया और उसका शिरच्छेद किया। इस समय भी दिल्ली की स्थिति डांवाडोल थी, क्योंकि महादजी को पूना आना था। १७९२ में महादजी पूना आये और १७९३ में पूना ही में उनकी मृत्यु के कारण दिल्ली दरबार से मराठों के पाँव उखड़ने का भय नाना-फड़नवीस को होने लगा था परन्तु वह भय इतनी शीघ्रता से सत्य न हो सका। महादजी की मृत्यु के बाद अंग्रेज़ों ने दिल्ली में अपना प्रवेश करने की तैयारी की और दौलतराव सिन्धिया की मूर्खता तथा निर्बलता के कारण अंग्रेज़ों को सफलता हुई सन् १८०३ में अंग्रेज़ों ने देहली ले ली। इस प्रकार प्रायः दो सौ वर्षों तक मराठों की बादशाही नीति दिल्ली में चलकर अन्त में समाप्त हुई।

दिल्ली के राज कार्यों में अंग्रेज़ों का हाथ इससे भी पहले घुसने वाला था; परन्तु वारन-हैस्टिङ्ग्ज़ के धैर्य के कारण वह घुस न सका। बहुत से अंग्रेज़ टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में हैस्टिङ्ग्ज़ को दोष दिया है और कितनों ने तो उसपर महादजी से एक बड़ी भारी रिश्वत लेने का अभियोग भी लगाया है। यह अभियोग झूठा हो या सच्चा पर इतना अव-श्य है वारन हैस्टिङ्ग्ज़ का यह पूर्ण विश्वास था कि पूना

दरबार से राजनीतिक बातचीत में महादजी का उपयोग बहुत अच्छी तरह हो सकेगा और वह सहायता देगा और ऐसी समझ होना भ्रमपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्हींके प्रयत्न से सालबाई की सन्धि हुई थी। यह प्रत्यक्ष है कि सन् १७७१ से १७८३ अर्थात् १२ वर्ष तक हैस्टिङ्ग्ज़ ने देहली की ओर ध्यान ही नहीं दिया। १७७१ में जब कि अंग्रेज़ों के विश्वस्त मित्र नजीबखाँ की मृत्यु हो गई थी अङ्गरेज़ों ने तुरन्त ही मेजर ब्राउन और मेजर डेवी नामक अपने वकीलों को बादशाह से गुप्तरीति से मिलने को भेजा; परन्तु इस मुलाक़ात से कुछ लाभ नहीं हो सका। १७८४ में शाहआलम बादशाह का लड़का वारन् हैस्टिङ्ग्ज़ से मिला और अपने पिता को गादी पर बैठाने के लिये सहायता देने को कहा; परन्तु उन्होंने शाहज़ादे को उत्तर दिया कि ईस्ट इण्डिया-कम्पनी के डायरेक्टर और कलकत्ते के अन्य कौन्सिलर देहली के राजनैतिक झगड़ों में पड़ना नहीं चाहते इस लिये तुम फिर महादजी सिंधिया से मिलकर सहायता माँगो। परन्तु यह ठीक है कि हेस्टिङ्ग्ज़ ने यह उत्तर महादजी के वकील से गुप्त भेंट करने के बाद दिया था। उनको इस गुप्त भेंट में क्या बातचीत हुई, यह हमें विदित नहीं है।

जब महादजी की ओर अङ्गरेज़ों ने भी अंगुली दिखाई तब महादजी ने फिर एक बार बादशाह का पक्ष लिया। इसमें महाद जी का कोई अपराध नहीं था। तो भी अंग्रेज़ इतिहासकार महादजी को ही दुष्ट और कारस्थानी कहते हैं। इस बार महादजी ने पहले से एक बात ज़्यादह की और वह उनकी चतुरता को प्रगट करती है। वह बात यह थी कि महादजी ने बादशाह से पेशवा के लिए 'वकील-मुतलकी'

और अपने लिए 'मुख्तारुल्मुल्क' को पदवी ली और यह पदवी लेना ठीक भी था क्योंकि जिसके बल पर बादशाह, तख़्त पर बैठने वाले थे उसे वज़ीर की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकार मिलना ही चाहिए। और ऐसी हालत में तो अवश्य ही मिलना उचित है जब कि वज़ीरों ने ही बादशाह के विरुद्ध सिर उठा रक्खा हो। ऐसी दशा में वज़ीरों को कहने में रखने के लिए तलवार के साथ साथ अधिकारों की आवश्यकता भी बहुत होती है। अङ्गरेज़ों को सिन्धिया का इतना अधिकार प्राप्त करना सह्य नहीं था; परन्तु उस समय अङ्गरेज़ स्वयम् ही दिल्ली के राजकीय झगड़ों में पड़ने के लिए तैयार नहीं थे। फिर पीछे से अङ्गरेज़ इतिहासकारों का महादजी पर कोप प्रगट करना उचित नहीं है। महादजी को मिले हुए अधिकारों का वर्णन अङ्गरेज़ इतिहासकार मिल ने इन शब्दों में किया है:—

An authority which superceded that of the vazir and consolidated in the hands of the Maharattas all the legal sovereignty of India.

अर्थात् "मिले हुए अधिकारों के कारण महादजी सिन्धिया, स्वयम् दीवान पर भी हुकूमत करने लगे। और इस तरह मराठों के हाथों में भारतवर्ष के अधिराज्य की नियमानुकूल सत्ता पहुंच गई।"

हेस्टिङ्गज़ ने जब बादशाह को सिन्धिया से सहायता लेने के लिए कहा था तब हेस्टिङ्गज़ को आशा नहीं थी कि सिन्धिया इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लेंगे; परन्तु जब उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिये तब इसी कारण पर से मराठों से युद्ध करना हेस्टिङ्गज़ ने उचित नहीं समझा होगा।

अपनी सफ़ाई देते समय हेस्टिङ्ग्ज़ ने इस सम्बन्ध में यह कहा था कि "यह बात असत्य है कि हमारी और महादजी की गुप्त सलाह होजाने के बाद हमने बादशाह को सहायता देना अस्वीकार किया परन्तु जब हमने बादशाह को आश्रय देना अस्वीकार कर दिया तब सिंधिया के आश्रय देने और उसके बाद बादशाह से सर्वाधिकार प्राप्त करने पर हम मराठों से इसके लिए युद्ध नहीं कर सकते थे।" इसमें सच्ची बात तो यह है कि महादजी दिल्ली के राजकारणों को अपने हाथ में लेना चाहता था और अङ्गरेज़ इस काम को खर्चीला तथा न कर सकने के योग्य समझकर अपने ऊपर नहीं लेते थे। अतः महादजी ने इसे लिया और उसके लेने से बादशाह का कल्याण भी था। मिल के इतिहास पर टिप्पणी करते हुए विल्सन ने कहा है कि "बादशाह का स्वास्थ्य, सुख और मान-सन्मान देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि बादशाह का महादजी के आश्रय में जाना अच्छा ही था, क्योंकि दिल्ली के दरबार में वंशपरम्परागत वज़ीरों और उमरावों ने बादशाह को कष्ट ही दिये थे।"

अस्तु, सर्वाधिकार मिलने पर महादजी ने बादशाह की इच्छा के विरुद्ध अङ्गरेज़ों से बङ्गाल की चौथ माँगी। यदि इसमें बादशाह की इच्छा न होती तो भी वज़ीर से भी उच्च अधिकारी होने के कारण यह माँगने का अधिकार उन्हें था। महादजी की इस माँग से अङ्गरेज़ों को बहुत वैषम्य हुआ। और महादजी ने भी इस सम्बन्ध में स्नेहभाव से काम नहीं लिया। इधर अङ्गरेज़ों के समान दिल्ली के अमीर-उमरावों को भी बादशाह का महादजी को सर्वाधिकार देना असह्य हुआ; परन्तु सहन हो या न हो महादजी ने तो अधि-

कार प्राप्त कर ही लिये। शिवाजी के समय में चौथ के हक़ रूप से बादशाही नीति का जो वृक्ष विस्तृत हो गया था उस पर महादजी के अधिकार प्राप्त कर लेने से मौर लग गया। परन्तु दुर्दैव से दौलतराव सिंधिया के समान नादान व्यक्ति के सिन्धिया की गादी का उत्तराधिकारी बनने से, तथा उधर बाजीराव जैसे व्यक्ति को पेशवा की गादी मिलने से यह मौर झड़ गया और मौर के साथ साथ वृक्ष भी नष्ट हो गया। लेकिन यह बात दूसरी है। क्योंकि जगत् में यश-अपयश सबके हिस्से में समान रीति से बँटे हुए नहीं हैं। इस प्रकरण में हमने जो बादशाही नीति का वर्णन किया है उसमें हमें यही दिखाना था कि बादशाही सत्ता को नाम रूप से क़ायम रख वास्तविक सत्ता अपने हाथ में लेने की जो नीति शिवाजी ने प्रारम्भ की थी वह राजनीतिज्ञ पुरुषों के एकके बाद एकके उत्पन्न होने से मराठों ने किस तरह क़ायम रक्खी और उसकी वृद्धि की। हमें आशा है कि यह प्रकरण पूरा पढ़ने पर पाठकों को हमारी मीमांसा उचित प्रतीत होगी।

अन्त में, हमने जिस मुद्दे की चर्चा की है उस पर कुछ और प्रकाश डालना उचित समझ कुछ प्रमाणों को यहाँ उद्धृत कर इस लम्बे प्रकरण को पूरा करेंगे। यह उद्धृतांश, अन्त के दिनों में दिल्ली में रहनेवाले, मराठों के वकीलों के उन पत्रों के हैं जो उन्होंने नानाफड़नवीस को पूना भेजे थे। इसपर से इनका महत्त्व पाठकों को ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

दिल्ली में रहनेवाले मराठों के वकील गोविन्द राव पुरुषोत्तम, १७८३ में, सेप्टेम्बर मास की २६ वीं तारीख को उत्तर

भारत की परिस्थिति के सम्बन्ध में नानाफड़नवीस को लिखते हैं कि "इस समय हिन्दुस्थान (उत्तर भारत) ख़ाली पड़ा है। अफ़राशखाँ और नजबकुलीखां, ये दोनों सरदार नजबखाँ की ओर हैं। जो कोई सरदार सेना सहित यहां आवेगा उसे काम सिद्ध करने का अच्छा मौक़ा है। हिन्दुस्थान में तरलार की लड़ाई अब नहीं रही। इसलिए इधर सेना भेजना आवश्यक है। नहीं तो सिक्ख अथवा अङ्गरेज़ आकर दिल्ली पर अधिकार कर लेंगे। फिर बड़ी कठिनाई पड़ेगी। फिरङ्गियों की इच्छा है कि दिल्ली आकर बादशाह को अपने प्रेम से वश करलें और सर्वोपरि हो जावें। इसलिए शीघ्रता से यदि अपनी सेना दिल्ली आवेगी तब ही बादशाह और हिन्दुस्थान अपने क़ाबू में रहेगा यदि इसमें देरी हो ो तो फिर बात भारी पड़ेगी। अतः प्रार्थना की गई है।"

(१७८४) "आपने अपने पत्र में बादशाह के प्रयाग में रहने के समय और उसके पहले तथा उसके बाद अङ्गरेज़ों से और बादशाह से क्या क्या क़रार हुए हैं और किन किन प्रदेशों की सनदें किस किस प्रकार दी हैं तथा अन्तर्वेदी में कितनी आमदनी का राज्य दिया और उसकी सनद दी या नहीं आदि बातों का पता लगाने की आज्ञा दी है। अतः इस आज्ञा के अनुसार हमने बादशाही दफ़्तर में पता लगाया तो विदित हुआ कि जिस समय बादशाह प्रयाग में थे उस समय अङ्गरेज़, तोपों आदि के सिवा २६ लाख रुपये प्रति वर्ष देते थे और प्रयाग का सूबा तथा कुरा प्रान्त यह दोनों स्थान सुजाउद्दौला से छुड़ाकर बादशाह को दिलाये थे। उनसे बादशाह को प्रति वर्ष ३३ लाख की आमदनी होती

थी। बादशाह ने अङ्गरेज़ों को दो सनदें दी हैं। जिनमें से एक वर्द्धमान और इस्लाम नगर की कमावीसदारी की सनद है, और दूसरी सनद बङ्गाल तथा पटना के सूबे की दीवानगीरी की है। इनके सिवा अन्तर्वेद वगैरह कहीं की भी सनद बादशाह ने नहीं दी। बादशाही दफ़्र की फ़ारसी में लिखी हुई फेहरिस्त दफ़्र के पेशकारराय सिद्धराय से लेकर आपको सेवा में भेजी है, उसपर से सब ध्यान में आवेगा। यहाँ के दफ़्तर में इतना ही उल्लेख है कि बङ्गाल और पटना की दीवानगोरी की सनद अंग्रेज़ों को दी गई और अलीवर्दीखाँ के नाती मुबारक-जङ्गबहादुर के नाम सूबेदारी दी गई तथा वर्द्धवान और इसलाम नगर का प्रबन्ध कमावीसी के द्वारा करने को कहा गया है। इसके सिवाय जिस समय बादशाह उनके आश्रय में थे उस समय क्या लिखा पढ़ी हुई इसका पता नहीं चलता। कार्यालय में इससे विशेष उल्लेख नहीं है। इसके सिवा पठान महम्मदखान प्रभृति भी बादशाह को दिया करते थे। दफ़्तर में मिली हुई फ़ारसी फेहरिस्त भेजी है उसपर से आपको सब विदित होगा। अधिक क्या॥"

(१७८४) आस्टिन साहब बादशाहज़ादे को लेकर काशी गये तब यह समाचार विलायत पहुँचते ही कम्पनी ने उन्हें लिखा कि "अपने साथ बादशाह ज़ादे को ले जाने से तुम्हारा क्या प्रयोजन था ? दक्षिण के सरदारों से हमारी मैत्री हो गई है। ऐसी दशा में उनकी सम्मति के बिना उनसे सब-सुलूक कर तुम बादशाह-ज़ादे को ले गये सो यह अच्छा नहीं किया। इसलिए पत्र देखते बादशाहज़ादे को तुरन्त पाटिलबाबा के पास वापिस भेज दो। वे बादशाह से

प्रार्थना कर बादशाहज़ादे का अपराध क्षमा करवा देंगे और शाहज़ादे को बादशाह को सुपुर्द कर देंगे। तुम्हें लिखा गया था कि तुम इन झगड़ों में मत पड़ना।' कम्पनी की इस आज्ञा पर से आस्टिन साहब ने दो पल्टनों के साथ शाहज़ादे को श्रीयुक्त सदाशिवपन्त बख्शी और श्रीयुक्त पाटिलबाबा के पास भेजा है और वे लखनऊ आ गये हैं।

आस्टिन साहब की इच्छा हिन्दुस्तान में बादशाहज़ादे को लाने की है और राजश्री पाटिलबाबा और आस्टिन में खूब मेल है। इन्द्रसेन साहब और मेजर ब्राउन साहब इन्हींके पास हैं। इनके और सदाशिवपन्त बख्शी की उपस्थिति में मुलाकात होने पर क्या सलाह होती है यह देखना है"।

(१७८५) "इन दिनों मेजर ब्राउन के यहां दो बार ख़ास गये थे और उनके पास जो मौलवी वकील है उससे भी बहुत सलाह होती है; परन्तु उसका भेद मिला नहीं; क्योंकि कोई कुछ नहीं कहता।"

"बादशाह ने जब श्रीयुक्त पाटिलबाबा के विचारानुसार श्रीमन्त पन्त प्रधान साहब को "मुख्तारुल्मुल्क" की पदवी दी तब श्रीमन्त की ओर से १०१ मोहरें बादशाह को नज़र की गईं। श्रीमन्त की खिलत पूना को भेज दी गई। चन्द्र २१ (१ मई, १७८५) के दिन श्रीमन्त पन्त प्रधान स्वामी के मुख्तारी के यहाँ ले लिए गये हैं। बादशाह ने चारकुबा और नालखी दी है। चारकुबा एक अङ्गरखा होता है। इसमें बाहें नहीं होतीं। केवल कन्धे तक का आगा पीछा होता है। इसमें आगे और कंधे

पर मोती की झालर लगी रहती है। इसे चारकुबा खिलत कहते हैं। यह खिलत और "मुख्ताहलमुल्क" अर्थात् वकीले-मुत्लक का पद जिसे मिलजाता है उसके घर बादशाहज़ादे को भी अपने काम के लिए जाना पड़ता है। चिंता की कोई बात नहीं। ...... राज्यश्री पाटिलबाबा (महादजी सिंधिया) के पास सेना बहुत कम है और काम सारे हिन्दुस्थान भर का है। मुख्तार बादशाह का प्रतिनिधि होता है। वह वज़ीर और मीरबख़्शी तक की नियुक्त और बर्ख़ास्तिगी कर सकता है। ऐसी दशा में इनके पास जो सेना है वह इनके अधिकारों के अनुरूप नहीं है।"

(१७८६) पाटिलबाबा की कार्य-शीलता और हिन्दुस्थान की परिस्थिति के सम्बन्ध में गोविन्दराव पुरुषोत्तम दिल्ली से १७८६ में लिखता है कि "यहां की दशा देख कर कहना पड़ता है कि हिन्दुस्थान क्षत्रिय-शून्य हो गया है। सिक्खों में भी फूट है। कोई किसीके अधीन नहीं है। यदि दबाव पड़ता है तो ज़मींदारी करने लगते हैं,नहीं तो लूटपाट तो करते ही हैं यह सिक्खों की दशा है। वज़ीर की यह हालत है कि अङ्गरेज़ों पर ही उनका भरोसा है। उन्हें वर्तमान के अङ्गरेज़ों की दशा हीन दिखती है। आस्टिन साहब विलायत को गये। उसकी जगह बड़े साहब आये हैं। इन का प्रबन्ध आस्टिन के समान नहीं है और न ख़ज़ाने ही की पहले जैसी दशा है पहले जैसा अप्रबन्ध था उनसे बढ़कर आज है। बादशाह की हालत् देखी जाय तो वह तो एक लाख तीस हज़ार रुपये मासिक का नौकर है। इतना पैसा उसे बराबर मिलता रहे तो फिर उसे एक गांव और बीता भर ज़मीन की भी आवश्यकता नहीं है। यह

तो हिन्दुस्थान की दशा है। और ऐसे समय में हिन्दुस्थान के प्रबन्ध का सम्पूर्ण भार अकेले पाटिलबाबा पर ही है। जितना यह प्रबन्ध कर सकते थे किया और जो करने योग्य है वह करेंगे; परन्तु इनके आश्रय में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो उनकी सरदारी की आड़ में रहकर मुल्क का प्रबन्ध कर सके और आमदनी बढ़ाकर राज्य को सम्हाले। इसलिए सूचनार्थ स्वामी की सेवा में विन्ती की गई है। जो बातें प्रत्यक्ष में देखी गई हैं और जिनका अनुभव हो चुका है उन्हींके सम्बन्ध में यह पत्र लिखा जाता है।"

(१७६७) पाटिलबाबा, सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का सब कारभार चलाने के योग्य नहीं हैं; अतः किसी चतुर सरदार की नियुक्ति इस स्थान पर कराने की सूचना देते हुए गोविंदराव लिखता है "कि बादशाह की इच्छा है कि पेट के लिए केवल लाख डेढ़ लाख रुपये मासिक मिलते जायँ तो फिर हमें राज्य की और उसके कारभार की कोई आवश्यकता नहीं है। इनका ऐसा ही स्वभाव है। इनके पुत्रादि मिलाकर घर में सौ, डेढ़ सौ आदमी हैं; परन्तु उनमें भी कोई हिम्मत वाला और भाग्यवान् नहीं दिखता जो बादशाहत और राज्य की संभाल कर सके। श्रीमन्त राजश्री रावसाहब (पेशवा) प्रारब्धवान् और प्रतापवान् हैं। सुदैव से बादशाह की मुख्तारी आपको प्राप्त हुई है। इसलिए × × × हज़ार उत्तम, तयार सेना श्रीयुक्त त्र्यम्बकराव मामा अथवा बीसाजीपन्त विनीवाले के समान चतुर और कार्य-कुशल सरदार के साथ भेजी जाय और उत्तर भारत में जितने छोटे बड़े हैं उन्हें पेट से लगाकर प्रेमपूर्वक उनका यदि पालन किया जाय; तो जिस प्रकार सतारा का राज्य आपके हाथ में है

इसी प्रकार दिल्ली का राज्य भी आपके हाथ में आ जाय। इस राज्य के पीछे दो रोग हैं। एक अबदाली और दूसरा अङ्गरेज़। इनमें अबदाली तो दूर है और उसका यहाँ आना भी कठिन है। रहे अङ्गरेज़, सो वे भी अभी दिल्ली के काम-काज में मुख्तार नहीं बनना चाहते। विलायत को पत्र दिया गया है। उसका उत्तर आने पर फिर वे उसके अनुसार चलेंगे। परन्तु अङ्गरेज़ों का पाँव यदि दिल्ली में जमा तो फिर अपने हाथ से हिन्दुस्थान निकल जायगा। जब तक जो आपकी इच्छा हो उसके अनुसार प्रबन्ध करें। यदि यह राज्य और अधिकार अपने हाथ में रहा तो बङ्गाल आदि अङ्गरेज़ी राज्य पर भी अपनी मालक़ियत और हुकूमत रह सकेगी। इधर बहुत बड़ा राज्य है; परन्तु तीन वर्षों से दुष्काल पड़ने के कारण पाँच छः सेर के भाव से अन्न बिका है। अतः प्रजा बहुत मर गई और चारों ओर उजाड़ हो गया है। कुछ दिनों तक यदि उत्तम प्रबन्ध किया जाय तो करोड़ों रुपयों की आमदनी हो सकती है। धन की कमी नहीं है। अभी तो फ़ौज भी चाहिए और कुछ थोड़ा बहुत धन भी चाहिए। तब तो जो यहाँ रहेगा उसकी प्रतिष्ठा होगी, और बन्दोबस्त होने से अन्त में बादशाहत श्रीमन्त की हो जायगी। ऐसा समय फिर नहीं आवेगा।"

बादशाह की निर्बलता का वर्णन करते हुए ता० २१ अप्रैल सन् १७८८ को गोविन्दराव ने लिखा था कि "यहाँ यह हालत है कि जो बादशाह के पास रहता है, उसीके मन के अनुसार प्रबन्ध किया जाता है। बादशाह में खुदमुख्तार (आत्म-बल) नहीं है। उनकी नाक मोम की है। जो ज़बर-

दस्त पास आकर रहता है उसीके कहने के अनुसार बादशाह चलते हैं।”

१७८८ के जुलाई मास में दिल्ली की परिस्थिति तथा पाटिलबाबा के गुण-दोष के सम्बन्ध में गोविन्दराव ने लिखा था कि “बादशाह की इच्छा है कि यदि हरिपन्त तात्या के समान एक सरदार के अधिकार में पचीस हज़ार सेना यहाँ आकर रहे और राज्य का प्रबन्ध करे तो हम सुख से रोटी खा सकते हैं। पाटिलबाबा ने जिस प्रकार हिन्दुस्थान प्राप्त किया था उसी प्रकार थोड़े ही दिनों में उन्होंने अपने हाथ से निकाल भी दिया; परन्तु यदि अब भी जब तक क़िले आदि हैं तब तक अर्थात् दो तीन माह में आपकी सेना आ जायगी तो आपकी सरकार का अधिकार फिर हो जायगा। पर, सरदार दूसरा आये बिना बादशाह सन्तुष्ट नहीं होंगे। क्योंकि पाटिलबाबा का स्वभाव खुद पसन्द और खुशामद पसन्द है। उनके पास कोई वज़नदार आदमी काम करने वाला नहीं है। वे हर एक काम स्वतः करते हैं। उन्हें किसी का भी विश्वास नहीं है। छोटे दर्जे के मनुष्यों को मुँह लगा लिया है। उन लोगों ने लोभ के वश होकर सब काम बिगाड़ रक्खा है। बादशाह उनके कारण दिक़ हो गये हैं। इसमें से एक रत्ती भर बात भी यदि पाटिलबाबा के वकील या उनके प्रेमी मनुष्यों में से किसी को विदित हो जायगी तो वे हमारा प्राण ले लेंगे। क्योंकि वे अपने सिवा किसी दूसरे का हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में लिखना और कहना सहन नहीं कर सकते और ऐसा करनेवाले को मार डालने का उनका विचार रहता है।”

(१७६४) उस समय यह बात कितने ही दूरदर्शी व्यक्तियों के ध्यान में आगई थी कि पाटिलबाबा की सेना अन्य देशी सेना से कितनी ही बढ़ी-चढ़ी है तो भी डिबाइन सरीखे विदेशी मनुष्य पर अकारण विश्वास करने से अङ्गरेज़ों से प्रसङ्ग पड़ने पर उसका उपयोग कुछ न हो सकेगा। और यह बात पाटिलबाबा की मृत्यु के बाद तुरन्त ही सन् १७-९४ के सेप्टेम्बर मास में सत्य सिद्ध हुई। डिबाइन का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो गया। इसका वर्णन करते हुए गोविन्दराव लिखते हैं कि:—

"जब पाटिलबाबा ने डिबाइन के अधिकार में अपनी सेना दे दी तब शाहजी (?) ने दूरदर्शिता से विचार कर यह प्रगट कर दिया था कि डिबाइन का विश्वास न किया जाय। क्योंकि अन्य स्थानों पर तो यह नौकरी बजाने में नहीं चूकेगा; परन्तु अङ्गरेज़ों से काम पड़ने पर तुरन्त पीठ फेर कर खड़ा हो जायगा। तीन कैम्प (सेना की पलटनें) देने से सब राजे-रजवाड़े इसके पेट में घुसकर विद्रोह करने को खड़े हो जायँगे और फिर उन्हें सम्हालना कठिन होगा। इसका कुटुम्ब आदि सरञ्जाम, अङ्गरेज़ों के शामिल में है।... ...पाटिलबाबा का अकस्मात् देहान्त हो गया और आठ ही महीने में डिबाइन आदि सब लोगों की नियत बदल गई। डिबाइन ने जयपुरवाले, माचेड़ी के बख्तावरसिंह, भरत-पुर के रणजीतसिंह जाट तथा अङ्गरेज़ आदि से भीतर ही भीतर साज़िश कर सबको अपने वश कर लिया है और सरदारों में परस्पर झगड़ा पहले से ही हो गया है।" इस समय दिल्ली का स्वामित्व-हरण करने के लिए कौन कौन मुँह फाड़े बैठे हैं। इसका वर्णन स्वयम् बादशाह ने इस प्रकार

किया है कि "हम फकीर हैं। कहीं भी बैठकर अपना निर्वाह कर लेंगे। चिंता नहीं है। इस राज्य के लेने की इच्छा विलायतवाले अंग्रेज़, रुहेले आदि राजा-रजवाड़ों की है। इसलिए पातिलबाबा के पीछे आपस के झगड़े से राज्य बर्बाद कर देना अप्रतिष्ठा का कारण है।"

सन् १७०० के लगभग दिल्ली के राजकार्यों पर मराठों का बहुत प्रभाव पड़ा था। उस समय बादशाह निर्बल होजाने के कारण मराठे, अंग्रेज़ और नजीबख़ाँ ऐसे तीन की कैंची में फँसा हुआ था। इनमें मराठों के तो वह अनुकूल था और अङ्गरेज़ों से प्रतिकूल था। परन्तु असल में बादशाह था नजीबखाँ के अधीन और वह जिस तरह नचाता उस तरह उसे नाचना पड़ता था। मराठों या अङ्गरेज़ों के हाथ में बादशाह का जाना नजीबखाँ पर ही अवलम्बित था। इस महत्त्व के राज्य कार्य के सम्बन्ध के कुछ पत्र "राजवाड़े खण्ड १२" में प्रकाशित हुए हैं। वे बहुत ही मनोरञ्जक हैं। उदाहरण देखिए। एक पत्र में वकील पेशवा को लिखता है कि "स्वामी की आज्ञानुसार बादशाह को उत्तेजना देकर अङ्गरेज़ और बादशाह का सम्बन्ध तुड़ा दिया है। सेवक से बादशाह और नवाब नजीबखाँ ने शपथपूर्वक कहा है कि नाना ने जो लिखा है वही हमारे मन में है।" वज़ीर की फौज बादशाह के पास रहती थी। पेशवा का वकील पेशवा की सेना भी इसी तरह रखना चाहता था और अङ्गरेज़ भी फौज और पैसा देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में वकील ने लिखा है कि "हमने स्वामी के आज्ञानुसार बादशाह को अंग्रेज़ों का धन नहीं लेने दिया। दिल्ली और आगरा में आपका प्रबन्ध

होने से बादशाह को सुख होगा। बादशाह नजीबखाँ को नहीं चाहते। अतः सेवा में प्रार्थना है कि राजश्री हरिपन्त अथवा राजश्री महादजी सिन्धिया को दिल्ली में रक्खा जाय। वे दो लाख रुपये मासिक बादशाह को देते रहें और करोड़ों की आमदनी का स्थान हस्तगत करें। यदि अङ्गरेज़ों ने हस्तगत कर लिया तो फिर हिन्दुस्थान गया। फिर किसी का भी लाभ नहीं है। इसलिए कहता हूं कि इस समय अंगरेज़ों का पारिपत्य होकर आप की सवाई हो सकती है। आगे फिर यह नहीं हो सकेगा। ईश्वर ने जिसे बड़ा बनाया है उसे महत्त्व के और कीर्ति के योग्य कार्य करना उचित है। इस बात को यदि आप गई-गुज़री कर देंगे तो टोपी-वालों के हाथ में बादशाहत चली जावेगी। फिर पश्चात्ताप होगा और फल कुछ न निकलेगा।" पेशवा के मुत्सद्दियों के इस प्रकार के विचार थे। १७८० के अक्टोबर मास में अंगरेज़ों ने दिल्ली और आगरा में कोठी डालने के लिए जगह माँगी और बादशाह को दो लाख रुपये मासिक देने का प्रयत्न किया। इस विषय में वकील लिखता है कि पहले से ही अङ्गरेज़ कोठी के लिए जयपुर, देहली, आगरा आदि स्थानों पर जगह चाहते हैं। ग्वालियर उनके हाथ में चला ही गया है। यदि इन स्थानों पर भी अङ्गरेज़ों का शासन हो गया, तो समझना चाहिए कि परमेश्वर की इच्छा बलवान है।"

सन् १७८१ में पोरघाट का युद्ध हुआ। इसमें अङ्गरेज़ों का पराभव हुआ। जब ये समाचार दिल्ली पहुंचे तो पेशवा के वकील और नजीबखां ने पत्र का भाषान्तर फ़ारसी में करके बादशाह को समझाया। इस सम्बन्ध में वकील ने

लिखा था कि:-"पढ़कर बहुत सन्तोष हुआ और कहा कि ईश्वर की कृपा से श्रीमन्त की इसी प्रकार विजय होती रहे और अङ्गरेज़ों का पाँव बादशाहत से निकलकर बादशाहत बनी रहे, ऐसा आर्शीवाद प्रेमपूर्वक दिया और नजीबखां को आज्ञा दी कि तुम भी कुछ उद्योग करोगे या नहीं। अङ्गरेज़ों के पराभव करने की तजवीजें नवाब बहादुर कहते तो बहुत हैं, परन्तु वह सुदिन होगा जब उन्होंने आपको जो कुछ लिखा है या मुझसे लिखाया है वह सत्य ठहरेगा।"

सन् १७८० के अगस्त मास के एक पत्र में पेशवा का वकील नाना को लिखता है कि "बादशाह पेशवा के कारभारियों पर बहुत प्रसन्न हैं और उन्हें बारबार आशीर्वाद देते है। बादशाहके स्तुति-शब्द इस भांति है कि "आज आठ वर्ष हुए कि एक तो स्वयम् मालिक अज्ञान बालक है और दूसरा घर का एक घाती विद्रोह कर रहा है। अङ्गरेज़ों का पराभव करने के बाद भी वे लड़ने को उद्यत ही हैं। ऐसी दशा में ठहरे रहना यह दक्षिण के सरदारों ही का काम है। ईश्वर! राज्य में यदि सरदार और कारभारी हों तो ऐसे ही हों। अङ्गरेज़ों का सर्वनाश करने में ही सबकी प्रतिष्ठा है। नहीं तो जलचरों (अङ्गरेज़ों) के पृथ्वीपति हो जाने से पगड़ी की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। पगड़ी की इज्जत छोड़कर जब टोपी पहनोगे तब तुम्हारा प्रभाव जम सकेगा?" तो भी अङ्गरेज़ों से मन ही मन डरते सब थे। परन्तु दिल्ली के वकील के मतानुसार नवाब साहब जब तक "सिंधिया के द्वारा अङ्गरेज़ का पतन नहीं होता तब तक उनसे दुश्मनी करने से डरते हैं।" इसी महीने में वकील ने फिर नाना को

लिखा था कि नजीब खां केवल शर्म से अब तक नहीं मिला, नहीं तो वह पहले से ही अङ्गरेज़ों से मिल गया होता।

मराठों ने एकमात्र चौथ की सनद पर सारे भारतवर्ष में धूम मचा दी थी। इस सनद से उन्हें कर्नाटक, गुजरात, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, आगरा, दिल्ली बङ्गाल, रुहेलखण्ड आदि सब प्रांतों पर चढ़ाई करने का अधिकार मिल गया था। यह अधिकार उन्हें बादशाही नीति की दृष्टि से स्वराज्य की सनद से दिये हुए अधिकार से भी अधिक मूल्यवान प्रतीत होता था। इसीसे स्वराज्य की सनद के पहले इस सनद के अनुसार काम किया। श्रीयुक्त खरे शास्त्री ने एक स्थान पर कहा है कि "मराठों ने १७४१ में त्रिचनापल्ली ली और १७५२ में त्र्यम्बक का क़िला लिया। १७५८ में उनका लाहौर में शासन हुआ और १७५६ में अहमद नगर हाथ में आया। स्वराज्य की सनद उन्होंने बादशाह के पास से ली थी, उनका वह स्वराज्य दक्षिण में खान्देश-बागलाण, मध्य महाराष्ट्र और उत्तर कर्नाटक तक फैला हुआ था। इन्हें तुरन्त ही लेने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। परन्तु मौका मिलते ही स्वराज्य और उसके साथ परराज्य भी उन्होंने ले लिया।" मराठों का स्वराज्य प्रान्त पहले मुग़लोंने लिया। उसके बाद वह उनके नवाब के अधिकार में चला गया। तब उसे मुग़लों और नवाब से लेने के लिए मराठों को युद्ध करना पड़ा और उन्हें यश प्राप्त हुआ। ऐसी दशा में केवल स्वराज्य पर ही सन्तुष्ट होकर कैसे रह सकते थे? यद्यपि उन्हें स्वराज्य तो प्राप्त करना ही था; परन्तु परराज्य को न लेने की उन्होंने प्रतिज्ञा नहीं की थी। बहुत दिनों तक तो उन्हें स्वराज्य का थोड़ा भाग भी नहीं मिला

था; जैसे कि तञ्जावर। और ऐसे प्रान्तों में अर्थात् एक दृष्टि से स्वराज्य ही में, मराठों को चौथ वसूल कर उसी पर संतुष्ट रहने का अवसर था।

चौथ के सूबे के आधार पर मराठों ने सम्पूर्ण राज्यसत्ता प्राप्त करने की जो आकांक्षा की थी उसके उदाहरण भारत वर्ष के सब प्रांतों में मिलते हैं। दूसरे के घर के झगड़े में पड़ने की प्रवीणता मराठों में अङ्गरेज़ों ही के समान थी। कहीं तो उनका यह दाव सिद्ध हुआ और कहीं असफल। परन्तु रीति सब एक ही थी। मुग़लों से चौथ का अधिकार न मिलने पर भी मराठे अपने को जहाँ तहाँ चौथ का हक़दार बताते थे। इसका एक उदाहरण मैसूर राज्य का है। मैसूर में हिन्दुओं का राज्य था। उसे मुसलमानों ने जीता न था। इसलिए नियमानुकूल मुसलमानों की ओर से इस राज्य से चौथ वसूल करने का हक़ मराठों को नहीं था। फिर मैसूर में मुसलमानी राज्य हुआ। क्योंकि हिन्दू राज्य के एक नोकर मुसलमान ने बेइमानी कर राजा को पदच्युत किया और आप उस के पद पर बैठ गया। इस मुसलमान से दिल्ली के मुसलमानों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। ऐसी दशा में भी मराठों ने इस राज्य से चौथ मांगने में कमी नहीं की। कर्नाटक में चौथ वसूल करने का उन्हें हक़ था। इसके सिवाय उस प्रान्त में उनका स्वराज्य भी था। परन्तु मैसूर में खण्डनी लेने का कुछ अधिकार नहीं था। १७५७ में सदाशिवरावभाऊ एक बड़ी सेना के साथ कर्नाटक गया और श्रीरङ्गपट्टण को घेरकर मैसूर के राजा से बेशुमार खण्डनी मांगी। तब लाचार हो मैसूर के कारभारी और सेनापति नन्दराज ने राज्य के १४ महाल जो

कि मच्छी पैदावारोवाले थे मराठों को दिये । फिर हैदर के प्रबल होने पर नन्दराज ने उसकी सहायता से फिर मराठों से छीन लिये । इसके बाद नन्दराज और हैदर में मनमुटाव हो गया । तब मराठों ने अपना घोड़ा फिर आगे बढ़ाने का विचार किया । इस समय मैसूर के दरबार में जो पेशवा का का वकील था उसने पेशवा को एक पत्र लिखा था । यह पत्र १९१० के अप्रेल मास के इतिहास-संग्रह में प्रकाशित हुआ है । इस पत्र से मैसूर सम्बन्धी मराठों के कारस्थान का पता लगता है । वकील लिखता है कि "स्वामी ने आज्ञापत्र भेज कर लिखा था कि नन्दराज सर्वाधिकारी और हैदरनायक में मनमुटाव हो गया है सो इस समय उससे भीतरी पेटे मिलकर एक क़रारनामा लिखालो कि चौथाई और सरदेशमुखी का शासन उसे स्वीकार है । इस मुताबिक़ क़रारनामा अपनी मुहर के साथ लिख देने पर हम हैदरनायक का पारिपत्य कर नन्दराज को गादी दिलावेंगे । आज्ञानुसार आदमी भेजभाज कर उससे क़रारनामा लिखा लिया है और मुहर लगवाली है । वह हमारे पास रक्खा है । उसकी नकल और मुझ सेवक को दिया हुआ नन्दराज का पत्र इस प्रकार दो पत्र भेजे हैं । हैदर ने नन्दराज के यहां बातचीत चलाई थी कि एक लाख होन लेकर वह (नन्दराज) सुख से रहे । परन्तु सेवक ने यहां से उन्हें पत्र पर पत्र लिखे और धैर्य दिलाया तथा आप का अभय-पत्र दिखलाया । तब धीरज आया और उस ने हैदरनायक की बात स्वीकार नहीं की । किन्तु आप के प्रति श्रद्धा रख आपके कहे अनुसार क़रारनामा लिख दिया । अब इस बात को ध्यान में रख हैदरनायक के पारि-

प्त्य करने का भाग प्रयत्न करें। सारांश यह कि आज का सा समय फिर नहीं आवेगा। क्योंकि अभी तो थोड़े कष्ट से नन्दराज की स्थापना होकर चौथ सरदेशमुखी का अपना शासन जमता है, फिर आगे राज्य भी अपना हो जायगा। इसलिए इस समय आप कृपाकर पाँच हज़ार सेना तुरन्त भेजें।" इस पत्र पर से विदित होता है कि इस वकील के मन में यह बात अच्छी तरह समा गई थी कि चौथ रूपी पीपल के वृक्ष की जड़ एक बार जिस राज्य में जमी कि फिर वह बलवान होकर उस राज्य को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो जाती है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि "आज चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त करना और आगे राज्य ले लेना" ही मराठों की बादशाही नीति का महामंत्र था।

प्रकरण पाँचवाँ।

उपसंहार।

मराठों ने मुग़ल बादशाहत नष्ट तो की, पर सम्पूर्ण भारत पर राज्य चलाने की उनकी महत्वकांक्षा सिद्ध न हो सकी; प्रत्युत उन पर स्वतः का राज्य गवाँने की भी बारी आई, यह बड़े ही आश्चर्य का कारण है। मराठों के जिन कारणों से मराठाशाही नष्ट हुई उसका वर्णन हम पहले कर आये हैं; परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि केवल मराठों के दोषों के कारण ही अंगरेज़ों को सफलता मिल सकी; किन्तु उसमें अङ्गरेज़ों के निज के अनेक गुण भी कारणभूत थे। अंगरेज़ों का भारत में आने का मूल हेतु व्यापार था। जिस तरह बादशाही नौकरी करते करते मराठों ने राज्य सत्ता प्राप्त की उसी तरह अंगरेज़ों ने व्यापार करते करते राज्य प्राप्त किया। मूल में उनका उद्देश्य भले ही राज्य प्राप्त करना न रहा हो, परन्तु धीरे धीरे जब उन्हें व्यापार-वृद्धि के लिए राजकीय शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई तब उन्होंने राज्य प्राप्त करने का उद्योग प्रारम्भ किया। इस काम में परिस्थिति उनके बहुत प्रतिकूल थी। क्योंकि एक तो उनका मूल स्थान इंग्लैण्ड जहाँ से हज़ारों मील के समुद्र मार्ग-द्वारा हिन्दुस्तान में आना

पड़ता था, आज के समान शीघ्र गति से आने के उस समय यन्त्र भी नहीं थे, इसके सिवा रास्ते में अन्य यूरोपियन सामुद्रियों के द्वारा बाधा पहुंचने का भी भय था। इधर भारत में मुसलमान और मराठों के समान प्रबल सैनिक शत्रु थे और फिर उन्हें फ्रेञ्चों की सहायता थी। ऐसी स्थिति में भी ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के वृक्ष की जड़ यहाँ (बङ्गाल में) जमाई गई और कालान्तर में उसने भारत के राजा-महाराजाओं की सत्ता रूपी प्रचण्ड-भव्य इमारतें धड़ाधड़ ढाहाकर धराशायी कर दीं।

ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने पहलेपहल भारत में व्यापार करना शुरू किया। फिर केवल सौ वर्षों के भीतर ही राज्य स्थापित करने की उसकी आकांक्षा बढ़ने लगी। भारत की उस समय की परिस्थिति के अनुसार अङ्गरेज़ों को अपनी बखार आदि की रक्षा बिना स्वतंत्र सैनिक शक्ति के करना कठिन था और न वे व्यापार ही बढ़ा सकते थे। क्योंकि बिना सेना के मुग़लों के अधिकारियों से रक्षा नहीं की जा सकती थी। यह बात कम्पनी के यहां के अधिकारियों के ध्यान में अच्छी तरह जम चुकी थी। साथ ही वे यह भी जानते थे कि यदि सेना रक्खी जाय तो उसके लिए स्थायी आमदनी की आवश्यकता है। और जब कि भारत में चाहे जो आकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करता है तो फिर हम इस से वञ्चित क्यों रहें?

१६६० के एक खरीते में कम्पनी के अधिकारियों ने इस प्रकार लिखा था कि "हमें व्यापार के समान ही प्रजा से कर वसूली करने की ओर भी लक्ष्य देना चाहिए और बिना

राज्य-सत्ता स्थापित किये कर वसूल हो नहीं सकता। मानलो कि अपना व्यापार कल रुक गया। तो फिर? व्यापार रुक जाने पर भी भारत से जाना अच्छा नहीं है। इसलिए हमें मज़बूत नीव पर चिरकाल तक टिक सकने योग्य राज्य ही स्थापित करना आवश्यक है।" राज्य स्थापित करने के लिए सैनिक शक्ति की अधिक आवश्यकता है। बिना सैनिक शक्ति के एक बार व्यापार तो सम्हाला जा सकता है; पर राज्य प्राप्ति और उसकी रक्षा बिना सैनिक शक्ति के नहीं हो सकती। और यह शक्ति, मन में राज्य करने का निश्चय कर पचास पौन सौ वर्षों तक अङ्गरेज़ सम्पादित करते रहे। फ्रेञ्च और अङ्गरेज़ों में जो वैर था वह एक प्रकार से अङ्गरेज़ों की सैनिक शक्ति बढ़ाने में उत्तेजक हुआ। भारतवर्ष में अठारहवीं शताब्दि के पहले पौन सौ वर्षों में अङ्गरेज़ों ने फ्रेञ्चों से युद्ध करने में जो परिश्रम किया वह आगे जाकर भारतीय राजा-रजवाड़ों से कुश्ती लड़ने में उपयोगी हुआ। इस समय अङ्गरेज़ों ने केवल इस बात की बहुत सम्भाल रक्खी थी कि अपनी पूरी तैयारी होने के पहले भारतीय राजा महाराजाओं से युद्ध न हो जाय। सर अल्फ्रेड लायल कहते हैं कि "हम अङ्गरेज़ों के भाग्य अच्छे हैं जिससे हमारी तैयारी होने के पहले मराठों और हममें युद्ध नहीं हुआ। आगे जाकर जो युद्ध हुए उनमें अङ्गरेज़ों को पीछे हटने का अवसर कभी नहीं आया। मराठों से पहले छः सात वर्षों के युद्धों के अन्त में जो सन्धि हुई उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि उसमें अङ्गरेज़ों का लाभ ही अधिक हुआ। जिस प्रकार एक के उपद्रव के भय से दूसरा उसे चुप बैठा रखने के लिए कुछ देता है उसी प्रकार मराठों ने भी

किया था। इतना ही नहीं किन्तु १७५५ में अङ्गरेज़ों ने मराठों के ठीक मध्यान्ह काल में भी निर्भयता से चढ़ाई कर साष्टी द्वीप ले लिया और मराठे उसे वापिस न छीन सके। ऐसी दस पांच लड़ाइयाँ ही गिनाई जा सकेंगी जिन में अङ्गरेज़ों का बहुत भारी नाश अथवा पराभव हुआ हो और ऐसे उदाहरण तो दो एक ही मिल सकेंगे जिनमें अङ्गरेज़ों को बदनामी से भरी हुई सन्धियां करनी पड़ी हों। इतिहास के पाठकों को यह विदित ही है कि एक बार भारत के राजा-महाराजाओं से युद्ध प्रारम्भ कर देने पर अङ्गरेज़ों को एक पर एक लगानार विजय किस प्रकार मिलती गई और किस प्रकार वे राज्य प्राप्त करते गये ?

भारत में अङ्गरेज़ों के ले देकर सबसे बलिष्ठ प्रतिस्पर्द्धी मराठा थे। जब अठाहरवीं शताब्दि के अन्त में मराठों को भी अङ्गरेज़ों के आगे नीचा देखना पड़ा तो औरों की तो बात ही क्या ? अङ्गरेज़ी सत्ता की प्रखर ज्योति फूट निकलने पर उसमें भारतीय राजा-महाराजा कांच के समान पिघलने लगे। बङ्गाल, अवध, कर्नाटक आदि स्थानों के नवाब, जाट, राजपूत आदि उत्तर भारत के राज्य बहुत थोड़े परिश्रम से उनके आश्रय में जाने लगे। कितनों के ऊपर तो हाथयार उठाने की आवश्यकता ही नहीं हुई और वे स्वयम् ही स्नेह की याचना करते हुए अङ्गरेज़ों के आश्रय में आये। अङ्गरेज़ों को प्रायः तीन ने अर्थात् मराठे, हैदर और टीपू तथा सिक्खों ने बहुत त्रास दिया। किन्हीं किन्हीं बातों में तो मराठों की अपेक्षा हैदर और सिक्खों ने ही अधिक त्रास दिया था। नहीं तो बाकी के संथानिकों के साथ तो अंङ्गरेज़ों ने इसी प्रकार का खेल खेला

कि पकड़कर के नीचे पटक दिया और अपने तईं सिर झुकवाया। न झुकाने पर गर्दन तोड़ दी अर्थात राज्य नष्ट कर दिया। लार्ड डलहौसी के समय में जो अनेक राज्य दत्तक लेने की इजाज़त न मिलने के कारण ख़ालसा किये गये वे अङ्गरेज़ों ने कुछ जीते नहीं थे। मालूम होता है कि राज्य सत्ता स्थापित करने के लिए यह बात की गई थी; परन्तु इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि लार्ड डलहौसी के समय के पहले ही अङ्गरेज़ों के आगे भारतवर्ष ने 'निर्वीरमूर्वीतल' ऐसा स्वीकार कर लिया था। १८५७ में जो विद्रोह हुआ उसीसे अभी जो देशी राज्य हैं वे बचे रहे। नहीं तो आज जो देशी राज्यों के सुधार का प्रश्न उठ रहा है उसकी आवश्यकता ही नहीं होती।

अङ्गरेज़ों को बिना प्रतिबन्ध के जो यश मिलता गया उसमें उनका भाग्य तो कारण है ही, पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसके साथ साथ उनके कुछ विशेष गुण भी कारण हुए हैं। इतिहास की चर्चा ऐतिहासिक बुद्धि से ही करना उचित है। उसमें अभिमानादि अन्य बातों की मिलावट करना उचित नहीं। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी कई ऐसी बातें हैं जिनके कारण हम मराठाशाही के सम्बन्ध में अभिमान कर सकते हैं। उनका हम आगे वर्णन करेंगे ही, परन्तु अङ्गरेज़ों के चरित्र के सम्बन्ध में बोलने का अवसर उपस्थित होने पर भी हमें उनके चरित्र की परीक्षा पक्षपात रहित होकर ही करनी चाहिए। तब ही यह कहा जा सकेगा कि हमने शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि है।

अङ्गरेज़ों के सुदैव के तीन उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला उदाहरण यह है कि मराठा और अङ्गरेज़ों में जो प्रत्यक्ष

युद्ध पहलेपहल हुआ वह उससे बहुत पहले होना चाहिए था; पर न हो सका और महादजी सिन्धिया तथा नाना फड़नवीस को अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध में जैसा सन्देह हुआ वैसा शिवाजी को नहीं हुआ, नहीं तो वे अंगरेज़ों को बम्बई में नहीं टिकने देते। इसके सिवा अङ्गरेज़ों का मुख्य केन्द्र बङ्गाल में था जहां कि उस समय मराठों का हाथ पहुंचाना कठिन था। दूसरा उदाहरण यह है कि अंगरेज़ों और फ्रेञ्चों का युद्ध उस समय होकर समाप्त भी हो गया जिस समय कि भारत के नरेशों को अंगरेज़ों के राज्य लोभ का भान स्पष्ट रीति से नहीं हुआ था। तीसरा यह है कि उन्नीसवीं शताब्दि में भारत के वायव्य कोण में सिक्ख जैसे सैनिक लोगों का राष्ट्र उदय में आया और उन्होंने वायव्य की ओर के सीमा प्रान्त का द्वार वन्द कर दिया। इन तीनों में से यदि एक भी बात विरुद्ध हुई होती तो अङ्गरेज़ी राज्य के लिए भय ही था। परन्तु स्वयम् काल ही अङ्गरेज़ों का पक्षपाती हुआ और उसने उनकी बड़ी सहायता की। अस्तु सुदैव के साथ यदि गुणवान् की जोड़ मिले तो फिर पूछना ही क्या? और तभी सुदैव का भी वास्तविक उपयोग हो सकता है। नादान मनुष्य की सहायता दैव भी कहाँ तक करेगा? अङ्गरेज़ों में सुदैव के साथ साथ उत्तम गुण भी थे और तभी वे सफलता प्राप्त कर सके। उनके गुण इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं:—(१) नियमितता और व्यवस्था से प्रेम (२) धीरज, (३) एकनिष्ठता और साहस, (४) स्वराष्ट्र प्रेम और राष्ट्र की कीर्ति की इच्छा, (५) लोकोत्तर कर्तव्यनिष्ठा। इन गुणों के कारण ही प्रतिकूल परिस्थिति में भी वे इतना बड़ा साम्राज्य प्राप्त कर सके। यह बात नहीं है

कि उनमें लोभ, अन्याय की उपेक्षा, ढोंग, कपट-पटुत्व आदि मुख्य मुख्य दोष नहीं थे। उदाहरण के लिए देखिए कि मराठों पर जिन दूसरों का राज्य छीन लेने का आरोप किया जाता है उस आरोप से अङ्गरेज़ भी मुक्त नहीं हैं। उन्होंने १७६४ में रुहेलों पर और अफ़गानिस्तान पर जो चढ़ाइयाँ की थीं उनका समर्थन अंगरेज़ ग्रन्थकार भी नहीं करते। सर अलफ्रेड लायल कहते हैं कि :—

"It was an unprovoked aggression upon the Rohillas who sought no quarrel with us and with whom we had been on not unfriendly terms. Nor is Warren Hasting's policy on this matter easily justifiable upon even the elastic principle that enjoins the Governor of a distant dependency to prefer above all considerations the security of the territory entrusted to him."

इसी तरह रघुनाथ राव का पक्ष लेकर अङ्गरेज़ों ने जो मराठों से युद्ध किया उसे भी स्वयम् वारन हेस्टिङ्ग्ज़ने अन्यायपूर्ण बतलाया है। इसमें अन्तर इतना ही था कि रुहेलों पर अन्याय करने का कलङ्क कलकत्तेवालों पर था और यह कलङ्क बम्बईवालों ने किया। इस कृत्य का वर्णन करते हुए अलफ्रेड लायल ने बम्बईवाले अङ्गरेज़ों को "Anxious to distinguish themselves by the acquisition of territory" "अर्थात् राज्य लेने की कीर्ति के भूखे" बतलाया है। मराठों को भी अङ्गरेज़ यही विशेषण लगाते हैं। आगरा के युद्ध में हारने पर अपनी नैतिक कीर्ति नष्ट होने के भय से अङ्गरेज़ों ने युद्ध जारी

रक्खा और फिर कलकत्ते के अङ्गरेज़ों ने भी मराठों से युद्ध करने की मंजूरी अपने आप दी। उस समय कम्पनी में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो इस प्रकार के युद्ध के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इस व्यवहार से भारतवर्ष के सब राजा महाराजा मिलकर हमें निकाल देंगे और हमारा व्यापार भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार का भय प्रकट करने-वालों के कारण ही आज हमें, अङ्गरेज़ों ने भारत में जो काम किये हैं उनके सम्बन्ध में, निन्दात्मक और निषेधात्मक साहित्य देखने को मिलता है। धीरे धीरे विलायत के व्यक्तियों का यह भय भी दूर होने लगा। क्योंकि उस समय वे समझ गये थे कि हमारे राज्य लेने से भारत के राजा-महाराजा भी अप्रसन्न नहीं हैं, किन्तु काम पड़ने पर हमसे मिलकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और हमारी सेना भारत-वासियों की सेना से भी अच्छी है। ये बात जब उनके ध्यान में आई तब उन्होंने भी न्यायदृष्टि की उपेक्षा की। विलायत के न्यायप्रिय और स्वतन्त्रमतवादी पुरुषों ने भी मौन-धारण कर लिया, और कम्पनी के व्यापार तथा पूंजी के व्याज को धक्का न पहुँचते हुए, चाहे जो काम करो, ऐसी नीति स्थिर हो गई। हेस्टिङ्गज़ साहब पर जो मुक़द्दमा चला वह अन्तिम था अर्थात् उस मुक़दमे के बाद फिर किसी ने कम्पनी के अन्यायपूर्ण कामों का विरोध नहीं किया। इसका कारण हेस्टिंग्ज़ के निजी प्रतिस्पर्द्धियों की अधिकता थी। एक इसी कम्पनी को ही व्यापार करने का ठेका होने के कारण कम्पनी के भागीदारों की वृद्धि विलायतवासियों को नहीं सुहाती थी। आगे जाकर यह ठेका बन्द कर दिया गया और हर एक अङ्गरेज़ को भारत में जाकर व्यापार करने

की आज्ञा दी गई। अतः गृह-कलह भी नष्ट हो गई और इधर भारत में भारत के राजा-महाराजाओं का जो भय था वह भो नहीं रहा। इस प्रकार कम्पनी-सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों पर जो दुहरा दबाव था उसके न रहने से लार्ड वेलेस्ली और लार्ड डलहौसी जैसे गवर्नर-जनरलों ने आकर मनमाना शासन किया। किम्बहुना मराठों को भी दबाया उस समय अङ्गरेज़ों के विरुद्ध किसी ने चूँ तक नहीं की, यह कितना भारी आश्चर्य है!

यह कोई भी स्वीकार नहीं करेगा कि मराठों में अन्यायादि दोष नहीं थे। अतएव मराठा और अङ्गरेज़ों के समान धर्मों की तुलना करने से कुछ प्रयोजन नहीं है। उन्हें तो समान समझकर छोड़ देना ही उचित है। मराठा और अंग्रेज़ों में यदि विषमता थी तो उक्त गुणों में थी और मराठों की अपेक्षा वे गुण अङ्गरेज़ों में अधिक थे। इसीलिए अङ्गरेज़ अपने अन्य दोषों से भी जितना लाभ उठा सके उतना मराठे न उठा सके। अङ्गरेज़ों के उक्त गुणों में से एक दो गुणों का अनुभव तो उस समय के मराठों को भी हो गया था। बाजीराव द्वितीय के समय में अव्य-वस्था से स्वयम् मराठी राज्य के लोगों को भी घृणा हो गई थी और इसीलिए जब बाजीरावशाही नष्ट हुई तब किसी मराठे ने उसके लिए अङ्गरेज़ों के विरुद्ध हाथ नहीं उठाया। यदि लोग अप्रसन्न न होते तो क्या उन्होंने पेशवा का इतना बड़ा खानदानी राज्य, आँखों देखते, बात की बात में, नष्ट होने दिया होता? इससे विदित होता है कि बाजी-राव के जाने के बाद अङ्गरेज़ों के आने पर लोगों ने इसे राष्ट्रघातक राज्यक्रान्ति न समझ यही समझा होगा कि

अयोग्य और अन्यायपूर्ण कृत्य करनेवाले के पंजे से भले छूट गये। जगत के इतिहास में राजा के नष्ट होने पर राजा के प्रेम से नहीं, तो राष्ट्र-प्रेम और स्वाभिमान के वश, लड़कर राजधानी की रक्षा करने के उदाहरण कई मिलते हैं; परन्तु पूना के शनिवारवाड़े के ऊपर से पेशवा का झण्डा उतार कर अङ्गरेज़ों की ध्वजा चढ़ानेवाले मनुष्य को, देशाभिमान की दृष्टि से अब अधम या नीच कुछ भी कहो; पर उस समय के लोगों ने उसे अपना उपकारकर्त्ता ही समझा होगा, तभी अपनी छाती पर ऐसा कृत्य करने दिया। सुराज्य के उत्कृष्ट लाभों को भी हज़म करनेवाले स्वतन्त्र-नाश का परिणाम अब दिखने के कारण अङ्गरेज़ों के सम्बन्ध में हमारी कृतज्ञता-बुद्धि में सहजही कमी हो गई; परन्तु दन्तकथा और कागज़-पत्रों पर से यही विदित होता है कि आज मर्यादित स्वराज्य माँगने के समय हमारी अङ्गरेज के प्रति जितनी आदर बुद्धि है उसकी अपेक्षा सौ वर्ष पहले, हाथ के सम्पूर्ण स्वराज्य को खोने के समय महाराष्ट्रियों में अधिक आदर-बुद्धि थी। यद्यपि यह बात नहीं है कि अङ्गरेज़ों ने यदि बाजीराव का राज्य नहीं लिया होता तो स्वयम् पूना के लोगों ने अङ्गरेज़ों से राज्य लेने की प्रार्थना की होती; परन्तु यह बात सत्य है कि अङ्गरेज़ों के राज्य लेते समय मराठों ने युद्ध नहीं किया। सम्भाजी के बाद जब मुग़लों ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तब मराठों ने बीस वर्षों तक अपने जीवन को मिट्टी में मिलाकर स्वातन्त्र्य-रक्षा के अर्थ युद्ध किया; परन्तु उन्हीं मराठों की चौथी पाँचवी पीढ़ी आज के समान निःशस्त्र न होने पर भी अङ्गरेज़ों के राज्य लेते समय कुछ न बोली इसका कारण अवश्य

वही होना चाहिए जो हम ऊपर बतला चुके हैं। उस समय अङ्गरेज़ों से लड़ने के लिए १८५७ की अपेक्षा भी अधिक अनुकूल परिस्थिति थी। फिर भी वे अपने घर पर चुपचाप ही बैठे रहे। इसका प्रयोजन और क्या हो सकता है? यह बात नहीं है कि यदि वे युद्ध करते तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती ही; परन्तु स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए कोई राष्ट्र जब जीजान पर खेलकर लड़ने लगता है तब वह पहले सफलता असफलता का विचार नहीं करता। बोअर लोग अङ्गरेज़ों के विरुद्ध और बेलजियम के लोग जर्मनी के विरुद्ध लड़ने को जब तैयार हुए तब वे शत्रु को समान बली समझ कर या अपने को सफलता अवश्य मिलेगी इस भावना से तैयार नहीं हुए थे। प्रेसिडेन्ट क्रूगर ने कहा था कि "हम जगत् को चकित कर देंगे" इसका प्रयोजन यह नहीं था कि अङ्गरेज़ों का नाशकर जगत् को चकित करेंगे; किन्तु अपने स्वातन्त्र्य प्रेम-मूलक आत्म-यज्ञ से चकित करने का प्रयोजन था। परन्तु मराठे या तो स्वातन्त्र्य से घबड़ा गये होंगे या उन्हें अङ्गरेज़ों के आने से अधिक लाभ की आशा होगी, इस लिए उन्होंने कुछ हलचल नहीं की।

मराठाशाही निर्दोष हो या सदोष हो; परन्तु वे उसे अपने हाथ में रख न सके। आज की स्थिति भी उस समय की स्थिति की अपेक्षा सब तरह से अच्छी नहीं है। आज भी कई बातों में मराठाशाही का स्मरण होने और दुःख करने की जगह है। सबसे बड़ी बात तो सदोष स्वातन्त्र्य और सदोष पारतन्त्र्य ही की है। कौन कह सकता है कि इसमें पसन्द करने योग्य दोनों नहीं हैं? इसमें शङ्का ही नहीं कि मराठाशाही के सदोष होने पर भी मराठों का उस सम

जो तेज था वह तेज आज नहीं है। तेज अनेक अनुकूल बातों का परिणाम होता है। और ऐसी अनुकूल बातें मराठाशाही में थीं। मराठाशाही में जिन जिन बातों की कमी थी वह हम ऊपर दिखला चुके हैं; पर कई बातें ऐसी थीं जो आज नहीं हैं। उदाहरण के लिए आज की अपेक्षा उस समय महाराष्ट्र अधिक धनवान् था। स्वतन्त्रता, पौरुष, पराक्रम, प्रगट करने का अवसर था और राज्य-कार्य का अनुभव तथा भाग्य की परीक्षा करने के साधन और स्थान थे। और सबसे बड़ी बात राष्ट्रीय कीर्ति थी। मराठों को राजधानी पूना में होने के कारण सम्पूर्ण महाराष्ट्र की ओर से पूना में और महाराष्ट्र के सम्पूर्ण भारत में प्रबल होने के कारण भारतवर्ष की ओर से महाराष्ट्र में सम्पत्ति का प्रवाह बहता था। यद्यपि यह बात सत्य है कि उस समय के स्वातन्त्र्य के साथ साथ अस्वस्थता—बेचैनी-भी थी; परन्तु किन्हीं किन्हीं बातों में अस्वस्थता भी किसी अंश में मनुष्य को तेजस्वी बनाने में उपयोगी होती है। जिसका जन्म ठंडी जगह में हुआ हो वह छत्री के बिना घर के बाहर नहीं निकलता। आत्मसामर्थ और आत्म-विश्वास, वेद-संहिता के समान नित्य-पाठ करने से ही जागृत रह सकते हैं। जिसे दूसरे पर चढ़कर चलना सिखाया जाता है कालान्तर में उसके पाँव लूले हो जाते हैं। मराठाशाही में उस समय अस्वस्थता होने के कारण मराठे लोग सदा सावधान और अपने पाँवों पर खड़े रहते थे। जगत् में गुण की कीमत से अवसर की क़ीमत दश गुनी होती है। आज फ्रेंञ्च सिपाही को राष्ट्र वा व्यमु सेनापति होने की और अमेरिका को अपने राष्ट्र का

प्रेसिडेन्ट होने की जिस प्रकार महत्वाकांक्षा रहती है उसी प्रकार उस समय भी मराठों को पहले प्रति के सरदार और नीतिज्ञ शासक होने की महत्त्वाकांक्षा होती थी। राणोजी सिंधिया, एक ही पीढ़ी में जूते उठानेवाले हुजरे से पौन करोड़ के राज्य का स्वामी और पेशवा का ज़ामिनदार बन सका। जो मल्हाराव होलकर अपनी पूर्वावस्था में भेड़ें चराते और कम्बल बिनते थे वे ही स्वयम् मराठाशाही में साठ लाख के जागीदार और मालवा के सूबेदार बन सके। बालाजी विश्वनाथ चपरासी से वज़ीर बन सके। राज्य कारभार और सिपाहीगीरी की पात्रता की ऐसी ही बातें हैं। मराठाशाही के अन्त के सौ वर्षों के नामोल्लेख कर सकने योग्य कम से कम सौ वीर उत्पन्न हुए होंगे; परन्तु उसके नष्ट होने के इन सौ वर्षों में कितने वीर गिनाये जा सकते हैं? नाना फड़नवीस के चातुर्य्य की प्रशंसा अङ्गरेज़ स्वयम् करते हैं; परन्तु नाना ने प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के सिवा किसी शाला में जाकर चतुरता नहीं सीखी थी और न परमेश्वर ने पैदा करते समय उसे चतुराई का कलेवा ही साथ में दे दिया था।

काम पड़ने पर उसे करने की शक्ति मनुष्य में अपने आप उत्पन्न होती है। मराठाशाही के इतिहास में इसके उदाहरण स्थान स्थान पर दिखलाई पड़ते हैं। और न केवल पुरुषों ही के किन्तु स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं। शिवाजी की बाल्यावस्था का वृत्तान्त प्रसिद्ध ही है। पिता ने पुत्र को त्याग दिया था। सिवा माता के किसी का आश्रय नहीं था। उनका देश तीन मुसल्मानी राज्यों की कैंची में फंसा हुआ था और उनके विरुद्ध कार्य न करने का पिता का उद्देश्य था। ऐसी

दशा में भी बाल्यावस्था में शिवाजी ने प्रशंसा के योग्य कार्य किये और वे भी अपने पर आपड़ने के कारण नहीं, किन्तु स्वयम् स्फूर्ति से और उस समय के लोकमत के विरुद्ध किये। शिवाजी ने सात आठ वर्ष की अवस्था में बीजापुर दरबार में जो स्वाभिमान का काम किया वह कम नहीं था। उसे यदि दन्तकथा भी मानलें तो केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में शिवाजी का तोरणा नामक क़िला लेकर राज्य पद की आकांक्षा का झण्डा गाड़ना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता था। शिवाजी के समय में भी कृत्रिम शान्ति नहीं थी, अशान्ति ही थी। परन्तु वह तेजस्विता की पोषक थी। सम्भाजी दूसरे गुणों में कैसे ही हों; परन्तु वे तेजस्वी अवश्य थे। आठ वर्ष की अवस्था में बादशाह से मिली हुई पञ्च-हज़ारी मनसबदारी का काम शक्य नहीं था; परन्तु शिवाजी महाराज के साथ इतनी छोटी अवस्था में वे दिल्ली गये और वहां सङ्कटपूर्वक उन्होंने बड़ी ढीठता से काम किये। केवल २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ीं और लड़ाइयों पर जाकर "शूर योद्धा" की कीर्ति प्राप्त की। राजाराम पर तो सम्भाजी की अपेक्षा और भी कठिन प्रसङ्ग आया था। सम्भाजी के वध हो जाने के बाद मराठों ने जो प्रचण्ड युद्ध किए उनमें राजाराम स्वयम् नेता थे और रायगढ़ से जिंजी तक जाकर उन्होंने अपनी कर्तव्य-शीलता प्रकट की थी। पहले बाजीराव छोटी अवस्था से राजकीय उथल-पुथल के झगड़ों में पड़े थे। नाना साहब को केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में पेशवाई मिली और उन्होंने पहले दिन से ही कामकाज को देखा। नाना साहब के समान वैभवशालिनी कार्यकुशलता विरले ही स्थानों पर

देखने को मिलती है और यह भी केवल ४० वर्ष की अवस्था तक। इसके बाद तो वे संसार ही छोड़ गये थे। बड़े माधवराव के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? उन्होंने केवल ११ वर्ष की अवस्था में राज्य प्राप्त किया और २७ वर्ष की अवस्था में उनकी इहलीला समाप्त हो गई। इतनी छोटी अवस्था में इतनी कर्तव्यशक्ति, चतुरता, गम्भीर और प्रौढ़ बुद्धि क्वचित् ही दिखलाई पड़ती है। रघुनाथ राव ने केवल २५ वर्ष की अवस्था में दिल्ली लेकर अटक पर झण्डा उड़ाया था। नाना फड़नवीस ने छोटी अवस्था में ही फड़नवीसी-अर्थ-सचिव-का काम संभाला था। सदाशिव राव भाऊ २५ वर्ष से कम की अवस्था में ही मण्डल में प्रविष्ट हुए और ३० वर्ष की अवस्था में उदयगिरि के युद्ध में विजय प्राप्त की तथा इकतीसवें वर्ष में पानीपत का युद्ध किया जिसमें उन्होंने अपने शौर्य की पराकाष्ठा दिखा दी। विश्वासराव उत्तर हिन्दुस्थान पर चढ़ाई करने को १६ वर्ष की अवस्था में गये थे। दौलतराव सिन्धिया को पूर्ण तरुणावस्था में सिंधिया की गादी मिली और उनके भले-बुरे पराक्रम केवल बीसी ही में हुए। कर्तृत्व शक्ति का सम्बन्ध अवस्था से कुछ नहीं है। किम्बहुना जो कार्य छोटी अवस्था में किए जा सकते हैं वे बड़ी अवस्था में नहीं किये जा सकते। ऊपर बतलाए हुए पुरुष तलवार-बहादुरी, राज्य कार्य-कुशलता और राजनीति कला सीखने को किसी पाठशाला में नहीं गए थे। आधुनिक दृष्टि से देखा जाय तो उनकी शिक्षा काम चलाऊ ही थी; परन्तु किसी भी काम को करने की शिक्षा जिस तरह काम को प्रत्यक्ष करने से मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। आज भारत में ३० वर्ष से कम अवस्था के तरुण यूरोपियनों

को सिविलसर्विस की परीक्षा देते देख हम आश्चर्य करते हैं; परन्तु जिस समय बड़े बड़े काम करने का अवसर था उस समय मराठाशाही में छोटी अवस्था वालों ने ही बड़े बड़े काम किए थे। जहां अवसर ही नहीं वहां बाल पक जाने पर भी पल्ले में नालायकी ही पड़ती है।

एक दृष्टि से मराठाशाही को नष्ट हुए यद्यपि सौ वर्ष हो गये; परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि दूसरी दृष्टि से वह अभीतक जीवित भी है। क्योंकि ग्वालियर, इन्दौर, धार, देवास, कोल्हापुर, अक्कलकोट सावन्त वाड़ी, मुधोल आदि मराठों के राज्य और सांगली, जमखण्डी, मिरज, रामदुर्ग प्रभृति ब्राह्मणों के राज्य अभी भी मौजूद हैं और पेशवा के वंशजों की भी छोटी सी जागीर है। इनमें से बहुतों से अङ्गरेज़ सरकार के साथ स्वतन्त्र सन्धि हुई है। इसलिए ये अपने को क़ायदे की भाषा में अङ्गरेज़ सरकार के दोस्त कहते हैं। परन्तु 'दोस्त' शब्द नाममात्र के लिए है। प्रत्यक्ष रीति से देखने पर उन्हें स्वतन्त्र राजकीय सत्ता बहुत ही कम है। यद्यपि इनमें से कुछ नरेशों को अन्तर्व्यवस्था और न्यायादि करने का पूर्ण अधिकार है; परन्तु उनका बाह्य स्वातन्त्र्य इतना सङ्कुचित है कि उन्हें, परराष्ट्र की बात तो अलग, अपने आपस के राजाओं के साथ भी, बिना पोलिटिकल एजण्ट की सम्मति के स्वतन्त्र रीति से कोई भी राजकीय व्यवहार करने की आज्ञा नहीं है। वे अपने इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकते। पोलिटिकल अधिकारी उन्हें जो सलाह देता है उसे वे अस्वीकार नहीं कर सकते; और यदि कर देते हैं तो उन्हें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कष्ट उठाना पड़ता है। कहलाते तो वे अङ्गरेज़ सर-

कार के बराबरी के स्नेही हैं, परन्तु स्वतन्त्रता उन्हें ब्रिटिश प्रजा के समान भी नहीं है। अतः उनका होना न होना समान ही है। वास्तव में मराठों का स्वराज्य तो सौ वर्ष पहले ही मर चुका था।

मृत्यु के समान दूसरी हानि नहीं है। कम से कम स्वराज्य की मृत्यु के समान तो दूसरी है ही नहीं। यद्यपि यह तत्वज्ञान ठीक है कि गत वस्तु का शोक न किया जाय; परन्तु गत वस्तु की स्मृति कौन किस प्रकार नष्ट कर सकता है? सौ वर्ष का काल कुछ थोड़ा नहीं है। तो भी इतने काल में केवल चार पीढ़ियाँ ही हो सकती हैं और पेशवाई के स्मरण की बात तो दुर्दैव से चार पांच पीढ़ियों की भी नहीं है। क्योंकि स्वयम् बाजीराव बड़ी लम्बी आयु के थे। इसी तरह उनकी पुत्री बीयाबाई आपटे ने भी बड़ी आयु प्राप्त कर गत वर्ष ही (सन् १९१७) में सांसारिक लीला संवरण की है। इन बाई को हमने (मूल ग्रन्थकार ने) स्वयम् देखा है और उनसे बातचीत भी की है। भला जिसे स्वयम् पेशवा की औरस सन्तान से बातचीत करने का और उसके द्वारा पेशवा (बाज़ीराव दूसरे) के सम्बन्ध में—वह चाहे धुंधली स्मृति पर से ही क्यों न हो—प्रत्यक्ष अनुभव का वर्णन सुनने का अवसर मिला हो वह यदि पेशवाई को बहुत प्राचीन बात न समझे तो इसमें न तो कुछ आश्चर्य ही है और न उसका दोष ही।

केवल स्मरण से कोई भी घटना आंखों के सामने मूर्तिमन्त खड़ी की जा सकती है। अतः आंखों से नहीं देखी हुई वस्तु के स्वरूप की कल्पना लोग अपने मन मुताबिक कर सकते हैं। पेशवाई के किसी भी पुरस्कर्ता को

हमने और पाठकों ने नहीं देखा है और न उनके कोई चित्र हैं। परन्तु आँखें बन्दकर स्मरण करने से पेशवाई ही का क्या महाभारत और रामायण के पात्रों का हमें भिन्न भिन्न स्वरूप से दर्शन प्राप्त हो सकेगा। मन वास्तव में एक दिव्य चित्र-कार है और काल को भी जीत लेता है; परन्तु मन को कल्पना से निर्मित चित्रों के द्वारा किसी गत बात को प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना हो नहीं सकता। अतः काल यहाँ पर अपना पूरा बदला ले लेता है।

मनुष्य जो गत घटनाओं का स्मरण करता है वह उन्हें प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने ही के लिए नहीं करता। क्योंकि हम अपने वन्दनीय पूर्वजों का स्मरण करते हैं; परन्तु उन्हें फिर जिलाने की नियत से नहीं। यदि हमारे स्मरणरूपी अमृत के सिञ्चन से वे पुनर्जीवित हो सकें तो फिर उन्हें संसार में रहने को स्थान ही पूरा न हो और भविष्य की सन्तान के लिए भी रहने की चिन्ता का प्रश्न उपस्थित हो जाय। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि मृत मनुष्यों को हम स्मृति से फिर जीवित कर सके तो उनको दोष रहित जीवित करना ही हम चाहेंगे। दोषी व्यक्तियों को जिलाने से लाभ ही क्या? गत काल का स्म-रण करना कौतुकास्पद और अभिमानास्पद है। और गत काल के चुने, हुए उत्तम उत्तम व्यक्तियों को यदि हम जीवित कर सके तो हम उनकी भीड़ को सहन ही हम करेंगे; किन्तु यदि वे बदले के सिवा न मिल सकेंगी तो हम उनके बदले में अपने प्राण भी देने को तैयार हो जावेंगे और उनके बदले के स्थान खाली कर देंगे। लेकिन गत काल के होने के कारण क्या हम सदोष व्यक्तियों को भी जिलाना चाहेंगे? त्र्यम्बक

जी डेंगले, दूसरे बाजीराव, चन्द्रराव मोरे, सर्जेराव घाटगे आदि ऐतिहासिक हैं; पर क्या आज हम इन्हें स्वीकार कर सकते हैं? नहीं; क्योंकि जब वे अपने ही समय के पुरुषों को अप्रिय थे तो हमें प्रिय कैसे हो सकते हैं? केवल इतिहास-प्रसिद्ध होना ही वास्तविक कीर्ति नहीं है। जो व्यक्ति अपने निजी सद्गुणों के कारण नामाङ्कित और कीर्तिमान हो चुका है वह ही यदि फिर मिले तो हम प्राप्त करना चाहते हैं और जिसने अपने दुष्टाचरण से इतिहास को कलङ्कित किया और राष्ट्र की हानि की, उसका काल के उदर में हज़म हो जाना ही अच्छा है। उसकी दुस्मृति जो आज भी हमारे मन में शल्य के समान टोंचा मारती है उतनी ही बहुत है।

यह भी एक प्रश्न ही है कि स्वयम् काल हमारे लिए योग्य व्यक्तियों को जीवित छोड़ेगा या नहीं। जिस तरह एक आध व्यवहार-चतुर व्यापारी अच्छी और ख़राब चीज़ों का मिश्रण कर बेंचता है उसमें से छाँटने नहीं देता उसी तरह काल ने भी कुशलतापूर्वक प्रत्येक पीढ़ी में अच्छे और बुरे तरह के मनुष्यों को मिलाया है। अतः वह हमें अच्छे अच्छे व्यक्तियों को ही कैसे लेने देगा? यदि नानाफड़नवीस को चाहेंगे तो उनके साथ साथ बाजीराव दूसरे को भी लेना होगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो एक पीढ़ी तो सद्गुणी अच्छे मनुष्यों की और दूसरी सम्पूर्ण बुरे मनुष्यों की हो जायगी और इस तरह ईश्वर का लीला-वैचित्र्य सिद्ध नहीं हो सकेगा।

पूर्वजों के गत काल को हम दो दृष्टि बिन्दुओं से देखते हैं। एक तो अभिमान की दृष्टि से, दूसरे इतिहास और विवेक की दृष्टि से। अभिमान की दृष्टि में अच्छे बुरे का भेद नहीं

होता और कुछ सीमा तक गुण दोष भूलकर गतकाल का अभिमान करना स्वाभाविक और योग्य भी दिखता है। अभिमान की दृष्टि से स्वकीयों के इतिहास रूपी पर्वत की शिखर कर्तृत्वरूपी शुभ्र हिम से ढकी हुई और कीर्तिरूपी उज्जवल सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई दिखलाई पड़ती है। क्योंकि अभिमान दूर से और कौतुक बुद्धि से ही देखता है; परन्तु ऐतिहासिक बुद्धि पास जाकर शोधक बुद्धि से देखती है। अतः उसे स्वकीयों के इतिहास-पर्वत का खड़बड़ापन, ऊँचा नीचा भाग, उसकी भयङ्कर गुफाएँ और गड्ढे, उनमें के भयङ्कर जन्तु, विषैले वृक्ष, कटीली बेल आदि सब दिखता है और इनकी शोध करनी पड़ती है।

श्रीयुक्त राजवाड़े के समान मराठाशाही का अभिमान करनेवाला दूसरा मराठा शायद नहीं मिलेगा; परन्तु इन्होंने भी अपने तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में निम्नलिखित उद्गार प्रगट किये हैं:—

"१७९६ से १८१८ ई० तक बाजीराव के शासन-काल में, लड़ाई झगड़े, परस्पर द्वेष, देश-द्रोह, यादवी भ्रष्टाचार आदि सब कुछ हुआ और अन्त में भारतवर्ष से मराठों की सत्ता नष्ट होने का समय आ गया। दुष्ट, भ्रष्ट, डरपोंक, अविश्वासी और अकर्मण्य बाजीराव से यदि सब सरदारों का द्वेष हो गया था, तो उसे निकालकर वे अपनी संयुक्त सत्ता को बनाये रख सकते थे। सिन्धिया, होलकर, गायकवाड़ भोंसले, पटवर्धन प्रभृति सरदार संयुक्त सत्ता को रखने में समर्थ नहीं थे, यह बात भी नहीं है। वे समर्थ अवश्य थे। महाराष्ट्र में से शिलेदार, सुखी गृहस्थ, साधु, सन्त, भिक्षुक और शास्त्री भी कहीं भाग नहीं गये थे। अर्थात्

उस समय भी सब कुछ था; परन्तु यदि नहीं थे तो परस्पर विश्वास और देशाभिमान आदि राष्ट्रीय सत्ता के मुख्य अङ्ग; और इनके न होने से सब लोगों ने बाजीराव को ब्रह्मावर्त जाते हुए बड़ी खुशी से देखा। ब्रह्मेन्द्र स्वामी के पढ़ाये हुए चुगली करने, लड़ने, झगड़ने और विश्वासघात करने के पाठ को दो पीढ़ी तक न भूलने ही का यह परिणाम था। औरङ्गजेब के समय में जिस राष्ट्र के मनुष्यों ने स्वातन्त्र्य रक्षार्थ प्राणपण से चेष्टा की थी उसी राष्ट्र के लोग बाजीराव के समय में स्तब्ध और उदासीन होकर बैठ गये। रामदास और परशुराम के उपदेश के ये भिन्न परिणाम हुए। १७९५ में नाना फड़नवीस के जमाने में जो इमारत बड़ी मज़बूत दिखती थी उसके पश्चात् दस पांच वर्षों में उसका धराशायी हो जाना लोगों को आश्चर्य-चकित करता है। परन्तु इस राष्ट्र की राष्ट्रीय नीतिमत्ता, ब्रह्मेन्द्र स्वामी से लेकर दो तीन पीढ़ियों में गिरते गिरते बाजीराव के समय में पूर्णतया नष्ट हो गई। इस बात पर यदि ध्यान दिया जाय तो फिर आश्चर्य करने का कोई कारण ही न रहे। नाना फड़नवीस के समय में ही महादजी सिंधिया, तुकोजी होलकर, फतहसिंह गायकवाड़, भोंसले पटवर्धन आदि महाराष्ट्र साम्राज्य के सरदारों ने पर-राष्ट्रों से सन्धिकर अपनी संयुक्त सत्ता को आधा कर दिया था और नाना फड़नवीस सरीखे नीतिवान नीतिज्ञ के चले जाने पर यह अनीतिमत्ता अनियन्त्रित हो गई और इस तरह ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने जो वृक्ष लगाया था उसमें कडुआ फल लगा॥"

राजवाड़े महाशय के लिखने में ब्रह्मेन्द्र स्वामी ही मुख
हैं; परन्तु इसे यदि एक उपलक्षण भी मान लें तो
मराठाशाही के कट्टर अभिमानी को भी ऐतिहासिक दृष्टि
रखने पर मराठाशाही के सम्बन्ध में कितनी कठोरता
बोलना पड़ता है यह ऊपर के उद्धरण से विदित होगा।

हमलोग आज जो मराठाशाही का स्मरण कर रहे हैं व
जैसी की तैसी या सुधरी हुई मराठाशाही को पुनः प्रति
ष्ठित करने की इच्छा से नहीं करते। और इच्छा हो भी त
हमारी आज शक्ति नहीं है, यह हम अच्छी तरह समझते हैं
मराठाशाही रखने की शक्ति आज की अपेक्षा उस समय वे
लोगों में सौ गुनी अधिक थी और आज की हमारी परि
स्थिति इस कार्य की दृष्टि से उल्टी सौ गुनी कम है।

सन् १९११ में हम (मूल ग्रन्थकार) बम्बई गवर्नर के एव
कौन्सिलर - माननीय मि० मारिसन से कुछ कारणों
मिलने के लिये गये थे। उनसे और हमसे जो बातचीत हु
थी उसका यहाँ हमें स्मरण होता है उस समय वे कुछ क्रो
के आवेश में थे। वे बोलते बोलते उछलकर कहने लगे कि
"तुम्हारे समाचार पत्र को हाथ में लेते ही बिना पढ़े मेरी
ऐसी धारणा हो जाती है कि इसमें राजद्रोही लेख होना ह
चाहिए। तुम्हारे मन में क्या विचार घुलते हैं, यह
अच्छी तरह जानता हूं।" इसपर हमने कहा कि "आ
जब मन की बातें सब जानते हैं तो मेरे मन
क्या है उसे स्पष्ट ही कह दीजिए न जिसमें मैं उसक
स्पष्टीकरण कर सकूं।" साहब ने उत्तर दिया कि
"तुम्हारे मन में दो तरह के विचार हैं; एक तो तुम्हार
स्वतः का जो मराठी राज्य नष्ट हुआ है उस विषय में तुम्हे

ख होता है । दूसरे तुम अङ्गरेज़ों को बोरिया-सता बाँधकर भगा देना चाहते हो।" इस पर मैंने (मूल प्रकार ने) फिर उत्तर दिया कि आपने मुझ पर दो आरोप किये हैं। उनमें से पहला तो मैं स्वीकार करता हूं कि सौ वर्ष पहले इसी शहर में हमारा मराठी राज्य था इसका मुझे अभिमान है और उसके नष्ट होने से हमें हृदय से दुःख है। पेशवाई देखे हुए मनुष्यों से जिन्होंने बातचीत की है ऐसे मनुष्यों से जब कि हम आज प्रत्यक्ष में बातचीत करते हैं तब इतने नज़दीक की घटना को हम भूलना चाहें तो नहीं भूल सकते। उसका स्मरण कर खेद होना मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही है: परन्तु मुझपर जो आप दूसरा दोषारोपण करते हैं, वह सत्य नहीं है। क्योंकि पेशवाई के गुणों के साथ साथ दोष भी हम जानते हैं। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि हम पेशवाशाही को पुनः प्रस्थापित करना चाहते हैं तो इष्टानिष्ट, शक्यता, अशक्यता का विवेचन करने की बुद्धि मुझ में और मेरे मत के अन्य मनुष्यों में ईश्वर ने नहीं दी, यह आप कैसे मानते हैं ?"

अस्तु, मराठे अपने गत नाम के अभिमान को कभी नहीं भूलेंगे यह हमें आशा है। इसी तरह इतने मूर्ख भी नहीं बनेंगे कि नवीन परिस्थिति न पहिचानें। आज जो उनकी सम्पूर्ण भारत में प्रतिष्ठा है उसका उनके देशाभिमान के साथ साथ समयज्ञता भी एक कारण है। पहले जिस तरह मराठे दिल्ली तक दौड़कर जाते थे उसी तरह आज भी जाते हैं और उस समय का तथा आज का कारण भी वही राजकीय महत्वाकांक्षा है। परन्तु पहले की अपेक्षा आज एक दूसरे ही अर्थ से ये सारे भारत को अपना देश समझने

लगे हैं। इसी तरह देश के दूसरे भागों के निवासी भी पहले जो मराठों से द्वेष रखते थे अब नहीं रखते। प्रत्युत बन्धुत्व के नाते से व्यवहार करते हैं। कलकत्ते की सीमापर 'मराठा डिच' अर्थात् मराठा खाई नामक जो स्थान आज भी मौजूद है उसे बंगाली और मराठे दोनों नहीं भूले हैं और मराठों का नाम जो वहाँ (बंगालमें) अपकीर्ति का कारण हो गया था वह अपकीर्ति भी नष्ट हो गई है। पालने में सोये हुए अज्ञान बङ्गाली बालकों को डराने में जिस शब्द का उपयोग किया जाता था उस नाम का आज तरुण और प्रौढ़ बङ्गाली भी प्रेम और कौतुक से आदर करते हैं।

अभिमान का विषय जिस तरह बढ़ता है उसी तरह स्वयम् अभिमान भी बढ़ता है। इसीलिए मराठों को, 'मराठा' नाम की अपेक्षा 'हिन्दवासी' यह नाम अधिक प्रिय होने लगा है। स्काच लोग 'स्काच' नाम का उपयोग वर्ष में एक दिन अर्थात् सेन्ट एन्ड्रूज़ नामक साधु पुरुष की पुण्य-तिथि के दिन करते हैं और इसी नाम से जयघोष करते हैं। परन्तु शेष ३६४ दिनों में वे अपने को ब्रिटिश ही कहलाने में प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार मराठों में भी स्थित्यन्तर हो गया है और जब कि वे सारे भारतवर्ष को अपना देश मानने लगे हैं तब स्वतः को मराठे कहलाने की अपेक्षा "भारतीय" कहलाने में उन्हें अधिक अभिमान होना स्वाभाविक है। पूर्व काल में मराठों ने युद्ध में विजय प्राप्त की थी, आज वे शान्ति में विजय प्राप्त कर रहे हैं, और भविष्य की विजय किस प्रकार की होगी यह परमेश्वर ही जाने।

। समाप्त ।

शुद्धि-पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
उपोद्घात—			
१८	२५	बंधन	बंधन न
२०	१२	नाना साहब का	नाना साहब का सा
२३	२३	हुआ	हुई
३२	११	भी	की
३३	४	[illegible]	ने

---:o:---

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	१	फाकलु	कोंकण
७	७	दोनों का पहला राजा,	के पहले दोनों राजा
१७	२६	हुई	पर
२५	२५	उनके	वे
३८	१५	पाडु	पाउंड
७२	२२	जब	अब
८१	२२	को	का
१०२	१२	रघुनाथराव के	रघुनाथराव की
१२०	२२	फैंसी	फांसी
१५१	२०	पालना	पलना
१५४	१०	ने	को
१५६	६	प्रगट	और प्रगट
१६६	२१	ने	का
१६९	६	वे ही नदी में	वे भी थे
१७३	२	राज्य	राज्य के

पृष्ठ पंक्ति		अशुद्धि	शुद्धि
२२३	८ तथा १६	आश्रम	आश्रय
२६०	८	चढ़े	पड़े
२७०	३	नीन लाख	तीन लाख का
२७८	८	१७०३–१७०४	१८०३–१८०४
२७८	२२	१६०० में	१६०० से
२८१	१	में	के
”	”	करके	करने से
”	४	१६६७	१६८७
”	५	नहीं किया	कर लिया
”	६	वे	यद्यपि वे
”	”	और	और आगे चलकर
”	८	गया	जाता
”	१०	क्योंकि	क्योंकि औरंगज़ेब को
”	१२	और	और उसने
”	१३	उससे	०
”	१६	और रहने	और न रहने
२८२	१८	सन् १८०३	और सन् १८०३
२८३	६	अटकेपार	सीमा
२८६	७	ऐसा	नारायणराव के सिवा ऐसा
”	”	पुरुष अन्य हुआ है	अन्य पुरुष हुआ ही
२८७	१३	से	०
”	१५	ब्राह्मण	ब्राह्मणेतर
३२१	१५	क्या	क्यों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३४८	७	जिन्हें तो	तो जिन्हें
३४८	६	ईसपरीति	ईसपनीति
३४६	२०	अचगर्धत	अबाधित
"	२१	अमर्त्यंत	अमूर्त
३५०	२१	पेग्य	यात
३५१	२५	उम्बीका	उम्बीका राज्य
३५२	४	[illegible] हुनाथा	[illegible]
३६०	१३	[illegible]	धनवान
३६१	३	[illegible]या	न किया
३६२	२१	शाखों	शुखों
३६४	२६	क्यों	क्यों न
३६७	१६	आश्रम	आश्रय
३७७	१२	मरना	मारना
४०५	१३	जन	जब
४०८	१३	लिए	आपने लिए
४१०	१३	ग्रामर्थ्य	[illegible]
"	१४	गेंद	०
४१४	३	[illegible]	[illegible]
४१५	१५	१४०००)	१००००)
४१६	११	[illegible]	[illegible]
४१७	१ तथा ३	पापनो	[illegible]
४२३	१५	१०००)	१००)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४२६	६	होना	होन
४३२	१४	मडाँनी	साँडनी
४३६	१५	टाँके	टाँडे
४३७	१६	संभव	असंभव
४३६	१३	रचित शास्त्र	०
४४०	१२	को करने	को न करने
४४६	८	आश्रम	आश्रय
४४८	१२	सबों	सबों में
४५४	२३	दिल्लों	दिल्ली
४५५	२२	प्रतिपक्षी	प्रतिपक्षी के
४६४	५	मराठों	०
,,	२०	चौथकी	चौथ की
५१३	१५	मूल्य	मूल
५१४	२२	हम करेंगे	हम न करेंगे
५१८	२३	जिसमें	जिससे

सूचना—छपाई की शीघ्रता के कारण इनके सिवा और भी छोटी छोटी अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है, उनके लिए पाठक क्षमा करेंगे।

